(गोविन्द माधव)

सम्पूर्ण गीता ज्ञान

(संक्षिप्त)

(भगवद्गीता के सम्पूर्ण विषयों की व्याख्या की विशिष्ट पुस्तक)

(पुस्तक संख्या–24)

विनयावनत–

ब्रह्मशंकर शास्त्री

★प्रकाशक की ओर से★

श्रीमद्भगवद्गीता के गूढ़ एवं रहस्यप्रद ज्ञान को सरल से सरलतम भाषा में सम्पूर्णता से प्रस्तुत करना इस पुस्तक का उद्देश्य है। वैसे तो भगवद्गीता के समुद्रवत् विशाल ज्ञान को पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा पाना असंभव है, क्योंकि श्रीगीताजी के प्रत्येक श्लोक में ज्ञान का अथाह सागर भरा हुआ है। भगवद्गीता का ज्ञान जनसामान्य में तथा प्रत्येक शिक्षित महानुभाव तक पहुंच सके इस तथ्य को दृष्टिगत् रखकर श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री द्वारा सरल भाषा में भगवद्गीता के सम्पूर्ण ज्ञान को संक्षिप्त रूप में संकलित करने का प्रयास किया गया है। इस तथ्य को दृष्टिगत् रखा गया है, इस लघु पुस्तिका में श्रीगीताजी के समस्त विषयों का समावेश किया जावें तथा गूढ़ एवं रहस्यप्रद ज्ञान को सरलतापूर्वक समझाया जा सके, जिसे पढ़कर गीताज्ञान के प्रति उत्सुकता बनी रहे तथा उसे सम्पूर्णता से जानने की इच्छा बलवती हो जाऐ। अध्ययन में कमबद्धता लाने का प्रयास किया गया है, गूढ़ लगने वाले विषयों को सहजतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

इस लघु पुस्तिका के माध्यम से भगवद्गीता के ज्ञान का प्रचार प्रसार छात्रों अध्यापकों, प्रत्येक क्षेत्र के शिक्षित महानुभावों, राजनेताओं, न्यायविदों, प्रशासनिक अधिकारियों, चिंतकों, विचारकों में करने का प्रयास किया गया है। **कृष्णा चैरिटेबिल सोसाइटी** इस कार्य के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। श्रीभगवान की कृपा से गीताज्ञान के प्रचार प्रसार के उद्देश्य की पूर्ति अवश्य होगी तथा प्रत्येक मानव जाति, धर्म, सम्प्रदाय, मत से ऊपर उठकर श्रीगीता जी के जीवनोपयोगी ज्ञान को ग्रहण कर सकेगा। भगवद्गीता के विशिष्ट ज्ञान हेतु भगवद्गीता के 21 खण्डों के महाभाष्य का प्रकाशन भी चल रहा है। जो साधक महानुभाव श्रीगीताजी के ज्ञानरूपी समुद्र में पूर्णतया समाहित होना चाहते हैं उन्हें 21 खण्डों वाले वृहद् भाष्य का अध्ययन करना चाहिए। उक्त के अतिरिक्त 21 अन्य पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य भी चल रहा है। इन समग्र पुस्तकों की सूची इस लघु पुस्तिका के आरम्भ में ही संलग्न है। आशा है कि समस्त साधक महानुभाव भगवद्गीता के ज्ञान के प्रेमीजन इस लघु पुस्तिका से अवश्य लाभान्वित होंगे।

➢ **प्रकाशक**

➢ विन्रम अनुरोध

श्रीमद्भगवदगीता ज्ञान का अथाह सागर है, जिसमें एक बार डूबकर साधक उससे निकलने की इच्छा नहीं करता है। परमात्मा की साक्षात् वाणी होने के कारण इसके प्रत्येक पद में ज्ञान का प्रत्यक्ष आभास होता है। भगवद्गीता का पाठ, उसका हिन्दी अर्थ समझना, अर्थ पर चिंतन मनन करना तथा गहरे उतर कर उसकी विषय वस्तु पर मंथन करना यह चार क्रमिक स्थितियां हैं। निरन्तर पाठ से भगवद्गीता कंठाग्र हो जाती है और धीरे धीरे उसका अर्थ समझ में आने लगता है। अर्थ समझ में आने पर स्वाध्याय से जब चिंतन होता है तो श्रीगीताजी की विषय वस्तु से नये नये भाव प्रकट होने लगते हैं। यह नवीन भाव स्वतः ही प्रकट होते हैं। इस स्थिति में साधक गीताज्ञान में ही डूबना चाहता है। 18 अध्यायों और सात सौ श्लोकों के इस ग्रंथ रत्न में इतने मार्मिक और रहस्यप्रद भाव भरे हुए हैं जिनका अंत पाया जा पाना संभव नहीं है। अर्थात् अनन्त हैं। परमात्मा तो स्वयं ही अनन्त है इस कारण उसकी वाणी भी अनन्त है।

भगवद्गीता का अध्ययन यदि हम अपनी बुद्धि से करते हैं तो हमें सफलता मिलने की संभावना बहुत कम रहती है, क्योंकि गीताज्ञान की विषय वस्तु बुद्धि का विषय नहीं है, वरन् वह अनुभूति का विषय है। सैद्धान्तिक तथ्यों के साथ साथ प्रयोगात्मक तथ्य विशिष्ट है। पहले साधक को गीताज्ञान के सैद्धान्तिक तथ्यों को समझना पड़ता है और उसी के आधार पर व्यवहारिक प्रक्रिया का पालन करना पड़ता है। श्रीभगवान की शरण ग्रहण करने के पश्चात् यदि श्रीगीताजी की विषय वस्तु पर विचार करते हैं उसका चिंतन मनन और मंथन करते हैं तो श्रीगीताजी का सही सही अर्थ स्वतः ही प्रकट होता है, प्रतीत होता है। उसके अर्थ के भाव कहीं से विचारों में आ जाते हैं।

भगवद्गीता में जो भी वर्णित है उसको समझ लेने के पश्चात्, जान लेने के उपरान्त किसी भी ज्ञान की आवश्यकता शेष नहीं रहती, क्योंकि इसमें उपनिषदो, दार्शनिक ग्रंथों, स्मृतियों और पौराणिक ग्रंथों के सार को संग्रहीत कर दिया गया है। भगवद्गीता परमात्मा की साक्षात् वाणी है। इस तथ्य की पुष्टि उसमें वर्णित तथ्यों के आधार वर स्वतः हो जाती है। इस कारण अपने समय के सिद्ध, मनीषी और प्रकाण्ड विद्वानों ने श्रीगीताजी के ज्ञान के सम्बंध में बहुत चिंतन किया, तथा उस पर टीकाएं और भाष्यों का प्रणयन किया। आज हमारे समक्ष जितनी टीकाऐं और भाष्य श्रीगीताजी के उपलब्ध हैं उतने अन्य किसी मौलिक ग्रंथ के नहीं हैं, फिर भी अनेकों टीकाओं और भाष्यों के उपलब्ध होने के पश्चात् भी श्रीगीताजी के ज्ञान को जनसामान्य तक पहुंचाया जा पाना संभव नहीं हो

सका। इसका एक कारण विषय की गूढता एवं रहस्यप्रदता भी रही है। प्रकाण्ड पंडितों, पूज्य आचार्यो तथा मनीषियों द्वारा श्रीगीता ज्ञान के बारे में जो कुछ भी लिखा गया वह सामान्य लोगों से ऊंचे स्तर का था। इसलिए इसका प्रचार प्रसार जन सामान्य में नही हो सका। आज का सभ्य समाज, उच्च शिक्षित वर्ग भी गीता नाम की पुस्तक से परिचित है तथा उसके ज्ञान के बारे में अपरिचित ही हैं। श्रीगीताजी में क्या वर्णित किया गया है, इस तथ्य से अति शिक्षित वर्ग भी अपिरिचित है। यह अत्यंत खेद का विषय है जबकि गीता ज्ञान का समाज में प्रचार प्रसार हो जावे तो अनेक प्रकार की समस्याऐं स्वतः ही हल हो जायेंगी। समस्याऐं अज्ञानता के कारण उत्पन्न होती हैं, पनपती हैं और समाज को ग्रसित कर लेती हैं, परन्तु जब गीता ज्ञान का हम आश्रय लेते हैं, तो अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याऐं स्वतः ही हल हो जाती हैं।

श्रीगीताजी के अमूल्य ज्ञान को समाज में प्रचारित प्रसारित किया जावे इस उद्देश्य को दृष्टिगत् रखकर इस पुस्तक की रचना का प्रयास हआ है। भगवद्गीताजी के जो भी विषय हैं उनको संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करके जन सामान्य को श्रीगीताजी के ज्ञान से परिचित कराया जाए तथा मानव मात्र को यह बताया जाए कि गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट है और वह काल, जाति, मत, से परे है। मानव जीवन के परम लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसका अवलम्बन किया जाना बहुत सरल है। इस कार्य में हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ भी संलग्न है, क्योंकि श्रीभगवान ने श्रीगीताजी के अंत में यह कहा कि जो मनुष्य इस ज्ञान का प्रचार प्रसार हमारे भक्तों में करेगा वह हमें सबसे अधिक प्रिय होगा। श्रीभगवान के इस कथन के आधार पर ही इस पुस्तक की रचना हुई है। इस प्रकार इस रचना से दोहरा लाभ प्राप्त हुआ। एक तो मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझ कर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा और दूसरे हमें श्रीभगवान की प्रियता की प्राप्ति सहजता से हो जाएगी। ऐसा कौन सा मनुष्य है जो श्रीभगवान का परम प्रिय नहीं बनना चाहेगा। इसी आकांक्षा को अंतःकरण में रखकर इस पुस्तिका को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसमें सम्पूर्ण गीताजी के ज्ञान को समाहित करने का प्रयास हुआ है, फिर भी कतिपय कारणों से इसमें कुछ त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। अतः सभी विज्ञजनों से यह प्रार्थना है कि वे इस पुस्तिका में जो त्रुटिपूर्ण तथ्य प्रस्तुत हुये हैं उसे प्रकाशक को सहजता से परिचित करायेंगे ताकि अग्रिम संस्करण में उसका सुधार किया जा सके। यह गीताज्ञान की लघु पुस्तिका भगवान श्रीगोविन्द के चरणों में सादर समर्पित है, क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा से इस पुस्तक का निर्माण संभव हो सका है।

(1) गीता–एक परिचय

आज विश्व में जितने भी धर्म ग्रंथ हैं उनमें श्रीमद्भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। इस तथ्य को अनेक दार्शनिकों, मनीषियों, संत पुरूषों ने स्वीकार किया है। यह ग्रंथ रत्न विशिष्ट है। उत्कृष्ट है। इसकी विशिष्टता एवं उत्कृष्टता क्यों है ? यह अत्यंत विचारणीय प्रश्न है। किसी भी पुस्तक के रचनाकार से उस पुस्तक की स्थिति तथा विशेषता का आंकलन किया जाता है। शिक्षित पाठक पुस्तक पढ़ने से पहले उसके रचनाकार के सम्बंध में अवश्य जानना चाहते हैं। जैसे भगवान वेद व्यास, दार्शनिक ग्रंथों के रचयिता, आद्य शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, गोस्वामी तुलसीदास, महर्षि अरविन्द, भगवान बुद्ध आदि आदि अनेकों प्रकांड विद्वानों एवं मनीषियों के साहित्य बड़े आदरभाव से आज के समाज पढ़े जाते हैं। महर्षि वेद व्यास, कणाद, जैमिनी, वात्सायन, चरक, कपिल, पतंजलि आदि की रचनाएं उत्कृष्ट कोटि की हैं। इनकी रचनाओं को सभी आध्यात्मिक साधक बड़े ही आदर भाव से पढ़ते हैं। उपर्युक्त रचनाकारों को भारतीय अध्यात्मिक दर्शन के लेखकों के रूप में मान्यता प्राप्त है।

विश्व में, पाश्चात्य जगत में भी कई विशिष्ट लेखक और कवि हुए हैं, जिन्होंने विशिष्ट ग्रंथ लिखे हैं। जैसे सर एडविन अर्नाल्ड, अलेक्जेण्डर ड्यूमार, टामसमूर (कवि), सरजेम्सवेरी, रूसो (कवि), सरगिलवर्ट पार्कर, फ्रांसिस, बेकन (दार्शनिक), राइडर होगार्ड आदि आदि इनकी रचनाएं इनके नाम से पढ़ी जाती है। यह विश्व प्रसिद्ध लेखक और कवि हैं। विश्व का अति आदरणीय धर्मग्रंथ पवित्र कुरआन को भी इस्लाम धर्म के मानने वाले महानुभावों द्वारा आदर से पढ़ा जाता है। यह मान्यता है कि हजरत मोहम्मद साहब पर कुरआन रमजान के महीने में नाजिल (अवतरित) हुआ था। जब पवित्र कुरआन अवतरित हुआ उस समय ईसवी सन् के अनुसार अगस्त 610 का समय था। पवित्र कुरान 114 भागों (सूरह–अध्यायों) में विभक्त है तथा एक साथ अवतरित नहीं हुआ, वरन् धीरे–धीरे अवतरित हुआ। हजरत मोहम्मद साहब पढ़े लिखे नहीं थे इस कारण पवित्र कुरआन का अवतरण जैसे जैसे होता रहा वैसे वैसे आप इस संदेश को लोगों तक पहुंचाते रहे। (कुरआन–96:1–5) इसी प्रकार हजरत ईसामसीह पर इंजील नामक ग्रंथ ईश्वरीय ग्रंथ के रूप में अवतरित हुआ। इसाई धर्म के अनुयायी इसे ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं क्योंकि इंजील में ऐसा उल्लेख है। (तौरात नाम पुस्तक जो आदेशों एवं नियमों के संग्रह के रूप में समझी जाती है। हजरत मूसा पर अवतरित हुई थी इसे भी ईश्वरीय पुस्तक की मान्यता प्राप्त है)

पवित्र कुरआन में हजरत मोहम्मद साहब को परमात्मा का संदेशवाहक (पैगम्बर) तथा इंजील में हजरत ईसामसीह को परमात्मा का पुत्र कहा गया है। हम सभी को जैसा

पुस्तकों में वर्णित किया गया है वैसा ही मानना चाहिए। इस प्रकार पवित्र कुरआन तथा पवित्र इंजील मानव रचित पुस्तकें नहीं हैं वे परमात्मा का संदेश है जो पैगम्बरों पर अवतरित हुई है। अवतरण का अभिप्राय है कि परमात्मा ने जो संदेश देवदूतों के माध्यम से प्रेषित किया वह पैगम्बरों के द्वारा ग्रहण करके समस्त मानव जाति के कल्याण हेतु धर्म ग्रंथों में परिवर्तित हो गया। बौद्ध धर्म की पुस्तकें पाली भाषा में है, जिसमें त्रिपिटक, धम्म पदं बहुत महत्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म में तीक्ष्णव्रतों तथा दोषों की निवृत्ति पर बहुत जोर दिया गया है, क्योंकि मनुष्य में दोषों के कारण ही पतन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

विश्व में जो भी अध्यात्मिक ग्रंथ है तथा अन्य अध्यात्मिक पुस्तकें है उनके रचनाकारों की स्थिति का भी उसमें उल्लेख हुआ है। अर्थात् ग्रंथों के रचनाकारों के बारे में पुस्तकों में वर्णित किया गया है। उस वर्णन से हम उनकी स्थिति का आंकलन कर लेते हैं। रचनाकार वर्तमान में तो उपस्थित नहीं है, इस कारण जैसा वर्णन अथवा उल्लेख हमें प्राप्त होता है वैसा ही मानना पड़ता है। रचनाकारों के संदर्भ में प्राचीन ग्रंथों में जो उल्लेख मिलता है वैसा ही हम रचनाकारों के बारे में मानने को बाध्य हैं क्योंकि हमारे समक्ष अन्य कोई विकल्प भी उपलब्ध नहीं है तथा उस तथ्य की पुष्टि और अपुष्टि के लिए भी हमारे पास कोई साधन नही है, क्योंकि हजारों वर्षो पूर्व जो घटनाऐं हुईं उनकी पुष्टि इतिहास के आधार पर होती है। हम अपनी बुद्धि से उन घटनाओं की पुष्टि नहीं कर सकते हैं।

भगवद्गीता के बारे में हमें जो उल्लेख प्राप्त होता है, वैसा ही हम उसे मानने हेतु बाध्य हैं। आज से लगभग 51 सौ वर्षो पूर्व महाभारत के युद्ध में अर्जुन को अपने सगे सम्बंधियों व बन्धु बांधवों को युद्ध क्षेत्र में देखकर उसे युद्ध से विरत होने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने यह कहा कि हम अपने बंधु बांधवों को मार कर त्रिलोकी का राज्य भी लेने की इच्छा नहीं करता। अर्जुन को जो विषाद उत्पन्न हुआ उसके समापन हेतु भगवान श्रीकृष्ण ने कुरूक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने जब उपदेश आरम्भ किया तब अर्जुन ने बीच बीच में अनेक प्रश्न कर दिऐ, जिसके निवारण हेतु श्रीभगवान ने अनेक तथ्यों का उल्लेख किया तथा अपनी स्थिति भी स्पष्ट की। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का संग्रह श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में हमारे समक्ष आज उपस्थित है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान का जो उपदेश दिया था वह महर्षि वेदव्यास ने अपनी दिव्य दृष्टि से संकलित कर लिया था और जिसे महर्षि वेदव्यास ने अपने प्रसिद्ध महाभारत महाकाव्य के भीष्म पर्व के अंतर्गत वर्णित किया। महाभारत के रचनाकार महर्षि वेदव्यास वैदिक धर्म के आधारभूत विद्वान हैं। वैदिक साहित्य के निर्माण में और संकलन में बहुत योगदान दिया, इस कारण महर्षि वेदव्यास का परिचय प्रसंगवश इस स्थान पर वर्णित

करना आवश्यक है। ऐसा मानना चाहिए कि विगत पांच हजार वर्षो में महर्षि वेदव्यास के समान कोई विद्वान नहीं हुआ और ऐसी मान्यता है कि वे अभी जीवित हैं।

(2) महर्षि वेद व्यास – एक परिचय

महर्षि वेदव्यास अपने समय के प्रकाण्ड ऋषि पाराशर मुनि के पुत्र के थे तथा इनकी माता का नाम सत्यवती था। महर्षि वेदव्यास के सम्बंध में विभिन्न ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे। शुकदेवजी महराज इन्हीं महर्षि वेदव्यास के पुत्र थे, जो अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। यह महाभारत काल में उत्पन्न हुए थे। ऐसी मान्यता हमें पौराणिक ग्रंथों से प्राप्त होती है कि वे अभी जीवित हैं। महर्षि वेदव्यास ने पांच प्रमुख कार्य किये।

(एक) वेदों का संकलन :–

महर्षि वेदव्यास ने वैदिक सनातन धर्म के मूलभूत अपौरूषेय, स्वतः प्रमाण ग्रंथों, पवित्र वेदों को विषयानुसार चार भागों में विभक्त किया। यह चार संहिताऐं 1–ऋग्वेद 2– सामवेद 3–यजुर्वेद 4– अथर्ववेद के रूप में हमारे सामने उपलब्ध हैं। पवित्र वेदों को चार भागों में विभक्त करके उन्हें अपने चार शिष्यों महर्षि पैल,महर्षि जैमिनी, महर्षि वैशम्पायन, महर्षि सुमन्तु को उनका ज्ञान कराया। इस प्रकार आज वेदों की जो चार संहितायें उपलब्ध हैं, उनको संकलित करने और विषयानुसार चार भागों में विभाजित करने का श्रेय महर्षि वेदव्यास को जाता है। इस प्रकार महर्षि वेद व्यास ने हमारे वैदिक सनातन धर्म के मूलभूत ग्रंथों को मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत करने का विशिष्ट कार्य किया। पवित्र वेदों में तीन विषयों का उल्लेख होता है। यह विषय कर्म, उपासना, ज्ञान से सम्बंधित है। पवित्र वेदों के कुल मंत्रों की संख्या एक लाख है, जिसमें अस्सी हजार मंत्र कर्मकाण्ड के हैं, 16 हजार मंत्र उपासना काण्ड के हैं और चार हजार मंत्र ज्ञानकाण्ड के हैं ज्ञानकाण्ड के मंत्रों को पराविद्या के रूप में हमें समझना चाहिए। पवित्र वेदों को ईश्वरीय वाणी माना जाता है। इनका उद्भव सृष्टि के साथ ही हुआ था तथा पौराणिक ग्रंथों में इनकी उत्पत्ति का आधार भगवान ब्रह्मा के चार मुख हैं।

एक अन्य मान्यता के अनुसार हमारे प्राचीन वैदिक ऋषियों ने समाधि की अवस्था में परमात्मा के द्वारा प्रेषित संदेशों का (मंत्रों का) साक्षात्कार किया था। इस प्रकार वेदों का प्रकाट्य हुआ। चूंकि वेदों के प्राकट्य का विषय सृष्टि के आदि का विषय है, इस कारण जैसा हमें उल्लेख प्राप्त होता है, वैसी ही हमारी मान्यता दृढ़ होती है। पवित्र वेदों पर

अनेक पूज्यपाद मनीषियों ने भाष्य किये हैं तथा अपनी मान्यता के अनुसार वैदिक मंत्रों के अर्थो को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः वेद हमारे वैदिक सनातन ज्ञान के आधारभूत पवित्र और आदरणीय ग्रंथ हैं, इसलिए वे स्वतः प्रमाण हैं और उन्हें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानकाण्ड के रूप में उपलब्ध उपनिषदों के द्वारा हमें परमात्मा के स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव तथा उसकी अनुभूति की प्रक्रिया का ज्ञान होता है और प्रकृति माया तथा जीव के सम्बंध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। इसलिए उपनिषद हमारे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं तथा इन्हें वेदों का अंतिम भाग होने के कारण वेदान्त कहा जाता है। यह पराविद्या के प्राचीनतम् ग्रंथ हैं, जिनकी प्रमुख संख्या 11 है।

(दो) महाभारत महाकाव्य की रचना :—

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत नामक ग्रंथ की रचना की है, जिसे मनीषी लोग पांचवां वेद मानते हैं। इस ग्रंथ में भी एक लाख श्लोक हैं। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत महाकाव्य की रचना करने का जब विचार किया तो इतने विशाल ग्रंथ के लेखन के लिए कोई भी मनुष्य उपलब्ध नहीं हुआ। तब उन्होंने भगवान श्रीगणेश से इस ग्रंथ के लेखन का दायित्व निभाने की प्रार्थना की। भगवान श्रीगणेश ने यह कहा कि मैं निरन्तर लेखन का कार्य करूंगा परन्तु यदि आप बोलना बंद कर देंगे तो मैं लिखना भी समाप्त कर दूंगा। इस पर महर्षि वेदव्यास ने यह कहा कि मैं जो कुछ बोलूॅ उसका अर्थ निकाल कर ही आप लेखन कार्य कीजिएगा। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास बोलते जाते थे भगवान श्रीगणेश लिखते जाते थे। महर्षि वेदव्यास अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे, इसलिए वे बीच बीच कुछ कूट श्लोक बोल देते थे जिनका अर्थ निकालने में भगवान श्रीगणेश को समय लगता था और इसी मध्य महर्षि वेदव्यास नये श्लोकों की रचना कर लेते थे। इसी क्रम से यह सम्पूर्ण महाभारत महाकाव्य लिखा गया। ऐसी मान्यता है कि महाभारत महाकाव्य में संसार के समस्त विषयों का समावेश कर दिया गया। मनुष्य की बुद्धि में जो कुछ भी विषय हैं वे समग्रता से महाभारत महाकाव्य के ही अंश हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि से महाभारत महाकाव्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं विचार कर सकता और न ही कुछ वर्णन और लेखन कर सकता है। महाभारत महाकाव्य 18 पर्वो (अध्यायों) में विभक्त महाग्रंथ है और विश्व का विशालतम महाकाव्य है। संस्कृत भाषा में लिखा गया यह ग्रंथ अति विशिष्ट है। महर्षि वेद व्यास की इस रचना को भी अत्यंत उत्कृष्ट मानना चाहिए जिसमें हजारों विषयों का समावेश कर दिया गया है। महाभारत महाकाव्य के अध्ययन से मनुष्य को अनेक अज्ञात विषयों की जानकारी स्वतः हो जाती है, इसलिए सभी के लिए यथेष्ट है कि वे महाभारत महाकाव्य का अध्ययन करें।

(तीन) श्रीमद्भगवद्गीता का संकलन :–

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुरूक्षेत्र के मैदान में गीताज्ञान का जो उपदेश दिया उसका संकलन महर्षि वेदव्यास ने किया। ऐसी मान्यता है कि महर्षि वेदव्यास को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी उस दिव्य दृष्टि को उन्होंने धृतराष्ट्र के मंत्री संजय को प्रदान भी किया था जिससे संजय ने महाभारत युद्ध का सम्पूर्ण वृतान्त राजमहल में एक स्थान पर बैठकर सुनाया था। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास स्वयं दिव्य दृष्टि प्राप्त महर्षि थे और वह अन्य किसी को भी दिव्य दृष्टि प्रदान करने में सक्षम थे। महर्षि वेदव्यास ने ही श्रीमद्भगवद् गीता का संकलन किया था। ऐसा माना जाता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने श्री गीता जी के ज्ञान के कुछ अंश को गद्य के रूप में प्रस्तुत किया था जिसका पद्य में परिवर्तन महर्षि वेद व्यास ने किया। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास भगवद्गीता के संकलनकर्ता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

(चार) ब्रह्मसूत्र के रचनाकार :–

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन में 6 ग्रंथों को मान्यता प्राप्त है। भारतीय अध्यात्मिक दर्शन के 6 ग्रंथ विश्व के विशिष्ट ग्रंथ हैं तथा वेदों के उपांग माने जाते हैं। इन 6 दार्शनिक ग्रंथों में 1– ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) 2– सांख्यदर्शन 3– योगदर्शन 4–मीमांसा दर्शन 5– न्यायदर्शन तथा 6– वैशेषिकदर्शन। इन दार्शनिक ग्रंथों के रचनाकार क्रमशः महर्षि वेदव्यास व महर्षि कपिल, महर्षि पतंजलि, महर्षि जैमिनी, महर्षि गौतम तथा महर्षि कणाद हैं। इन 6 दार्शनिक ग्रंथों में महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र को श्रेष्ठता प्राप्त है। ब्रह्मसूत्र को पूर्व मीमांसा भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र भारतीय अध्यात्मिक दर्शन का विशिष्ट ग्रंथ है जो अनेक विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जाता है।

ब्रह्मसूत्र पर हमारे पांच आचार्यो में पृथक्–पृथक् भाष्य लिखकर अपने मतों की स्थापना की है। प्रत्येक आचार्य ने अपने मत को ब्रह्मसूत्र के द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास किया है, इसलिए ब्रह्मसूत्र बहुत ही विशिष्ट ग्रंथ है। ब्रह्मसूत्र पर जिन आचार्यो ने भाष्य लिखे हैं उन्हें 1– आद्यशंकराचार्य 2– श्री रामानुजाचार्य 3–श्रीमध्वाचार्य 4–श्रीवल्लभाचार्य 5–श्रीनिम्बार्काचार्य। उक्त आचार्यो ने क्रमशः 1–अद्वैत 2–विशिष्टाद्वैत 3–द्वैत 4–शुद्धाद्वैत 5–द्वैत अद्वैत सिद्धान्तों की रचना की तथा पांच पृथक्–पृथक् भाष्यों का प्रणयन किया। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास के द्वारा रचित ग्रंथ ब्रह्मसूत्र बहुत ही विशिष्ट ग्रंथ है।

(पांच) पौराणिक ग्रंथों की रचना :—

ऐसी मान्यता है कि महर्षि वेदव्यास ने पौराणिक ग्रंथों की रचना की। यह भी माना जाता है कि पौराणिक ग्रंथो की रचना उनके शिष्यों ने की थी। इस सम्बंध में कुछ भी निश्चित रूप से कहा जा पाना संभव नहीं है। वस्तुतः यह पौराणिक ग्रंथ बहुत ही विशिष्ट ग्रंथ हैं, इसलिए हमारे धर्म का आधार है। रचना चाहें महर्षि वेदव्यास द्वारा की गई हो अथवा उनके शिष्यों के द्वारा की गई हों, यह रचनाऐं अत्यंत उत्कृष्ट कोटि की हैं। जिनका लेखन सामान्य पुरूष के द्वारा किया जा पाना असंभव है। इन 18 पौराणिक ग्रंथों की कुल श्लोक संख्या चार लाख है। इन ग्रंथों के नाम क्रमशः है। 1—ब्रह्मपुराण 2—श्रीविष्णुपुराण 3— श्री शिवपुराण 4—नारदपुराण 5—मार्कण्डेयपुराण 6—अग्नि पुराण 7—भविष्य पुराण 8—ब्रह्मवैवर्तपुराण 9—लिंगपुराण 10—वराहपुराण 11—स्कंद पुराण 12—वामन पुराण 13—कूर्म पुराण 14—मत्स्य पुराण 15—गरूण पुराण 16— ब्रह्माण्ड पुराण 17 श्रीमद्भागवत पुराण 18—पद्मपुराण। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास ने अनेक ग्रंथों की रचना की तथा मानव जाति महर्षि वेदव्यास की ऋणी है।

(3) भगवान श्रीकृष्ण—एक परिचय

भगवान श्रीकृष्ण के परिचय की आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण विश्व एवं मानव जाति उनसे परिचित ही है। यहां पर प्रसंगवश भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा जो उपदेश गीता के रूप में प्रस्तुत किया गया था, उस उद्देश्य में उन्होंने अपना परिचय भी प्रस्तुत किया है। जैसे कोई लेखक अपने पुस्तक में अपना परिचय भी प्रस्तुत करता है तथा वह पुस्तक में ही अपने सम्बंध में कुछ कहता है अथवा उसने पुस्तक में जो कुछ भी लिखा है, जिस किसी विषय को वर्णित किया है वह विषय ही स्वयं लेखक की स्थिति को सुस्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीगीता जी में अपने सम्बंध में जो कुछ भी कहा है उसका वर्णन किया जाना यहां पर समीचीन होगा, क्योंकि यह पुस्तक श्रीगीताजी के ज्ञान के लिए ही है, जो भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा उपदेशित है। उपदेश पुस्तक के रूप में संकलित हो गया, इसलिए भगवद्गीता के रचनाकार के रूप में भगवान श्रीकृष्ण को हमें जानना चाहिए और जो कुछ भी श्रीगीताजी में उन्होंने अपने बारे में कहा उससे उनकी स्थिति स्पष्ट होती है। श्रीगीताजी में भगवान श्रीकृष्ण ने जो भी अपने बारे में कहा उससे हटकर श्री भगवान के बारे में कुछ भी कहा जाना भ्रामक ही होगा। कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान और स्थिति के बारे में अगर सत्य सत्य तथ्य का निरूपण करे तो हमें उसकी स्थिति को समझना चाहिए। यहां पर दो तथ्य हैं, एक सैद्धान्तिक है और दूसरा प्रयोगात्मक है। जैसे कोई मनुष्य अपने

बारे में यह कहे कि हमें अमुक विद्या का ज्ञान है तो उसका परीक्षण ज्ञान के आधार पर ही होगा। यदि कोई व्यक्ति वैज्ञानिक है तो जिस क्षेत्र का वैज्ञानिक है उस क्षेत्र का उसे ज्ञान होना चाहिए और वह ज्ञान सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक दोनों प्रकार का होना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण के बारे में जो लोग अनेक प्रकार के भ्रामक सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं तथा उनके बारे में अवांछनीय तथ्य प्रकट करते हैं उन्हें समग्रता से श्रीगीताजी के ज्ञान का गहनता से अध्ययन करना चाहिए और उनकी स्थिति को स्पष्ट समझना चाहिए, क्योंकि श्री भगवान ने अपनी स्थिति को श्रीगीताजी के ज्ञान में अत्यंत स्पष्टरूपेण वर्णित किया है, जिसे पढ़कर किसी भी प्रकार के संशय की आवश्यकता अवशेष नहीं बचती। इसके अतिरिक्त श्रीगीताजी के ज्ञान का सम्यक् अवलम्बन करके गीताज्ञान के व्यवहारिक पक्ष को भी हम जान सकते हैं। श्रीगीताजी में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने बारे में क्या कहा इस तथ्य को संक्षेपता यहां वर्णित किया जा रहा है। साधकजन यदि अपने मन में श्री भगवान के प्रति कोई संशय, त्रुटि आदि रखते हों तो उन्हे अपने संशय का निवारण करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने जो कुछ भी अपने बारे में कहा उस भाव का गीताज्ञान के आधार पर अवलोकन कीजिए तथा उनकी स्थिति को स्पष्ट रूप से समझिऐ।

(एक) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा –मेरे लिए तीनों लोकों में कोई भी कर्तव्य कर्म नहीं है और कोई भी वस्तु मेरे लिए अप्राप्त नहीं है। अर्थात् मुझे सब कुछ प्राप्त है। फिर भी मैं कर्तव्य कर्मो का आचरण करता हूँ। यदि मैं सावधानी पूर्वक कर्तव्य कर्मो का व्यवहार न करूं तो समस्त लोकों में कर्महीनता उत्पन्न हो जाए जिससे मैं अपनी प्रजा का विनाश करने वाला होऊं। **(गीता/3/22–23)**

(दो) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–इस अविनाशी योग को मैने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य को कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को सुनाया और उन्होंने अपने पुत्र इच्छवाकु से कहा इस प्रकार यह योग परम्परा से राज ऋषियों की संज्ञानता में आया। **(गीता/4/1–2)**

(तीन) अर्जुन ने कहा –आप तो अभी उत्पन्न हुए हैं और सूर्य की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में हुई थी इस कारण इस योग को सूर्य से कहा था मैं यह तथ्य कैसे समझूॅ ? **(गीता/4/4)**

(चार) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे आज तक बहुत जन्म हो चुके हैं। मैं उन सभी जन्मों को जानने वाला हूँ और तुम उन जन्मों को नहीं जानते हो,

क्योंकि मैं समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ तथा अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट हो जाता हूँ। **(गीता/4/5–6)**

(पांच) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – जब जब धर्म का पतन हो जाता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब साधु पुरूषों की रक्षा के लिए और दुष्कर्मी मनुष्यों के विनाश के लिए मैं युग–युग में प्रकट होता हूँ। **(गीता/4/7–8)**

(छः) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मेरे जन्म और कर्म दोनों की अलौकिक हैं। जो मेरे जन्म और कर्मो की अलौकिकता को जान जाता है वह मुक्त हो जाता है तथा पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है। **(गीता/4/9)**

(सात) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – जो भक्त मुझको समस्त लोकों का ईश्वर, समस्त प्रकार के यज्ञों का भोक्ता, समस्त प्राणियों का सुहृद जान लेता है वह परम्शान्ति को प्राप्त हो जाता है। **(गीता/5/29)**

(आठ) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – समस्त योगियों में जो श्रद्धा से युक्त मनुष्य मेरे को श्रद्धाभाव से भजता है वह मेरे मतानुसार सबसे श्रेष्ठ योगी है। **(गीता/6/47)**

(नौ) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – हजारों मनुष्यो में से कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और हजारों प्रयत्न करने वाले मनुष्यों में कोई एक ही मुझे जान पाता है। **(गीता/7/3)**

(दस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार यह मेरी आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है तथा दूसरी जीव स्वरूप में परा प्रकृति है, जिससे यह समस्त जगत धारण किया जाता है। समस्त जीवों की उत्पत्ति इन दोनों प्रकृतियों से ही होती है। **(गीता/7/4–5)**

(ग्यारह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – इस समग्र ब्रह्मांड में मेरे अलावा अन्य कुछ भी नहीं है। मैं इस ब्रह्मांड में उसी प्रकार पिरोया हुआ हूँ, जैसे माला के धागे में मणियां पिरोई होती हैं। **(गीता/7/7)**

(बारह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मैं जल में रस हूँ चन्द्रमा ओर सूर्य में उनकी प्रभा हूँ। समस्त वेदों में प्रणव हूँ। आकाश में शब्द हूँ। पुरूषों में पुरूषार्थ हूँ। पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ। अग्नि में तेज हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन हूँ। तपस्वियों में तप हूँ। समस्त प्राणियों का

सनातन बीज हूँ तथा बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ, तेजस्वियों का तेज हूँ। बलवानों का कामना और राग से रहित बल हूँ तथा धर्मयुक्त काम हूँ। **(गीता/7/8 से 10 तक)**

(तेरह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–मेरी त्रिगुणीमयी माया बहुत ही कठिन है जो साधक एक मात्र मेरा ही भजन करते हैं वे ही इस त्रिगुणीमयी माया से पार हो जाते है। **(गीता/7/14)**

(चौदह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – बुद्धिहीन मनुष्य मुझे एक साधारण मनुष्य की तरह से जानते हैं तथा वे मेरे परम अविनाशी भाव को नहीं जान पाते। मै उन मूर्ख मनुष्यों के समक्ष अपनी योगमाया से भली प्रकार ढका हुआ उनके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। **(गीता/7/24–25)**

(पंद्रह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा –जो प्राणी भूतकाल में उत्पन्न हुए थे वर्तमान काल में उपस्थित हैं तथा भविष्य में उत्पन्न होने वाले हैं मैं उन समस्त प्राणियों को जानता हूँ परन्तु मेरे को कोई नही जानता है। **(गीता/ 7/26)**

(सोलह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – समस्त काल में मेरा ही स्मरण करना चाहिए तथा कर्तव्य कर्मो का आचरण करते रहकर मुझमें ही मन और बुद्धि को अर्पित कर देना चाहिए। इससे मैं ऐसे साधक को प्राप्त हो जाता हूं। **(गीता/8/7)**

(सत्रह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – अनन्य चित्त से युक्त मनुष्य जो मेरा नित्य निरन्तर स्मरण करते हैं। ऐसे साधकों को मैं सहज ही उपलब्ध हो जाता हूँ। **(गीता/8/14)**

(अठ्ठारह) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – ब्रह्मा के लोक तक जितने भी लोक हैं वे सभी पुनरावृत्ति अर्थात् आवागमन के स्वभाव वाले हैं परन्तु जो साधक मुझको प्राप्त कर लेता है उसका फिर पुर्नजन्म नही होता है, क्योंकि वह भक्त मेरी शरण में पूरी तरह से आ जाता है। **(गीता/8/16)**

(उन्नीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – उसी को अव्यक्त अक्षर कहा जाता है और उसे ही परमगति कहा गया है, जिसको प्राप्त होकर इस पृथ्वीलोक पर वापसी नहीं होती है। वही मेरा परम धाम है। **(गीता/8/21)**

(बीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – यह समग्र जगत मेरी अव्यक्त मूर्ति में व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। हे अर्जुन ! मेरे ईश्वर सम्बंधी योग को देखो कि समस्त प्राणी मुझमें स्थित नहीं है। जिस प्रकार सब स्थानों पर उपस्थित महान

वायु सदैव आकाश में रहती है उसी प्रकार समस्त प्राणी मुझमें स्थित है। ऐसा समझों। **(गीता 9/4 से 6)**

(इक्कीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मैं अपने प्रकृति को बस में करके पुनः–पुनः इस समस्त प्राणियों के समुदाय को रचता हूँ और कल्प के अंत में उसके क्षय होने पर समस्त प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु मैं सृष्टि के सृजन का जो कार्य करता हूँ वह अनासक्त भाव से करता हूँ इसलिए मुझे कर्म नहीं बांधते हैं। **(गीता/9/7 से 9)**

(बाइस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मेरी प्रकृति मेरी अध्यक्षता में सम्पूर्ण ब्रह्मांड को रचती है, जिससे यह समस्त जगत प्रवर्तित हो रहा है परन्तु मूर्ख मनुष्य समस्त प्राणियों के ईश्वर जैस उत्कृष्ट रूप को न जानकर मुझे सामान्य मनुष्य मानते हैं। **(गीता/9/10)**

(तेईस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – जो संतजन दैवी सम्पदा को प्राप्त कर लेते हैं वे मुझे समस्त प्राणियों का उत्पत्ति कारण मानकर मेरा भजन करते हैं। **(गीता /9/13)**

(चौबीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – जो कुछ भी कर्म करो, जो कुछ भी खाओ, जो कुछ भी हवन करो, जो कुछ भी दान दो, जो कुछ भी तप करो उसे मेरे को समर्पित करो। ऐसा समर्पण करने से शुभ और अशुभ रूपी कर्मबंधन से तुम मुक्त हो जाओगे और मुझे ही प्राप्त होगे।**(गीता/9/27–28)**

(पच्चीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मेरे द्वारा ही मनुष्य को बुद्धि दी जाती है। ज्ञान दिया जाता है। असम्मोह प्रदान किया जाता है तथा क्षमा, सत्य, दम्भ, शम, सुख और दुःख अहिंसा, समता तथा भाव और अभाव, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश, यह जो नाना प्रकार के मनुष्यों के भाव हैं, वो भी मेरे द्वारा ही होते हैं। **(गीता/10/4–5)**

(छब्बीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मेरे द्वारा ही सृष्टि के आदिकाल में ही चार सनकादि, सात महर्षि गण तथा 14 मनु संकल्प के द्वारा उत्पन्न कर दिए गए थे और उन्हीं की इस सम्पूर्ण संसार में प्रजा रह रही है। इस संसार में जितने भी मनुष्य हैं यह उक्त महार्षियों की संताने है। **(गीता/10/6)**

(सत्ताइस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – मैं इस सम्पूर्ण जगत के प्रकटीकरण का मूल कारण हूँ। यह सारा जगत मुझमें ही प्रवर्तित हो रहा है। ऐसा मानकर जो श्रद्धा और भक्ति से संलग्न बुद्धिमान पुरूष मुझको ही भजता है। **(गीता/10/8)**

(अठठाइस) अर्जुन ने कहा — हे भगवन आप परमब्रह्म हैं। परमधाम हैं। परम पवित्र हैं। आपको देवर्षि नारद, महर्षि असित, देवल ऋषि, महर्षि वेदव्यास तथा अन्य ऋषिगण शाश्वत अलौकिक पुरूष तथा देवताओं की उत्पत्ति का मूल कारण अजन्मा और सर्वत्र उपस्थित रहने वाला मानते हैं। **(गीता / 10 / 12—13)**

(उनतीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा — सभी धर्मो का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ। हे अर्जुन ! यदि तू समस्त पापियों से भी अधिक पाप करने वाला होगा तो मेरी शरण आने पर मै तुझको उन्मोचित कर दूँगा। तू किसी प्रकार का भी शोक न कर। **(गीता / 18 / 66)**

(तीस) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा — जो भक्त मेरे आश्रय में रहते हैं मुझे अपने समस्त कर्मो का अर्पण कर देते हैं तथा मेरा ही सदैव चिंतन करते रहते हैं ऐसे भक्तों को मैं इस संसार से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ और उनका पुनः इस पृथ्वी लोक पर जन्म नहीं होता है। **(गीता / 12 / 6 / 7)**

भगवान श्रीकृष्ण ने उपरोक्त प्रकार से अपनी स्थिति को श्रीगीताजी में स्पष्ट किया है तथा उपरोक्त प्रकरणों के अतिरिक्त भी अन्य प्रकरणों में भगवान श्रीकृष्ण की स्थिति की प्रभवकर्ता, स्थितिकर्ता, प्रलयकर्ता के स्वरूप की प्रकट होती है। जैसा वर्णन श्रीगीताजी में प्रस्तुत किया गया है, उसी आधार पर हम भगवान श्रीकृष्ण को मानते हैं। यहां पर एक तथ्य और स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है कि श्रीगीताजी का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने परमात्मा के स्वरूप में कहा है इसमें रंचमात्र भी किसी को संशय करने की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन के मन में इस प्रकार का सूक्ष्म संशय था, इसलिए उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से उनके वास्तविक स्वरूप को देखने की प्रार्थना की थी। श्री भगवान ने अर्जुन की उस प्रार्थना को स्वीकार करके अपने विराट स्वरूप का प्रदर्शन किया। यह विराट स्वरूप जो श्री गीता जी के 11वें अध्याय में विस्तार से वर्णित किया गया है उसी के आधार पर विराट स्वरूप के कुछ भागों का आप अवलोकन कीजिए।

(4) विराट स्वरूप—एक परिचय

विश्व और विश्व के इतिहास में प्राचीनकाल में अनेक घटनाऐं हुई हैं, जो घटनाऐं हुई उनका समग्रता से कहीं वर्णन प्राप्त होना संभव नहीं है, परन्तु अनेक घटनाओं का हमारे ऐतिहासिक ग्रंथों में वर्णन प्राप्त होता है। चूंकि प्राचीनकाल की घटनाऐं प्राचीन समय से सम्बंधित है, जो हमारे द्वारा ऐतिहासिक ग्रंथों के माध्यम से जानी जाती हैं। विश्व के जो

भी ऐतिहासिक ग्रंथ हैं उनमें पृथक्–पृथक् देशों में अनेक प्रकार की घटनाओं का होना वर्णित किया गया है। जो कुछ भी वर्णन ऐतिहासिक ग्रंथों में प्राप्त होता है, वैसा ही हम उसे मानते हैं, क्योंकि मानने के अतिरिक्त हमारे समक्ष अन्य कोई विकल्प भी नहीं है।

भारत वर्ष में भी असंख्य घटनाऐं हुई जो हमारे वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक ग्रंथों में वर्णित है। वैसी ही एक घटना महाभारत काल में महाभारत युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व घटित हुई। यह घटना विश्व के इतिहास में अनोखी अलौकिक और अपने तरह की एक ही घटना है, जिसका वर्णन श्रीगीताजी के 11वें अध्याय में विस्तार से हमें प्राप्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीताजी के दसवें अध्याय तक अनेक प्रकार के साधनों और ज्ञान का विषद वर्णन किया तथा अपनी विभूतियों को संक्षेप से दसवें अध्याय में वर्णित किया।

अर्जुन ने श्रीभगवान के द्वारा वर्णित ज्ञान को ग्रहण किया परन्तु उनके मन में यह संशय सूक्ष्म रूप से प्रकट हो गया कि भगवान श्रीकृष्ण जो ज्ञान प्रस्तुत कर रहे हैं, उसमें वे अपने को इस समग्र ब्रह्मांड का स्वामी, सृष्टिकर्ता पालन पोषण करने वाला स्थितिकर्ता और प्रलयकर्ता के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। चूंकि भगवान श्रीकृष्ण एक सामान्य मनुष्य की तरह से वहां पर उपस्थित थे इसलिए अर्जुन के मन में यह शंका उठना स्वाभाविक ही था कि एक सामान्य मनुष्य जो हमारे समक्ष उपस्थित रहकर हमारे रथ का परिचालन करने वाला सारथी हो वह परमात्मा के रूप में कैसे हो सकता है? यह जिज्ञासा और संशय अर्जुन के मन में अवश्य थी, इस कारण उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से अपने उस ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट करने की प्रार्थना की। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के अंतःकरण में उठ रही इस जिज्ञासा को समझ कर उसके निवारण के लिए उन्होंने अपना विराट स्वरूप प्रदर्शित किया। इस प्रकार की घटना विश्व के इतिहास में एक ही है। इस कारण हमें गीता ज्ञान के आधार पर उस घटना को स्वीकार करना पडता है। इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई साधन व विकल्प नहीं है कि हम उस घटना को दूषित कर सकें अथवा मिथ्या मानने को तत्पर हो। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीगीताजी के 11वें अध्याय जिसे **विश्वरूपदर्शनयोग** कहा जाता है, में अपने विराटस्वरूप का प्रदर्शन किया। उसी के आधार पर विराटस्वरूप के सम्बंध में कुछ भावों का प्रकटीकरण यहां पर किया जा रहा है उसका अवलोकन कीजिए–

(एक) अर्जुन ने कहा – आपने कृपा सहित अति गोपनीय अध्यात्मिक ज्ञान को मेरे लिए कहा है, इससे मेरा मोह नष्ट हो गया है। मैने सम्पूर्ण प्राणियों के उद्‌भव, विनाश का निरन्तर श्रवण किया है और आपका माहात्मय भी सुना है। आप जैसा कहते हैं वैसा ही मैं मानता हूॅं, परन्तु हे ऐश्वर्य से युक्त मैं आपके उस ईश्वर सम्बंधी स्वरूप को देखने की

इच्छा करता हूँ। हे योगेश्वर! यदि मेरे द्वारा आपका वह ईश्वरीय रूप देखा जा पाना संभव हो तो आप मुझे अपने उस अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइए। आपकी यह महान कृपा होगी। **(गीता/11/2 से 4 तक)**

(दो) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – हे अर्जुन ! तुम अपने इन लौकिक नेत्रों से मेरे उस परम ऐश्वर्यवान ईश्वरीय स्वरूप को देख पाने में समर्थ नहीं हो, इसलिए मैं तुमकों दिव्य नेत्र प्रदान कर रहा हूँ जिससे तुम मेरी ईश्वरीय सत्ता और शक्ति का अवलोकन करो। **(गीता/11/8)**

(तीन) भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – हे अर्जुन ! मेरे अनेक प्रकार के अनेक वर्णो, अनेक आकृतियों वाले सैकड़ों और सहस्त्रों दिव्य रूपों को देख। बारह आदित्यों, आठ वसुओं, 11 रूद्रों, दो अश्विनीकुमारों, 49 मरूद्रगणों को देख और इससे पहले तुमने जो कुछ नहीं देखा है वह भी इस आश्चर्यजनक विराटस्वरूप में देख। इस विराटस्वरूप में एक ही स्थान पर चराचर जगत का दर्शन करो। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी तुम देखने की इच्छा करते हो वह सबका सब तुम देखो। **(गीता/11/10 से 11)**

(दो) संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – हे राजन ! इस प्रकार महायोगेश्वर श्री हरि ने अपने विराट स्वरूप का प्रदर्शन किया। इस विराट स्वरूप में अनेक मुख, नेत्र हैं और अनेक विस्मयकारी दर्शन है। वह विराटस्वरूप दिव्य आभूषणों और दिव्य शस्त्रों से सम्पन्न है। हजारों सूर्यो के एक साथ प्रकट हो जाने पर भी विराटस्वरूप के जैसा प्रकाश नहीं हो सकता है। अर्जुन ने उस विराटस्वरूप में समग्र जगत को पृथक्–पृथक् रूप से विभक्त हुये देखा। **(गीता/11/13)**

(तीन) अर्जुन ने कहा – हे भगवन् ! आपके शरीर में समस्त देवताओं को, भूतों के एक विशिष्ट समुदाय को, कमल के आसन पर विराजमान ब्रह्माजी को, भगवान शंकर को, ऋषिगण को, दिव्य सर्पो को देख रहा हूँ। हे भगवन ! आपके अनेक रूपों, उदरो, मुखों, नेत्रों तथा अनन्त रूपों को देख रहा हूँ। आपका न तो आदि है न मध्य है और न ही अंत प्रतीत हो रहा है। आप किरीट, गदा, चक्र धारण किये हुए हैं। आपके विराटस्वरूप को तेज राशियों को देदिप्यमान होते देख रहा हूँ। **(गीता 11/16–17)**

(चार) अर्जुन ने कहा – आपके विराटस्वरूप का आदि मध्य और अंत नहीं है। हे अनन्त वीर्य आपके अनन्त भुजाऐं हैं। चन्द्रमा और सूर्य की किरणें नेत्र हैं। जलती हुई अग्नि के समान मुख है, जो इस जगत को तपा रहा है। हे भगवन ! आपका विराटस्वरूप आकाश

को छू रहा है। आपका मुख फैला हुआ है। नेत्र प्रज्जवलित हैं। मै आपके इस स्वरूप को देखकर धैर्य को प्राप्त नहीं हो रहा हूं। हमारे पक्ष में जो जो प्रमुख योद्धागण हैं। भीष्म,द्रोण, कर्ण, तथा राजाओं के समुदाय आपके विशाल मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं और विकराल दाढ़ों वाले मुखों में छिन्न भिन्न मस्तक के साथ वे चिपके हुए प्रतीत हो रहे हैं। **(गीता 11/26/27)**

इस विराटस्वरूप का विषद उल्लेख और वर्णन श्रीगीताजी के 11वें अध्याय में प्रमुखता से किया है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के द्वारा प्रार्थना करने पर अपने मनुष्य शरीर का परिवर्तन विराट स्वरूप में कर दिया। विराटस्वरूप प्रदर्शन के पूर्व भगवद्गीता के दस अध्यायों के उपदेश हो चुके थे तथा श्री भगवान ने अपनी प्रमुख प्रमुख विभूतियों को संक्षेप से वर्णित किया था। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक रूप से अपने ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट किया है तथा श्रीगीताजी का उपदेश उसी सत्ता के द्वारा हुआ है, जो इस जगत की उत्पत्ति करती है, स्थिति रखती है और अंततः उसे विनिष्ट कर देती है।

आज वर्तमान परिपेक्ष्य में अनेक महानुभावों, मत मतान्तरों के महापुरूष भगवान श्रीकृष्ण को उस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, जैसा उनका स्वरूप श्रीगीताजी में वर्णित किया गया है। वस्तुतः किसी भी महापुरूष के द्वारा जब कोई पुस्तक लिखी जाती है तो वह अपने अनुभव और मत के अनुसार उस पुस्तक की रचना करता है। आज वर्तमान में असंख्य मत मतान्तर प्रकट हो गए हैं और उस मत मतान्तरों के प्रमुख महानुभावों ने अपने को ही ईश्वर के रूप में प्रकट करने का निन्दनीय प्रयास किया है। उन्हें यह तथ्य ज्ञात होना चाहिए कि समग्र मानव प्रकृति के अधीन हैं और प्रकृति परमात्मा के अधीन है। हम तपश्चर्या से, स्वध्याय से, शास्त्रों के सेवन से, महापुरूषों के संग से, कुछ विशेष स्थिति तथा शक्ति यदि प्राप्त कर लेते हैं तो भी हम अपने मानुषी रूप को समाप्त नहीं कर सकते। वस्तुतः मनुष्य इसी कारण निकृष्ट है क्योंकि उसे स्वस्वरूप का बोध समाप्त हो जाता है। मनुष्य यदि चाहें तो भी अपने वास्तविक स्वरूप को तत्काल नहीं जान सकता न ही उसमें अपने को परिवर्तित कर सकता है। परन्तु परमात्मा का जब अवतरण होता है, तब वह अपने मानुषी स्वरूप को तत्काल अपने वास्तविक स्वरूप में परिवर्तित कर सकते हैं। यही अंतर एक सामान्य पुरूष और परमात्मा के स्वरूप में रहता है। मनुष्य शरीर में रहकर मनुष्य की समस्त क्रियाएं त्रिगुणों के प्रभाव से चलती है परन्तु जब परमात्मा का अवतरण होता है तो उस पर त्रिगुणों का प्रभाव नहीं होता है और उसकी समस्त क्रियाऐं

त्रिगुणों से रहित होती हैं, क्योंकि त्रिगुण प्रकृतिजन्य हैं और प्रकृति अनादि होते हुये भी परमात्माजन्य है।

(5) गीताज्ञान की विशेषताऐं–

ब्रह्मस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण ने गीताज्ञान का उपदेश प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर मानव जाति के कल्याण के लिए दिया था। यह ज्ञान किसी संप्रदाय, किसी जाति, धर्म, किसी वर्ण,किसी आश्रम के लिए नहीं है, वरन् सभी देशकाल के लिए है। इसमें समग्र मानव जाति का कल्याण का भाव है। गीताज्ञान ब्रह्मस्वरूप द्वारा दिए जाने के कारण सम्यक् रूपेणसत्य है। इसकी प्रमुख विशेषताऐं असंख्य हैं परंतु कुछ विशेषताओं का संक्षेप से प्रस्तुतिकरण किया जा रहा है।

(क) गीताज्ञान ब्रह्मवाक्य है– ज्ञान के प्रस्तुतिकरण के तीन प्रकार सामान्य रूप से होते हैं। एक तो कोई भी विद्वान मनीषी महापुरुष किसी आध्यात्मिक विषय को निरुपित करता है। वह अपने अनुभव के आधार पर तथा अपने अध्ययन के आधार पर अपने सिद्धांत का प्रकटीकरण करता है। यह ज्ञान के प्रस्तुतिकरण का एक प्रकार है। इस प्रकार से हमारे यहां अनेक दार्शनिक ग्रंथ, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथ तथा स्मृतियां आदि लिखी गयी हैं। दूसरे प्रकार का ज्ञान परमात्मा की अप्रत्यक्ष वाणी के रूप में हमारे समक्ष है जो पवित्र वेदों के रूप में उपलब्ध है। पवित्र वेदों को परमात्मा की वाणी माना जाता है। परंतु यह मान्यता परमात्मा की परोक्ष वाणी के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होती है। तीसरे प्रकार के साधन में परमात्मा स्वयं अवतरित होकर अपने ज्ञान का प्रत्यक्ष रूप से प्रकटीकरण करता है। इस ज्ञान में श्रीमद्भगवद्गीता ही एक मात्र ग्रंथ हैं जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं परमात्मा के रूप में अवतरित होकर दिया था। इसलिए गीताज्ञान उस सत्ता के द्वारा उपदेशित किया गया है जो इस समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती है तथा परम अविनाशी है। परम अविनाशी ब्रह्म का पर्याय है।

कुछ महानुभाव तथा मतों के मानने वाले मनीषीगण परमात्मा के अवतरण के तथ्य को नकारते हैं परंतु उन्हें यह विचार करना चाहिए कि सर्वशक्तिमान परमात्मा सब कुछ करने में समर्थ है। हम जब इस तथ्य को नकारते हैं कि उसका अवतरण नहीं होता है तब हम अपनी तुच्छ बुद्धि से परमात्मा के सर्वशक्तिमान गुण को अस्वीकार करते हैं। वह परमात्मा जब इस असीमित ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है तब वह किसी भी प्रकार से इस जगत में अपने को प्रकट कर सकता है। भगवद्गीता का स्पष्ट मत है कि परमात्मा का अवतरण होता है और इस आधार पर हम वैदिक सनातन धर्म के अनुयायी परमात्मा के

अवतरण को स्वीकार करते हैं। जो कोई महानुभाव इसे अस्वीकार करते हैं उन्हें गीताज्ञान के मत के खंडन के लिए उचित तर्क देना चाहिए। इस प्रकार गीताज्ञान परमात्मा के द्वारा प्रकट की गयी वाणी है जो ब्रह्मवाक्य के रूप में हमारे समक्ष आज उपस्थित है।

(ख) गीताज्ञान स्वतः प्रमाण है— संसार में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथ हैं जिनमें अनेक तथ्यों का निरुपण किया गया है। प्रत्येक ग्रंथ का अपना मत और सिद्धांत है। हम जब किसी ग्रंथ में वर्णित मत और सिद्धांत की पुष्टि करना चाहते हैं तो उसके लिए उससे अधिक श्रेष्ठ ग्रंथों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं कि अमुक ग्रंथ में भी ऐसा—ऐसा लिखा है। यह प्राचीन समय से होता चला आया है कि मनीषीजन अपने मत और सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए अनेक मौलिक तथा उत्कृष्ट ग्रंथ का आश्रय लेते हैं और उससे अपने मत को सही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। भगवद्गीता परमात्मा की साक्षात् वाणी है इस कारण इसमें जो तथ्य वर्णित हैं उनको सिद्ध करने के लिए किसी अन्य ग्रंथ को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। गीताज्ञान स्वतः प्रमाण है। इससे अन्य आध्यात्मिक ग्रंथों के तथ्यों को सिद्ध करने के लिए आधार बनाया जा सकता है और उससे अन्य ग्रंथों में वर्णित तथ्यों को सिद्ध किया जा सकता है।

(ग) गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है— जगत में जितने भी विषय हैं और उन विषयों में जितना भी ज्ञान है उन सबसे गीताज्ञान उत्कृष्ट है। इस कारण इस ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है। गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट क्यों है? इस पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इसका प्रकटीकरण सर्वोच्च सत्ता के द्वारा हुआ है, इस कारण यह उत्कृष्ट है। ब्रह्म परम अविनाशी सत्ता है। वह काल से बाधित नहीं है। त्रिकालज्ञ है। सृष्टि के अस्तित्त्व के रहने पर भी और न रहने पर भी वह परम अविनाशी सत्ता रहती है। उसका कभी विनाश नहीं होता। उस परम अविनाशी सत्ता के द्वारा प्रस्तुत किया गया ज्ञान उत्कृष्ट ही होगा। हमारे देश में अनेक आध्यात्मिक महापुरुष हुए, उन्होंने अपने व्यवहारिक अनुभूतियों को तथा ब्रह्माण्ड की स्थितियों को विषद रूप से वर्णित किया है। ऐसे महानुभावों को महर्षि की संज्ञा से विभूषित किया गया। इसके अतिरिक्त इस सृष्टि में देवगण भी मनुष्य से उत्कृष्ट हैं परंतु महर्षि और देवगणों की उत्पत्ति का कारण भी परमात्मा ही है, इस कारण परमात्मा उत्कृष्ट है और उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है।

(घ) गीताज्ञान वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों का सार है— वेदों के अंतिम भाग को वेदांत कहा जाता है। वेदांत विषय में ब्रह्म, प्रकृति, माया और जीव के बारे में विशिष्ट वर्णन होता है। ब्रह्म इस जगत की सर्वोच्च सत्ता है। प्रकृति और माया को एक मान लेने पर भी वह

ब्रह्म के अधीन रहकर कार्य करने वाली सत्ता है तथा जीव उस ब्रह्म का अंश है। इस तीनों विषयों का वर्णन जिन धर्मग्रंथों में होता है उसे वेदांत कहते हैं। आज तक जितने भी ग्रंथ इस विषय से संबंधित हैं उनमें जो सार तत्त्व है वह समग्रता से गीता ज्ञान में वर्णित किया गया है। प्रत्येक आध्यात्मिक ग्रंथ का सार तत्त्व श्रीभगवान ने गीताज्ञान में समाहित कर दिया है। उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों, स्मृतियों का जो पराविद्या का विषय है वह सबका सब गीताज्ञान में आपको प्राप्त हो जाएगा। इस कथन का एक आधार है यदि आप गीता ज्ञान का अध्ययन समग्रता से कर लेते हैं तो अन्य जितने भी पराविद्या के आध्यात्मिक ग्रंथ हैं उनका अध्ययन सहजता से हो जाता है। श्रीभगवान ने भगवद्‌गीता के ज्ञान में वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों का सार संग्रहीत कर दिया है।

(ङं) गीता ज्ञान मोक्ष का साधन है– ज्ञान के संबंध में इस जगत के जो मनीषीजन हैं वे ही ज्ञान की परिभाषा को निरुपित करते हैं। अधिकांश मनीषियों का ऐसा कथन है और स्पष्ट अभिमत भी है कि इस मानव जीवन का एकमात्र उद्‌देश्य मुक्ति प्राप्त करना है। हमें यह मानव जीवन शरीर की मुक्ति हेतु प्राप्त हुआ है इसका दूसरा अन्य कोई उद्‌देश्य नहीं है। हम मानव जीवन में इस उद्‌देश्य की प्राप्ति कैसे कर सकेंगे? यह विशेष तथ्य है। आज के समाज में अनेक प्रकार के भ्रामक और अज्ञानतापूर्ण सिद्धांतों का अवलंबन किया जा रहा है जिससे हमारे जीवन का उद्‌देश्य ही भ्रमित हो गया है। अनेक श्रद्धालु भटकाव की स्थिति में हैं और उन्हें समुचित मार्ग नहीं मिल पा रहा है।

मोक्ष प्राप्ति के साधनों का उल्लेख पराविद्या के अनेक ग्रंथों में हुआ है परंतु जैसा श्रीगीताजी में हुआ है वैसा प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। श्रीभगवान गीताज्ञान में पुनः पुनः मुक्ति प्राप्ति की ओर संकेत करते हैं। जैसे एक विद्यार्थी एक प्रश्न के उत्तर को बार–बार भूल जाता है तो आचार्य पुनः पुनः उस प्रश्न के उत्तर का स्मरण कराता है। इसी प्रकार श्रीभगवान ने गीताज्ञान में अनेक प्रसंगों का वर्णन करके अनायास ही ब्रह्म प्राप्ति के साधन की ओर हमें उन्मुख किया है। अनेकों साधनों का पुनः पुनः निरुपण हुआ है। श्रीभगवान ने अपनी अनुभूति की प्रक्रिया को सरल से सरलतम् बनाया है। इस प्रकार गीताज्ञान मोक्ष का साधन रूप ग्रंथ है।

(च) गीताज्ञान ज्ञान का महासमुद्र है– भगवद्‌गीता में लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान का विषद निरुपण किया गया है। कोई भी साधक संपूर्ण ज्ञान को आत्मसात करने में समर्थ नहीं है। विषयवस्तु की दृष्टि से यह ग्रंथ लघु प्रतीत होता है परंतु भाव की दृष्टि से इसमें आकाश जैसी विशालता और विस्तृता है। भगवद्‌गीता में वर्णित किसी विषय का जब आप

अध्ययन करेंगे तो उसकी विषद स्थिति का स्वतः ही अनुभव हो जाता है। जो विषय वर्णित किया गया है वह पूर्ण है। अर्जुन के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान द्वारा समग्रता से दिया गया है और समस्त संशयों का निराकरण भी किया गया है। जैसे अर्जुन ने यह प्रश्न किया कि स्थिर बुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं? श्रीभगवान ने इसके उत्तर में कई तथ्यों का वर्णन किया है परंतु जो भी कहा है वह सम्यक्रूपेण सत्य है। श्रीभगवान ने बहुत संक्षिप्त उत्तर देते हुए यह कहा कि जो साधक अपनी मनोगत कामनाओं का संपूर्णता से परित्याग कर देता है और स्वयं से स्वयं में संतुष्ट रहता है वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है। इसी प्रकार इसी प्रश्न के उत्तर में अनेक तथ्यों का अत्यंत स्पष्ट विवेचन किया है।

अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों का जो उत्तर श्रीभगवान ने प्रस्तुत किया उसके भावों का चिंतन करने पर आप को यह ज्ञात होगा कि गीताज्ञान ज्ञान का महासमुद्र है जिसकी थाह मिलना असंभव है। अपने समय के प्रकाण्ड विद्वानों, मनीषियों, सिद्ध महापुरुषों ने भगवद्गीता की व्याख्या के संबंध में जो भाष्य और टीकाऐं लिखी हैं उनमें उन्होंने अधिकांशतः यह कहा है कि मुझे गीताज्ञान का कोई भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि गीताज्ञान समुद्र की तरह से गहरा है और आकाश की तरह से विस्तृत है। गीता के टीकाकारों और भाष्यकारों के द्वारा जो यह कथन किया गया है इससे गीताज्ञान के अथाह और असीमित होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार गीताज्ञान ज्ञान का महासमुद्र है।

(छ) गीताज्ञान के पश्चात् अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती– भगवद्गीता ज्ञान को ग्रहण कर लेने के पश्चात अन्य शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता अवशेष नहीं रहती। जैसे समग्र वैदिक ज्ञान का अभिप्राय परमात्मा की अनुभूति करना है और यदि साधक को प्रयास से परमात्मा की अनुभूति हो जाऐ तो उसे वैदिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसने वैदिक ज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार श्रीगीताजी मे समग्र उपनिषदों और दार्शनिक ग्रंथों के सार को संग्रहीत किया गया है इसलिए इसके अध्ययन के उपरांत अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। गीताज्ञान के अध्ययन के उपरांत मनुष्य को निम्न तथ्यों का ज्ञान हो जाता है।

(एक) हमें यह मानव जीवन क्यों प्राप्त हुआ है? इसका वास्तविक उद्देश्य क्या है?

(दो) हमें यह मानव जीवन कैसे प्राप्त हुआ है? और इसकी वास्तविकता क्या है?

(तीन) परमात्मा क्या है? उसकी क्या स्थिति है? तथा उसकी अनुभूति साधक को किस प्रकार होती है?

(चार) परमात्मा का अंश जीव क्या है? और वह इस मानव शरीर में कैसे बंध जाता है?

(पांच) सृष्टि का निर्माण कैसे होता है? और यह सृष्टि किस आधार वाली है?

(छह) इस ब्रह्माण्ड का निर्माण कौन करता है? और यह जगत कैसे टिका हुआ है?

(सात) मनुष्य का क्या कर्तव्य है? और उसे अपने समग्र जीवन में कर्तव्य कर्मों का निर्वहन किस प्रकार करना चाहिए?

(आठ) मनुष्य को किस प्रकार का आचरण समाज में करना चाहिए जिससे समाज में पारस्परिक स्नेह और भाईचारा उत्पन्न हो?

(नौ) मनुष्य के जीवन का क्या उद्‌देश्य है? और इस उद्‌देश्य की उपलब्धि मनुष्य को किस प्रकार से हो सकती है?

आदि आदि तथ्यों का वर्णन श्रीगीताजी में विस्तार से किया गया है। उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य तथ्यों का स्पष्ट वर्णन हुआ है जिसे जानकर मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञान मनुष्य को स्वतः हो जाता है तथा उसे अन्य किसी संसारिक ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है और वह स्वयं से स्वयं में संतुष्ट रहकर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

(ज) गीताज्ञान समग्र जीवन दर्शन है– प्रत्येक मनुष्य जीवन जीता है। लाखों वर्षो से मनुष्य जी रहे हैं, प्रत्येक मनुष्य की अपनी–अपनी पृथक् जीवनशैली है। आज के समाज में लोगों को देखने से यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के पृथक् पृथक् उद्‌देश्यों को लेकर जीवन जी रहा है। अधिकांश लोगों को आपने किसी न किसी समस्या से ग्रस्त अवश्य देखा होगा। आप किसी व्यक्ति से जब बात करेंगे तो पाऐंगे कि वह दुखी है और वह अनेक कारणों से शोकग्रस्त है। भगवद्‌गीता के ज्ञान के उपरांत जो जीवन शैली उभरती है वह विशिष्ट है। कर्मफलों का त्याग करके, संसार की आसक्ति से रहित होकर जो कुछ प्राप्त हो जावे उसमें प्रसन्न रहकर, सुख–दुख को सामान्य समझकर, समस्त प्राणीमात्र से द्वेषरहित आचरण करके, सिद्धि–असिद्धि में समान व्यवहार करके जो मनुष्य जीता है वह समग्र जीवन के दर्शन को जानने वाला है। उक्त प्रकार से जो कुछ भी जीवन के संबंध में कहा गया है वह भगवद्‌गीता के ज्ञान के उपरांत मनुष्य को वास्तविक जीवन के दर्शन का बोध कराता है। मनुष्य गीताज्ञान के बोध के उपरांत यह जान जाता है कि जीवन कैसे जिया जाए?

(झ) गीताज्ञान कर्तव्य कर्म का बोध कराता है– प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक प्रकार के कर्मो का क्रियान्वयन करता है। कर्म के विषय में यह तथ्य स्पष्ट है कि मनुष्य किसी भी क्षण बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। उसे कर्म करना ही पड़ेगा। प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन रहकर हम सभी को कर्म करने पड़ते हैं, इस कारण मनुष्य को परवश कहा जाता है। वस्तुतः मनुष्य पराधीन है क्योंकि वह प्रकृति के अधीन है। मनुष्य को यह ज्ञान होना चाहिए कि उसे क्या करना है? और क्या नहीं करना है। उसे बंधन कैसे होता है? और मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? इस कारण प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह कर्म अकर्म और विकर्म के अंतर को जाने तथा उस अंतर का बोध करके आचरण करे। गीता जी के ज्ञान से यह बोध हो जाता है कि हमें क्या करना है? और क्या नहीं करना है? इसका यथेष्ट ज्ञान सम्यक्रूपेण मनुष्य को होता है। इस प्रकार गीताज्ञान हमें अपने जीवन के कर्तव्य कर्म का बोध कराता है।

(6) गीता ज्ञान के उद्देश्य–

सम्पूर्ण गीता के अध्ययन के उपरान्त गीता ज्ञान के उद्देश्य पर जब आप विचार करेंगे तो पायेंगे कि गीताज्ञान के मात्र दो ही उद्देश्य हैं। एक इस जगत में कर्तव्य कर्म का बोध हो जावे तथा कर्मफल की इच्छा का त्याग करके संसार की आसक्ति से विहीन रहकर सुखपूर्वक जीवनयापन करे तथा दूसरे मानव जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करे। इन उदेश्यों की पूर्ति हम कैसे कर सकेंगे? इस विषय पर हमें गहनतापूर्वक विचार करना चाहिए। वस्तुतः यह लौकिक जीवन किस प्रकार से पूरा हो और मृत्यु के उपरान्त परालौकिक जीवन भी सुखमय हो। इस तथ्य की अनुभूति गीताज्ञान से हो जाती है। गीता ज्ञान के जो उद्देश्य है उनका संक्षेप में अवलोकन कीजिए–

(क) कर्तव्य कर्म का आचरण :–

प्रत्येक मनुष्य के वर्ण आश्रम के अनुसार कर्तव्य कर्म अनिवार्य होते हैं। हम सभी को कर्तव्य कर्मो का आचरण और व्यवहार करना यथेष्ट है। हम कर्तव्य कर्म का आचरण तभी कर सकते हैं जब हमें कर्म अकर्म और विकर्म का सम्यक् ज्ञान हो। इस प्रकार कर्म विकर्म और अकर्म के अंतर का ज्ञान प्राथमिक ज्ञान है। यह प्रत्येक मनुष्य के लिए यथेष्ट है कि वह कर्म अकर्म और विकर्म के ज्ञान के अंतर को समझे। कर्तव्य कर्म का आचरण और व्यवहार तभी संभव है जब हम कर्म अकर्म और विकर्म के अंतर का बोध कर लें। जब मनुष्य कर्तव्य कर्मो का सम्यक् आचरण करता है तो वे कर्मबंधन का हेतु नहीं होते हैं। इस

कारण कर्तव्य कर्म का आचरण मनुष्य को करना चाहिए। गीताज्ञान मनुष्य को कर्तव्य कर्म के आचरण की शिक्षा देता है और गीताज्ञान का एक उद्देश्य मनुष्य को कर्तव्य कर्म के आचरण का बोध कराना है।

(ख) कर्मफल की इच्छा का परित्याग :-

हमारे प्रत्येक कर्म का परिणाम निश्चित होता है। अर्थात् हम जो भी कर्म करते हैं वह परिणामी है। सामान्यतः मनुष्य किसी भी कर्म के आरम्भ करने के पूर्व उसके फल पर अवश्य विचार कर लेता है तत्पश्चात् कर्मो का आचरण करता है। जब तक मनुष्य अपने कर्मो में फल पर विचार करता है तब तक वह फलेच्छा का त्याग नहीं कर सकता। जब यह भावना दृढ़ हो जाती है कि हम जो भी कर्म कर रहे हैं उसका परिणाम अर्थात् फल हमें निश्चित प्राप्त होगा तो हम कर्म फल की इच्छा का परित्याग कर देते हैं। मनुष्य को परमात्मा के द्वारा कर्म करने का अधिकार प्राप्त हुआ है और उस कर्म के फल का अधिकार परमात्मा ने अपने पास निहित कर लिया है। इसलिए हम जो कुछ भी कर्म करते हैं उसका फल परमात्मा की ओर से आता है और निश्चित ही आता है। इस कारण हमें प्रत्येक कर्म में कर्मफल की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए। गीताज्ञान हमें कर्मफल की इच्छा का परित्याग करने हेतु प्रेरित करती है। उसका स्पष्ट अभिमत है कि मनुष्य को कर्मफल की इच्छा का परित्याग करके कर्म करना चाहिए। कर्मफल की इच्छा का परित्याग हो जाने पर जो भी कर्म होते हैं वे बंधन का हेतु नही होते हैं। इसलिए गीताज्ञान का दूसरा उददेश्य कर्मफल की इच्छा का परित्याग करके कर्म करना है।

(ग) आसक्तिरहित कर्म का व्यवहार :-

मनुष्य इस संसार में सामान्यतः जो कुछ भी कर्म करता है वह उसमें आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति ही कर्मबंधन का कारण कही जाती है। आसक्तिविहीन कर्म मुक्ति का हेतु होते हैं। इस कारण हमें समस्त कर्म अनासक्त भाव से करने चाहिए। श्रीगीताजी में संगमत्यक्तवा शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका संकेत आसक्तिरहित कर्तव्यकर्म की ओर है। मनुष्य को आसक्ति का परित्याग करके कर्तव्य कर्मो का आचरण करना अभीष्ट है। कर्तव्य कर्मो के आचरण से, कर्मो में फल की इच्छा का त्याग स्वतः हो जाता है और जब तक कर्मो में आसक्ति रहती है तब तक फल की इच्छा का परित्याग नहीं हो पाता है। इसलिए गीताज्ञान का तीसरा उद्‌देश्य आसक्तिरहित कर्म करना है।

(घ) मोक्ष की प्राप्ति करा देना :–

उपरोक्त तीन उद्देश्य लौकिक जीवन से सम्बंधित हैं। जब हम कर्तव्य कर्म का आचरण करते हैं कर्मफल की इच्छा का परित्याग कर देते हैं और आसक्तिरहित कर्म का व्यवहार करते हैं तो हमें परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। इसे कर्मयोग का साधन मानना चाहिए। परन्तु इसके अतिरिक्त भी गीताज्ञान में परमात्मा की अनुभूति के अन्य उपायों का विस्तार से श्रीभगवान ने उल्लेख किया है। वस्तुतः इस मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है और यह मोक्ष की प्राप्ति परमात्मा के साक्षात्कार के पश्चात् ही संभव है। गीताज्ञान का जो प्रमुख उद्देश्य है वह मनुष्य को उस स्थिति तक ले जाना है। जहां पर जाकर मनुष्य जन्म और मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार गीताज्ञान का चौथा और अंतिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है।

अनेक मनुष्यों ने गीताज्ञान से अनेक प्रकार के उद्देश्यों को विनिश्चत करने का प्रयास किया है। चूंकि श्रीभगवान के द्वारा वर्णित गीताज्ञान सीमारहित है और ज्ञान का अगाध सागर है, इस कारण हम श्रीगीताजी के ज्ञान को जिस दृष्टि से देखते हैं तो हमें अपनी दृष्टि के अनुसार ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। जैसे ब्रह्मांड असीमित है और उसमें जो रचनाऐं हैं वे भी सीमा से रहित है। मनुष्य जहां तक पहुंच पाता है वहां तक के बारे में अपने अनुभव का वर्णन करता है। वैसे ही गीताज्ञान असीमित है जो कोई मनीषी गीता ज्ञान के विषय में जितना अनुभव कर पाता है वह वैसा वर्णन कर देता है। गीताज्ञान के जो पृथक्–पृथक् उद्देश्य अनेक मनीषियों द्वारा विनिश्चित कर दिए गए हैं। वे गीताज्ञान की असीमता को प्रकट करते हैं। परन्तु गीताज्ञान का उद्देश्य तो मनुष्य की जीवन यात्रा को सहजतापूर्वक पूरी कराकर मोक्ष की उपलब्धि करा देना है।

(7) गीताज्ञान के ग्रहण हेतु अन्य शास्त्रों का अवलम्बन :–

भगवद्गीता में अनेक प्रसंगों का वर्णन हुआ है, जिन्हें समझने के लिए हमें अन्य शास्त्रों अर्थात् इतिहास और पुराणों आदि का भी अवलम्बन करना पड़ता है। उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है। सृष्टि रचना, सृष्टि के प्रकार, सृष्टि रचना के सहयोगी तत्त्व तथा सत्ता, प्रकृति और उसके रूप परमात्मा की पराशक्ति माया, त्रिगुण तथा उसकी क्रिया विधि और उसका प्रभाव, पंच महाभूत, परा प्रकृति जीव, कर्म के क्रियान्वयन के स्वरूप, कर्म की गति और उसका परिणाम, ब्रह्मांड का ज्ञान विज्ञान, ध्यान साधना के व्यवहार आदि को सम्यक्रूपेण समझने के लिए अन्य शास्त्रों की आवश्यकता

होती है। इसका एक कारण है कि श्रीभगवान ने भगवद्गीता के ज्ञान के समग्र स्वरूप का और समस्त आध्यात्मिक ज्ञान को सार स्वरूप में प्रस्तुत किया है। भगवद्गीता ज्ञान की विशेषता है कि हम जितना भी ज्ञान के विषय में मंथन करते हैं उससे ज्ञान का संजाल प्रकट होता जाता है। किसी विषय के सम्बंध में मन कल्पना करता है और बुद्धि उसका विनिश्चय कर देती है। उस कल्पना के स्वरूप को गीताज्ञान आकाशवत् बढ़ता है। इस प्रकार गीताज्ञान का विशाल वृहद् स्वरूप भी पुनः पुनः विचारित किया जाऐ तो यह और वृहद् रूप ले लेता है। इस प्रकार गीताज्ञान को समझने के लिए अन्य शास्त्रों के अवलम्बन की आवश्यकता होती है।

(8) सृष्टि रचना

हम जिस जगत में रहते हैं उसे पृथ्वीलोक कहा जाता है। इस पृथ्वी पर हम जड़ चेतन दो प्रकार की सृष्टि का अवलोकन करते हैं। कीड़े, पशु, पक्षी, सर्प, जलचर, नभचर मनुष्य आदि चेतन हैं तथा वह किसी न किसी प्रकार से भोजन ग्रहण करके जीवित रहते हैं, गति करते हैं, चेष्टा करते हैं। यह सबके सब चेतन सृष्टि कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हम देखते हैं वह जड़ है, उसमें चेष्टा और गति नहीं होती है। चर अचर, स्थावर जंगम जितनी भी सृष्टि है उसका हम अवलोकन करते हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी से सूर्य, चन्द्र, तारे आदि भी हम देखते हैं वह भी सृष्टि के अधीन है। इस सबके अतिरिक्त हम जो भी देख नहीं पाते हैं और जो हमारी कल्पना शक्ति के बाहर है वह भी सृष्टि का एक अंग है। जो रचना हम देख रहे हैं अथवा हम जो देख नहीं पा रहे हैं वह सबकी सब उसी के द्वारा अवश्य सृजित की गई होगी और यदि न की गई होती, तो हमें कैसे प्रतीत होती? और कैसे हमारी कल्पना में आती? हम सभी मनुष्य हैं हमारी उत्पत्ति अवश्य हुई। हम आज हैं तो हमारे पिता–पितामह और उनके भी पिता–पितामह अवश्य रहे होंगे। यह क्रम रहा तभी आज हमारा अस्तित्त्व है, यदि न होते तो आज हमारा अस्तित्त्व ही न होता है। इस प्रकार जो हमें प्रतीत हो रहा है वह सबका सब रचित किया गया है उसकी सृष्टि हुई है यह तार्किक रूप से सत्य प्रतीत होता है और हम इसका आभास कर सकते हैं।

(क) यह सृष्टि कैसे हुई ?

जो सृष्टि हम देख रहे हैं अर्थात् चराचर, स्थावर, जंगम, सृष्टि हमारे समक्ष उपस्थित है इसकी रचना कैसे हुई ? यह एक महत्वपूर्ण विषय है। हम सब इस सम्बंध में कल्पना करें कि आज से 100 वर्षो पूर्व जो स्थिति थी वह स्थिति आज नहीं है। उससे सर्वथा भिन्न है। विगत 100 वर्षो में लगभग हमारी दो पीढ़ियॉ समाप्त हो गई। आज 100

वर्ष की आयु वाला मनुष्य एकदम जर्जर प्रतीत होता है। वह अपने बाल्यावस्था के सम्बंध में, अपनी स्थिति के बारे में, उस समय के वातावरण के संदर्भ में कुछ वर्णित कर सकता है परन्तु आज से हजारों लाखों वर्षो पूर्व जब सृष्टि रचना हुई उस समय के बारे में हमारे पास जो कुछ इतिहास तथा पौराणिक ग्रंथों में उपलब्ध है वह हमे मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस संदर्भ में इतिहासकारों ने अपनी कल्पना के आधार पर पाषाणयुग आदि का जो युग वर्णन किया वह मन की एक मात्र संकल्पना है उसमें यथार्थता की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनेक पुरानी वस्तुओं और स्थितियों के आधार पर निश्चित की गई है।

भगवद्गीता में सृष्टि की रचना के सम्बंध में वर्णन आता है। पुराणों में भी सृष्टि रचना के पहले परमात्मा ने भगवान ब्रह्मा को प्रकट किया जो कमल के आसन पर विराजमान थे। इस तथ्य की पुष्टि भगवदगीता के 11वें अध्याय के 15वें श्लोक में हुई है। अर्जुन ने **ब्राह्मणमीशं कमलासनस्थ** पदों का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय है कि कमल के आसन पर विराजमान भगवान ब्रह्मा को भी अर्जुन ने उस विराट स्वरूप में देखा। इस कारण पुराणों में सृष्टि रचना में प्रथम भगवान ब्रह्मा का प्रादुर्भाव का जो तथ्य आता है वह गीताजी में वर्णित विराट स्वरूप के वर्णन से सिद्ध हो जाता हैं इस तथ्य को स्पष्ट समझने के लिए यह समझे कि भगवान विष्णु के नाभि कमल से भगवान ब्रह्मा का प्रकटीकरण होता है। सृष्टि में ब्रह्मा, विष्णु, शंकर को क्रमशः उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का स्वरूप समझा जाता है। यह जो पौराणिक सत्य है इसको हमें स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि अस्वीकार करने का कोई आधार प्रतीत नहीं होता। हम सृष्टि रचना के काल के संदर्भ में कुछ भी ज्ञान नहीं रखते और वह काल हमारी बुद्धि के परे है।

(ख) भगवान ब्रह्मा से सृष्टि विस्तार :–

श्रीभगवान ने अपने मन के संकल्प से चार सनकादि, सात महर्षि तथा 14 मनु प्रकट कर दिए। मन के संकल्प से उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि मन में किसी को उत्पन्न करने का विचार आये तो वह वस्तु विचार के अनुसार प्रकट हो जाए जैसे एक जादूगर मन से किसी फल आदि को प्रकट कर देता है। वहां पर फल की उत्पत्ति का कारण वृक्ष नहीं है, परन्तु मन में आने पर वह वस्तु प्रकट हो जाती है तथा श्रोताओं और दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है। यह उदाहरण मन के संकल्प द्वारा उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझने के लिए है। इसी प्रकर श्रीभगवान ने पहले जो सृष्टि की उसका उल्लेख श्री गीता जी के दसवें अध्याय के छठे श्लोक में आया है, यह मानसिक सृष्टि निम्न है।

(एक) चत्वारः–चार सनकादिः 1–सनक 2–सनन्दन, 3–सनातन और 4–सनत कुमार।

(दो) सप्तमहर्षयः–सात महर्षि : 1–मरीचि 2–अंगीरा 3–अत्रि 4–पुलस्त्य 5–पुलह 6–कृतु 7–वशिष्ठ

(तीन) मनवः–चौदह मनु :1–स्वायम्भुव 2–स्वारोचिष 3–उत्तम 4–तामस 5–रैवत 6–चाक्षुष 7–वैवस्वत 8–सावर्णि 9–दक्षसावर्णि 10–ब्रह्मसावर्णि 11–धर्मसावर्णि 12–रूद्रसावर्णि 13–देवसावणि 14–इन्द्रसावर्णि।

उपरोक्त मानस पुत्रों की ही इस संसार में समस्त प्रजा है, जिसे हम देख रहे हैं अर्थात् जो भी मानव समुदाय है उनके पूर्वज उपरोक्त महापुरूष हैं।

(ग) चार सनकादि, सप्त महर्षियों, 14 मनुओं ने सृष्टि विस्तार कैसे किया ?

भगवान ब्रह्मा ने उपर्युक्त मानस पुत्रों को सृष्टि विस्तार करने का आदेश दिया। पूर्व में उत्पत्ति की दो विधियां थी। एक स्त्री पुरूष के संयोग से। दूसरी मंत्र आदि की शक्ति से। स्त्री पुरूष के संयोग जो सृष्टि रचना होती है वह आज भी चल रही है उसे शास्त्रों में बिन्दुज कहा जाता है तथा जो मंत्रादि के उच्चारण अर्थात् शब्द से होती है नादज कहते हैं। बिन्दुज प्रकार से जो सृष्टि क्रम चलता है उसे पिता पुत्र परम्परा कहते हैं तथा नादज से जो सृष्टि रचना होती है वह गुरु शिष्य परम्परा से आगे बढ़ती है। दो ही परम्पराऐं आज के विश्व में हैं। बिन्दुज परम्परा को हम देख रहे हैं। नादज परम्परा में जो सृष्टि की उत्पत्ति हुई अथवा हो रही वह हमारे दृष्टि और बुद्धि से बाहर का विषय है। दिव्य ऋषि, महर्षि ही उसके बारे में जान सकते हैं और उसका अनुभव कर सकते हैं। संसार और समाज के कल्याण के लिए आज भी यह परम्परा जीवित है अनेक ऋषिगण इस परम्परा में उत्पन्न होकर के सृष्टि का कल्याण कर रहे हैं, परन्तु वे दिव्य हैं। इनका दर्शन सामान्य रूप से संभव नहीं है।

चार सनकादि, सात महर्षि तथा 14 मनु में चार सनकादि ऋषिगणों ने विवाह नहीं किया। सप्त महर्षि और चौदह मनुओं ने विवाह किया और प्रजा की सृष्टि का विस्तार किया। सप्त महर्षियों का विवरण निम्न प्रकार है।

(एक) महर्षि मरीचि ने कला नामक स्त्री से विवाह किया, जिससे कश्यप तथा पूर्णिमा नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे।

(दो) महर्षि अंगिरा ने श्रद्धा नाम की स्त्री से विवाह किया जिनसे दो उत्पन्न हुए। 1– उत्थ्न जी तथा 2– ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पति जी। इसके अतिरिक्त सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति नाम की चार कन्याऐं उत्पन्न हुई।

(तीन) महर्षि अत्रि ने अनुसुया से विवाह किया, जिनसे दत्रात्रेय, दुर्वासा, चन्द्रमा उत्पन्न हुए। यह क्रमशः विष्णु, शंकर तथा ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुए।

(चार) महर्षि पुलस्त्य ने हर्विभु नामक स्त्री से विवाह किया जिनसे अगस्त्य तथा विश्रवा दो पुत्र उत्पन्न हुए। विश्रवा की दो पत्नियां थीं, उनमें पहली इडविडा से यक्षराज कुबेर, दूसरी पत्नी केशिनी से रावण, कुम्भकरण, विभीभण का जन्म हुआ।

(पांच) महर्षि पुलह ने गति नामक स्त्री से विवाह किया, जिनसें कर्मश्रेष्ठ, वरीयान, सहिष्णु नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए।

(छः) कृतु ने क्रिया से विवाह किया, जिससे बाल्यखिल्यादि नामक साठ हजार ऋषियों ने जन्म लिया।

(सात) वशिष्ठ ने ऊर्जा से विवाह किया जिनसे सात पुत्र उत्पन्न हुए। 1– चित्रकेतु 2– सुरोचि 3– विरजा 4– मित्र 5– उल्बण 6– वसुभृद्यान 7– द्युमान।

इसी प्रकार सृष्टिक्रम क्रमशः आरम्भ हो गया और आगे बढ़ता गया। आज हम जो प्रजा देख रहे हैं वह सबकी सब महर्षियों तथा मनुओं की संतानें हैं। यह वर्णन सृष्टिक्रम को समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है। सृष्टिक्रम के विस्तार को समझने के लिए पुराणों का अध्ययन करना चाहिए। वस्तुतः सृष्टि आज से करोड़ों वर्ष पूर्व हुई थी इस कारण शास्त्रों में जो कुछ इस सम्बंध में हमें ज्ञान प्राप्त होता है वैसा ही हम मानने को बाध्य हैं क्योंकि इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प और साधन भी नहीं है। सृष्टि रचना निश्चित हुई और वह समय के साथ चलती हुई आज यहां तक पहुंची। वर्तमान में सृष्टि को देखकर यह निश्चय होता है कि आज से करोड़ों वर्ष पूर्व सृष्टि अवश्य हुई होगी क्योंकि सृष्टि का विस्तार हमें प्रतीत होता है।

(घ) सृष्टि के निर्माण में अन्य लोक :–

इस ब्रह्मांड में अनेक लोक हैं। हम जिस लोक में रहते हैं वह पृथ्वी लोक है। इसके अतिरिक्त अनेक लोकों की स्थिति ब्रह्मांड में है । भगवदगीता में ब्रह्मा के लोक का वर्णन आता है–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। 8/16।

कहकर यह कहा कि हे अर्जुन ब्रह्मालोक तक समस्त लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु मुझे प्राप्त होकर के फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इस तथ्य से स्पष्ट है कि पृथ्वी लोक के अतिरिक्त

अन्य लोक भी हैं परन्तु ब्रह्मा का लोक समस्त लोकों से ऊपर है। पुराणों में उर्ध्व लोकों तथा नीचे के लोकों का वर्णन आता है। नीचे के लोको को अधःलोक कहा जाता है। यह सात हैं–

1–तल 2–अतल 3–वितल 4–तलातल 5–महातल 6–रसातल 7–पाताल।

उर्ध्व लोक भी सात हैं–

1–भूलोक 2–भुवर्लोक 3–स्वर्गलोक 4–महार्लोक 5–जनलोक 6–तपलोक 7–सत्यलोक।

जिन लोकों का वर्णन पुराणों में आता है, उन लोकों के बारे में वहां यह वर्णन मिलता है कि वहां पर भी सृष्टि है। उन लोकों के अतिरिक्त अन्य लोक भी ब्रह्मांड में हैं जो परमात्मा की सृष्टि के अंश हैं। भगवद्गीता इस तथ्य की पुष्टि करती है। श्रीभगवान ने अपनी विभूतियों के वर्णन में यह कहा कि **नक्षत्राणामहं शशी** अर्थात् मैं नक्षत्रों चन्द्रमा हूँ। इस कारण परमात्मा की सृष्टि में अन्य लोक भी हैं, जिनका अस्तित्त्व निश्चित है और इस प्रकरण के अतिरिक्त भी उर्ध्वलोकों का वर्णन गीताजी के 14वें अध्याय के 18वें श्लोक में आया है, जिसमें श्रीभगवान ने यह कहा कि जो मनुष्य सत्त्वगुण की अधिकता में मृत्यु को प्राप्त होते हैं वह उर्ध्व लोकों में जाते हैं तथा रजोगुण में स्थित यदि मृत्यु को प्राप्त होता है तो पृथ्वीलोक में जन्म लेता है। तमोगुण की अधिकता में जिस मनुष्य की मृत्यु होती है उसे अधोगति प्राप्त होती है। इस प्रकार भगवद्गीता लोकों के अस्तित्त्व को स्वीकार करती है और पृथ्वीलोक को मध्य में स्थित मानती है।

उक्त प्रकरण के अतिरिक्त श्रीभगवान ने छठें अध्याय में योगभ्रष्ट पुरूष का वर्णन किया है। यह प्रकरण छठें अध्याय के 41वें श्लोक में है। जो मनुष्य परमात्मा प्राप्ति के लिए यत्न करता है परन्तु इस जन्म में किसी कारण सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होने के कारण उसी मुक्ति नहीं प्राप्त हो पाती तो ऐसा साधक योगभ्रष्ट कहा जाता है। योगभ्रष्ट के विषय में श्रीभगवान ने स्पष्ट कहा कि योगभ्रष्ट पुरूष बहुत समय तक पुण्यकर्मो को करने वाले लोकों में निवास करता है और वहां के सुखों को भोगता है। बहुत वर्षो तक वास करने के पश्चात् वह पवित्र श्रीमानों के घरों में जन्म ग्रहण करता है और पूर्व जन्म की प्रेरणा से पुनः अपनी मुक्ति का प्रयत्न करता है। इस तथ्य से भी पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों की स्थिति स्पष्ट होती है तथा यह भी स्पष्ट होता है कि पुण्य कर्मो को करने वाले पृथक्–पृथक् लोकों में अपनी तपश्चर्या तथा पुण्यों के अनुसार वास करते हैं।

विराट स्वरूप के वर्णन में 11वें अध्याय के 32वें श्लोक में भी श्रीभगवान ने यह कहा **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः** अर्थात् मैं लोकों का विनाश करने के लिए वृद्धि को प्राप्त हुआ महाकाल हूँ। इस तथ्य से भी अन्य लोकों के अस्तित्त्व की पुष्टि होती है। इस प्रकार भगवद्गीता पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों की स्थिति को भी मान्यता प्रदान करती है तथा यह स्पष्ट करती है कि पृथ्वीलोक के अतिरिक्त ब्रह्मांड में अन्य लोक भी उपस्थित हैं।

(ङ) भगवान का परमधाम :—

भगवद्गीता में परमधाम का वर्णन पुनः पुनः हुआ है तथा श्रीभगवान ने कहा कि जो भक्त मेरा आश्रय ग्रहण कर लेते हैं उन्हें मैं मृत्यु के उपरान्त अपने परमधाम में निवास करने की आज्ञा देता हूँ। भगवद्गीता के अनुसार श्रीभगवान जहां नित्य निवास करते हैं वह स्थान परमधाम कहा जाता है। उस परमधाम में मुक्त संत ही निवास करते हैं। अर्थात् जो संत जन्म मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वही परमधाम में निवास करने का अधिकारी होता है। यह मुक्ति पांच प्रकार की होती है।

(क) सायुज्य मुक्ति : श्रीभगवान के विग्रह के समान ही होकर परमधाम में वास करना।

(ख) सारूप्य मुक्ति : श्रीभगवान की कीर्तियुक्त स्वरूप के समान होकर परमधाम में वास करना।

(ग) सामीप्य मुक्ति : श्रीभगवान के अतिशय समीप रहकर परमधाम में वास करना।

(घ) सार्ष्टि मुक्ति : श्रीभगवान के समान समस्त प्रकार के ऐश्वर्य भोग करते हुए परम धाम में वास करना।

(ङ) सालोक्य मुक्ति : श्रीभगवान के नित्यधाम अर्थात् परमधाम में वास करना।

श्रीभगवान ने अपने परमधाम का वर्णन भगवद्गीता में किया है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांकों न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अर्थात् मेरे परमधाम धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है और न ही चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित करती है। जिस परमधाम में जाकर मनुष्य वापस नहीं आता है वही मेरा परमधाम है।

इस प्रकार श्रीभगवान के परमधाम में सूर्य का भी प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा का भी प्रकाश नही है और अग्नि का भी प्रकाश नहीं है। विशिष्ट प्रकार का दिव्य प्रकाश है वही श्रीभगवान का परमधाम है। उसे प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य परमगति को प्राप्त करना है। हम सभी ने अपने जीवन के अन्य उद्देश्य स्वयं ही बना लिए है इसी कारण सुख दुख के चक्र में, उसके आभास में सुखी दुःखी हुआ करते हैं। श्रीगीताजी के जिन प्रकरणों में परमगति, परमपद और परमधाम का अवलोकन आता है उनका अवलोकन कीजिए—

(एक) जो योगी साधक परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास प्रयत्न पूर्वक करता है और जिसके समस्त पाप नष्ट हो गए हैं वह अनेक जन्मों के उपरान्त सिद्धि को प्राप्त हुआ परमगति को प्राप्त हो जाता है। **(गीता 6/45)**

(दो) जो उत्कृष्ट साधक अपनी इन्द्रियों के समस्त द्वारों को संयमित करके अपने मन को हृदयाकाश में रोक कर अपने योगबल से योगधारणा में स्थित हुआ प्रणवरूपी एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ परमात्मा का स्मरण करके अपने शरीर का परित्याग कर देता है वह उत्कृष्ट साधक परमगति को प्राप्त हो जाता है। **(गीता/8/12—13)**

(तीन) जो समस्त जीवमात्र के विनिष्ट होने पर भी विनिष्ट नहीं होता। वही व्यक्त न होने वाले परम अविनाशी को परम गति कहा जाता है। इसे प्राप्त करके मनुष्यों की पुनः इस जगत में वापस नहीं होती है। वह परमात्मा का परमधाम है। **(गीत/8/21)**

(चार) इस जगत में चाहे स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा अन्य पाप योनि वाले हों वे यदि श्रीभगवान की शरणागति प्राप्त कर लेते हैं तो संदेहरहित परमगति को प्राप्त होते हैं। **(गीता/9/32)**

(पांच) परमात्मा समस्त प्राणियों में समरूप से उपस्थित हैं। उस एकसमान रूप से समस्त जीवों में परमात्मा की स्थिति को देखने वाला स्वयं अपनी हिंसा नहीं करता। इस कारण वह परमगति को प्राप्त हो जाता है।

(छः) जो साधक मान तथा मोह से विगत हो गया है, जिसने आसक्तिरूप दोष पर विजय प्राप्त कर ली है जिसकी अध्यात्म में नित्य स्थिति हो चुकी है वह सभी प्रकार की कामनाओं से भली भांति निवृत हो चुका है और जो सुख दुःख रूप में द्वंद्वों से सर्वथा विमुक्त हो गया है। ऐसा विगतमोह ज्ञानी साधक अविनाशी परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। **(गीता/15/5)**

(सात) जो साधक कामना, क्रोध तथा लोभ रूपी तीन प्रकार के नर्क के द्वारों से मुक्त हो जाता है वह मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है। इससे वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। **(गीता/16/22)**

(आठ) जो साधक शास्त्रों में उल्लिखित नियमो का परित्याग कर देता है तथा अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है उसे न तो सिद्धि प्राप्त होती है न ही सुख प्राप्त होता है और न ही परमगति मिलती है। **(गीता /16/23)**

(नौ) जो भक्त भगवान के आश्रय से कर्म का आचरण करते हैं वह श्रीभगवान की कृपा प्राप्त कर लेता है और उस कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार भगवद्गीता में परमपद और परमधाम का पुनः पुनः वर्णन हुआ है। जो साधक श्रीगीता जी में वर्णित साधनों से परमात्मा की प्राप्ति कर लेता हैं वह साधक मृत्यु के उपरान्त परमात्मा के परमपद—परमधाम में जाकर सदैव निवास करता है। उसका पृथ्वी लोक में पुनर्जन्म नहीं होता है। श्रीभगवान के परमधाम की प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का सर्वोकृष्ट लक्ष्य है, जिसे मनुष्य को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

(च) देवसृष्टि :—

सृष्टि का एक रूप देवसृष्टि के रूप में है जो देवलोकों में वास करता है। मनुष्य के छः माह (उत्तरायण) में देवलोक में दिन रहता है तथा उसकी गणना देवलोक के एक दिन से होती है। मनुष्य के छः माह (दक्षिणायन) में रात होती है। इस प्रकार देवताओं का दिन मनुष्यों के 6 माह के बराबर होता है। एक रात्रि भी मनुष्यों के 6 माह के बराबर होती है। इसी को उत्तरायण और दक्षिणायन कहा जाता है। भगवद्गीता में देवताओं का वर्णन आता है इस कारण देवताओं के अस्तित्त्व को भगवद्गीता स्वीकार करती है। देवताओं का वर्णन जिन प्रकरणों में आया है। उनका अवलोकन कीजिए—

(एक) यज्ञों के सम्पादन तथा शास्त्रसम्यक् कर्मो के द्वारा समस्त मनुष्य देवताओं को पुष्ट करें तथा देव गण मनुष्यों को पुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर मनुष्य और देवगण परमश्रेय को प्राप्त कर लें। **(गीता/3/11)**

(दो) देवता मनुष्यों को उनके आवश्यक भोग वस्तुऐं प्रदान करेंगे। जो देवताओं के द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं को दूसरों की सेवा में अर्पित किए बिना स्वयं ही उसका उपभोग करता है वह निश्चित ही चोर है। **(गीता/3/12)**

(तीन) कर्मो की शीघ्र सिद्धि की आकांक्षा से देवताओं की उपासना की जाती है। इस उपासना से सिद्धि शीघ्र ही उपलब्ध होती है।

(चार) जो लोग सकामभाव से देवताओं की उपासना करते हैं वे अज्ञानी हैं। जिन लोगों का ज्ञान कामनाओं के द्वारा हर लिया गया है वे सकामी मनुष्य अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। जो भक्त जिस देवता की उपासना करने का इच्छुक होता है उस देवता के प्रति श्रीभगवान ही उस भक्त की श्रद्धा को दृढ़ करते हैं। **(गीता/7/20–21)**

(पांच) देवताओं की उपासना का परिणाम नाशवान होता है। अर्थात् अंततः वह विनिष्ट हो जाता है। इस कारण देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और श्री भगवान की उपासना करने वाले श्री भगवान को प्राप्त होते हैं। **(गीता/7/23)**

इस प्रकार भगवद्गीता देवसृष्टि को स्पष्ट रूप से मानती है और उसको मान्यता प्रदान करती है। इस सृष्टि में परमात्मा ने विभिन्न कार्यो हेतु अनेक देवताओं को नियुक्त किया है। वे दीर्घजीवी होते हैं तथा परमात्मा द्वारा आवंटित किये गए कार्य को पूरा करते रहते हैं। उनका जीवन और उनके अधिकार परमात्मा के प्रसादपर्यन्त रहते हैं।

(9) काल गणना

भगवान ब्रह्मा अर्थात् सृष्टिकर्ता की आयु 100 वर्ष की होती है। 100वर्षो की आयु को समझने के लिए पहले युग को समझना आवश्यक है और फिर चर्तुयुगी का वर्णन अनिवार्य है। एक चर्तुयुगी में चार युग होते हैं जिन्हें 1–सतयुग 2–त्रेतायुग 3–द्वापर युग 4–कलयुग कहा जाता है। इन समस्त युगों का पृथक्–पृथक् समय है जो निम्न प्रकार है–

1– कलयुग : 4 लाख 32 हजार वर्षो का होता है।

2– द्वापर : 8 लाख 64 हजार वर्षो का होता है।

3– त्रेता : 12 लाख 96 हजार वर्षो का होता है।

4– सतयुग : 17 लाख 28 हजार वर्षो का होता है।

इस प्रकार एक चतुर्युगी में 43 लाख और 20 हजार वर्ष होते हैं। ऐसी एक हजार चर्तुयुगी बीतने पर ब्रह्मा जी का एक दिन पूरा होता है और वैसी ही एक हजार चर्तुयुगी बीतने पर ब्रह्माजी की एक रात्रि पूरी होती है। इस गणना के अनुसार ब्रह्माजी की आयु 100 वर्षो की होती है।

मनुष्यों के 6 महीने के उत्तरायण में देवताओं का एक दिन होता हैं। मनुष्यों के 6 महीने के दक्षिणायन में देवताओं का एक रात्रि होती है। इस प्रकार मनुष्यों के 360 वर्ष बीतने पर देवताओं का एक वर्ष होता है इसे दिव्य वर्ष कहते हैं। एक चतुर्युगी देवताओं की एक दिव्य युग बराबर होती है।

ब्रह्मा जी का एक दिन एक कल्प या सर्ग कहलाता है। ब्रह्माजी की एक रात्रि प्रलय कहलाती है। एक दिव्ययुग बराबर एक चतुर्युगी और एक हजार दिव्ययुग बराबर ब्रह्माजी का एक दिन।

ब्रह्माजी के एक दिन में एक हजार चर्तुयुगी होती हैं जो चार अरब 32 करोड़ मानव वर्ष की होती है। इतना ही समय रात्रि का होता है। ब्रह्माजी के एक दिन में अर्थात् एक कल्प या सर्ग में सृष्टि की रचना होती हैं। और दिन के समापन में यह सृष्टि समाप्त हो जाती है और रात्रिकाल अर्थात् 4 अरब 32 करोड़ तक प्रलय रहता है, जिसमें मात्र परमात्मा ही जीवित रहता है। शेष सृष्टि लय हो जाती है। कल्प के आरम्भ में पुनः श्री भगवान सृष्टि की रचना करते हैं। इस प्रकार यह सृष्टि का क्रम चलता रहता है। ब्रह्माजी की आयु के 100 वर्ष बीतने पर महाप्रलय हो जाती है। इस काल गणना का उल्लेख शास्त्रों में आता है। भगवद्गीता में भी इस प्रकरण का उल्लेख हुआ है।

जो मनुष्य ब्रह्मा को एक सहस्त्र (एक हजार) चतुर्युगी वाले एक दिन को तथा एक हजार चर्तुयुगी वाली रात्रि को जानते हैं वह मनुष्य ब्रह्मा के रात्रि और दिन को जानने वाले है। **(गीता/8/17)**

सृष्टि की उत्पत्ति समयानुसार होती है। इस तथ्य को श्रीभगवान ने श्रीगीताजी में स्पष्ट किया है। ब्रह्माजी का जब दिन आरम्भ होता है। तो उस समय ब्रह्मा जी के अव्यक्त शरीर से सम्पूर्ण प्राणी समुदाय उत्पन्न होता है और जब ब्रह्मा जी की रात्रि आरम्भ होती है तो वह उसी अव्यक्त शरीर में पुनः समाहित हो जाते हैं, विलीन हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण जीव मात्र पुनः–पुनः प्रकृति के अवश होकर ब्रह्मा के दिन में तो उत्पन्न होता है और ब्रह्मा की रात्रि में लुप्त हो जाता है। **(गीता/8/18–19)**

जिन 14 मनुओं का वर्णन पूर्व में किया गया है वे एक हजार चतुर्युगी तक एक समान समय तक प्रशासक के रूप में शासन करते हैं। पहले स्वाम्भुव मनु का शासन था और उसके पश्चात् अन्य मनुओं का शासन रहा। एक हजार चर्तुयुगी को चौदह से विभक्त कर देने पर एक मनु के हिस्से में 71 चर्तुयुगी से कुछ अधिक का समय आता है। प्रत्येक

मनु 71 चर्तुयुगी तक शासन करता है। काल गणना के अनुसार वर्तमान में 7वें मनु वैवस्वत मनु का शासन चल रहा है और आयु के क्रम में ब्रह्मा जी के पचास वर्ष पूरे हो चुके हैं तथा 51वें वर्ष में यह सृष्टि चल रही है।

उपरोक्त काल की गणना प्राचीन ग्रंथों में वर्णित की गई है जिसका उल्लेख भगवद्गीता में भी आया है। इस प्रकार भगवद्गीता इस काल की गणना को मान्यता प्रदान करती है। श्रीभगवान का इस प्रकरण को प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य काल की गति तथा स्थिति को समझे। यह मानव जीवन इस काल गणना के समक्ष नगण्य ही है। मनुष्य को इस तुच्छ और अल्पायु का प्रयोग श्रीभगवान के चिंतन और स्मरण हेतु करना चाहिए। यही मानव जीवन की उत्कृष्टता है। हमने यदि इस मानव जीवन की अल्पायु को सांसारिक सुख भोगों में समाप्त कर दिया तो हमें भविष्य में लौकिक और पारलौकिक जगत में कष्ट ही सहने पड़ेंगे। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को काल की गति को समझ कर श्रीभगवान का चिंतन स्मरण करके इस जगत से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

(10) मृत्यु के पश्चात् गति

प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु हजारों–लाखों बार हो चुकी है और यह जीवन जो आज हम जी रहे हैं वह भी अंततः मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। मनुष्य शरीर से जीव जब निकल जाता है तो यह शरीर निचेष्ट ओर क्रियाविहीन हो जाता हैं तथा उसकी चैतन्यता समाप्त हो जाती है, इस घटना को ही मृत्यु कहा जाता है। मृत्यु के उपरान्त यह जीव कहा जाता है? इस तथ्य का वर्णन भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से किया गया है। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर की पांच स्थितियां हैं–

(क) अधोगति :–

जो मनुष्य जीवनपर्यन्त दुष्कर्म करता है। शास्त्रविधि की अवहेलना करके समाज में नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित करता है और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करता है ऐसे लोगों की मृत्यु के पश्चात् दो गतियां होती हैं। 1–या तो वह अपने दुष्कर्मो के फल भोग हेतु नाना प्रकार के नर्को में यातानाऐं प्राप्त करने के लिए जाता है और उसे वहां पर भीषण यातनाएं सहनी पड़ती हैं। इन यातनाओं तथा नरकों का वर्णन अनेक शास्त्रों में विस्तार किया गया है। वहां से उनका अध्ययन कर लेना चाहिए। 2–या तो ऐसे दुष्कर्मी मनुष्यों को कीट, पशु, पक्षी, सर्प आदि की योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यह सबकी सब

नारकीय योनियां हैं। जहां पर कष्ट ही कष्ट है। इस कारण मनुष्यों को दुष्कर्मो का परित्याग कर देना चाहिए।

(ख) मध्य गति :—

जो मनुष्य संसार में आसक्त रहकर कर्मो का सम्पादन करते हैं तथा कुछ सकाम कर्म करते हैं। दैवी उपासना कुछ मानव कल्याण के कर्म फलेच्छा को दृष्टिगत् रखकर किये जाते हैं तो उसकी मृत्यु के समय राजसी भाव की प्रबलता रहती है। राजसी गुणों की प्रधानता में मनुष्य की मृत्यु जब हो जाती है तो वह पुनः इस जगत में अर्थात् मनुष्य लोक में जन्म ग्रहण करता है और मनुष्य शरीर धारण करता है। उसका मनुष्य शरीर का किस वर्ण में किस परिवार में प्रकटीकरण होगा? यह सब परमात्मा की कर्म व्यवस्था के आधार पर निश्चित किया जाता है। यह मध्यगति है जो मृत्यु के पश्चात् होती है।

(ग) उर्ध्व गति :—

पुण्यात्मा मनुष्य की जब मृत्यु होती है तो उसका सात्त्विक गुण पुष्ट होता है। अर्थात् मनुष्य सात्त्विक गुण की वृद्धि के बाद मृत्यृ को प्राप्त होता है तो उसे अनेक प्रकार के पुण्य लोकों में जाना पड़ता है। इस प्रकार की मृत्यु उत्तरायण में होती है। ऐसे मनुष्य उर्ध्वलोकों को जाते हैं। जब उनकी मृत्यु हो जाती है तो उन्हें अंधकार का अधिपति देवता अपने अधिकार में ले लेता है तथा अपने अधिकार क्षेत्र तक जीव को ले जाता है। उसके पश्चात् रात्रि का अधिपति देवता उस जीव को अपने अधिकार में ले लेता है और अपने क्षेत्र तक ले जाता है। रात्रि का अधिपति देवता उस जीव को कृष्णपक्ष के अधिपति देवता देता है। कृष्णपक्ष का अधिपति देवता दक्षिणायन के अधिपति देवता को सौंपता है। दक्षिणायन का अधिपति देवता चन्द्रलोक के अधिपति देवता को सौंपता है जहां पर जीव चन्द्र लोकों के दिव्य भोगों को भोगता है। यह कृष्ण माह कहा जाता है। इस प्रकार जीव बहुत समय तक दिव्य भोगों को भोगकर पुनः पृथ्वीलोक में मनुष्य रूप से जन्म ग्रहण कर लेता है।

(घ) अपुनरावृत्ति गति :—

जब विशिष्ट साधक की मृत्यु उत्तरायण में होती है तो उसे जीवन मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी को शुक्ल माह कहा जाता है। ऐसे साधकों की मृत्यु के पश्चात् सर्वप्रथम अग्नि देवता अपने अधिकार में ले लेता है। अग्नि देवता अपने अधिकार क्षेत्र तक जीव को ले जाकर दिन के देवता को सौंपते हैं दिन का देवता जीव को शुक्ल

पक्ष के देवता को सौंपता है। शुक्लपक्ष का देवता उत्तरायण के देवता को सौंपता है और उत्तरायण का देवता ब्रह्मलोक के देवता को सौंपता है। इस क्रम में ब्रह्मवेत्ता महापुरूष परमपद को प्राप्त हो जाता है। यह गति आवागमन से मुक्त होती है। अर्थात् जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाने वाली है। इसलिए इसे अपुनरावृत्ति गति कहते हैं। यह गति अत्यंत दुर्लभ है जो माया की दुष्तरता को पार कर जाते हैं वे इस अपुनरावृत्ति गति को प्राप्त कर लेते हैं।

(ङ) भगवद्भक्तों की गति :–

जो भक्तभगवान का नित्य निरन्तर सतत स्मरण करता रहता है तथा श्रीभगवान के आश्रय में ही रहता है और भगवान को अपना इष्ट मान कर सर्वप्रकारेण उनकी ही पूजा उपासना किया करता है। उन परमप्रेमी भगवद्भक्तों को मृत्यु के पश्चात् श्रीभगवान अपने पार्षद के रूप में साथ रखते हैं और वे परमपद को प्राप्त होकर श्रीभगवान के निकट वास करते हैं। यह विशिष्ट व्यवस्था मात्र दुर्लभ भक्तों के लिए ही है। श्रीभगवान इसी तथ्य को मुक्त कंठ से कहते हैं **मद्भक्तः यान्ति ममापि ।**

इस प्रकार मृत्यु के उपरान्त जीव की पांच स्थितियां होती हैं जिन्हें समझ कर साधक को अपनी इच्छानुसार गति का विनिश्चय करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि जो मानव शरीर उसे प्राप्त हुआ है उस मानव शरीर से श्रीभगवान का नित्य निरन्तर स्मरण करके मुक्ति को प्राप्त कर ले, यही मानव जीवन का अभीष्ट उद्देश्य है।

(11)शरीर विज्ञान

भगवद्गीता के ज्ञान को ग्रहण करने के लिए शरीर के ज्ञान का होना परमावश्यक है। शरीर में क्या है ? इसका निर्माण कैसे होता है? इसके अंग किस प्रकार कार्य करते हैं? और शरीर की क्या क्रियाविधि है? इन समस्त तथ्यों का ज्ञान परमावश्यक है। चिकित्सा विज्ञान में जैसे शरीर का वर्णन होता है, वैसा अध्यात्मिक विज्ञान में नहीं होता। चिकित्सा विज्ञान में शरीर के बाह्य और आंतरिक अंगों की क्रियाविधि रचना तथा उसके कार्य एवं प्रभाव का वर्णन आता है। अध्यात्म विज्ञान में वैसा नहीं होता। अध्यात्मिक ज्ञान में मानव शरीर को तीन अंगों में बांटा गया है। जिन्हें समझ कर अध्यात्मिक विषयों को हम सरलता से समझ सकते हैं। शरीर के तीन प्रकार हैं–

(क) स्थूल शरीर : यह शरीर जाग्रत अवस्था में अर्थात् जागने के समय प्रतीत होता है।

(ख) सूक्ष्म शरीर : यह शरीर स्वप्न अवस्था में अर्थात् जब हम स्वप्न देखते हैं तो प्रतीत होता है।

(ग) कारण शरीर : यह शरीर सुषुप्ति अवस्था में अर्थात् सोने के समय प्रतीत होता है। इसमें इन्द्रियों, मन, बुद्धि की समस्त क्रियाऐं शान्त हो जाती हैं और बुद्धि भी कार्य करना समाप्त कर देती है।

उक्त तीनों शरीरों के सम्बंध में वर्णन निम्न प्रकार है।

(क) स्थूल शरीर– मानव शरीर में सात धातुऐं होती है जिन्हें– 1.मज्जा 2. अस्थि 3. मेद 4. मांस 5.रक्त 6.चर्म तथा 7. त्वचा कहते हैं। इन सात धातुओं का विस्तृत विवरण आयुर्वेद ग्रन्थों में आता है। मानव शरीर के निर्माण में उक्त सात धातुओं का आधारभूत कार्य है । मानव शरीर हमें हाथ, पैर, उदर, पीठ, मुख, ग्रीवा, मस्तक के रूप में प्रतीत होता है। ऊपर से दिखने वाला ये मानव शरीर हमें ऑखों से प्रतीत होता है और जो शरीर प्रतीत होता है अर्थात् दिखाई पड़ता है उसे स्थूल शरीर कहा जाता है। इस शरीर के निर्माण के आधारभूत तत्त्व हैं– आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी। इन्हे पंचमहाभूत कहा जाता है। इन पंचमहाभूतों के भागों के आपसी संयोग से ये स्थूल शरीर बनता है। उक्त पंच महाभूतों की तन्मात्राएं क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध हैं। ये तन्मात्राऐं ही ज्ञानेन्द्रियों के विषय हो जाते हैं। ये इस कारण है क्योंकि पंचमहाभूतों से ही शरीर निर्मित होता है।

स्थूल शरीर जो हमें प्रतीत होता है उसमें कर्मेन्द्रियॉ तथा ज्ञानेन्द्रियॉ हमें दिखाई पड़ती हैं हम उन्हें स्पष्टरूप से देख सकते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार प्रतीत तो नहीं होता वह अव्यक्त रहता है। अव्यक्त रहकर भी उसका आभास किया जा सकता है। इन्द्रियों के परे मन है और मन के परे बुद्धि है। मन इन्द्रियों का स्वामी है तथा बुद्धि से मन को नियंत्रित किया जाता है इस कारण बुद्धि को मन का स्वामी जानना चाहिए। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में बुद्धि की प्रतीति होती है। बुद्धि मन को जानती है तथा इसको नियंत्रित भी कर सकती है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में बुद्धि पूर्णरूपेण सजग रहकर मन को नियंत्रित रखती है तथा पल–प्रतिपल किये जा रहे मानव कार्यों में सहयोग करती है। बुद्धि जाग्रत अवस्था में विशिष्ट तत्त्व है जिस पर मनुष्य का सम्पूर्ण कार्य भी आधारित है। बुद्धि की जो शक्ति मानव जीवन के कार्यों को सुचारूरूप से सम्पादित करती है उसे विवेक कहा जाता है। यही बुद्धि की शक्ति विवेक जब विकृत हो जाती है तब मानव असामाजिक कार्यों को स्वतः ही प्रवृत्त हो जाता है और समाज उसे कहता है कि मनुष्य विवेकहीन हो गया।

जाग्रत अवस्था में इस प्रकार आप बुद्धि की महत्ता को समझ गये होगें। इस संबंध में ये तथ्य स्पष्ट कहना चाहूँगा की जाग्रत अवस्था में बुद्धि के बिना मनुष्य कोई भी कार्य सम्पादित नहीं कर सकता है। उसका सम्पूर्ण कार्य ही बुद्धि की क्रियाशीलता पर आधारित है। मानव जो भी करना चाहता है उसमें बुद्धि की स्वीकृति होती है, उसकी स्वीकृति के बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए बुद्धि की स्वीकृति तथा उसके दिशा निर्देश की आवश्यकता होती है। जैसे हम किसी स्थान पर जाते हैं तो पथ का विनिश्चय बुद्धि ही करती है। ये मार्ग सही है ऐसा बुद्धि ही बताती है। इसी प्रकार किसी भी कार्य के सम्पादन में बुद्धि ही पथ प्रदर्शक का कार्य करती है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि की क्रियाशीलता और उसके अस्तित्त्व को स्वीकार किया जा सकता है।

(ख) सूक्ष्म शरीर– मानव शरीर का दूसरा प्रकार सूक्ष्म शरीर है। ये स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है, भासता है। इस शरीर में निम्न तत्त्व होते हैं–

1. मन 2. बुद्धि 3. अहंकार (पांच कर्मेन्द्रिया) 4.वाक् 5. हस्त 6.पाद 7.उपस्थ 8.पायु (पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ) 9.कर्ण 10. नेत्र 11.जिह्वा 12. त्वचा 13.नासिका (पंच महाभूत) 14. आकाश 15. अग्नि 16. जल 17. वायु 18 पृथ्वी (पंच प्राण)–19 प्राण 20. अपान 21.उदान 22. ब्यान 23. समान 24 अज्ञान जो भासता है पर वस्तुतः नहीं होता तथा 25.कर्म जो होता प्रतीत होता है पर वस्तुतः नहीं होता। चित्त को भी विद्वान लोग इसी शरीर का अंश मानते है। क्योंकि स्वप्नावस्था में चिंतन का अर्थात् ये कार्य उचित है अथवा अनुचित है ऐसा चिंतन हो जाता है।उसी चिंतन के अनुकूल मनुष्य स्वप्नावस्था में कार्य भी करने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है

स्वप्नावस्था में बुद्धि जाग्रत अवस्था की भॉति कार्य करती है। जब आप स्वप्नावस्था के कार्य होने का, आभास होने का अनुभव करें तथा उस पर विचार करें। स्वप्नावस्था के संबंध में निम्न तथ्य प्रस्तुत हैं जो विचारणीय है–

1– पैरों से चलने का कार्य होता है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम जाग्रत अवस्था की भॉति अनुगमन कर रहे हैं । पैरों से चलने की क्रिया तथा भयभीत होकर पैरों द्वारा भागने की क्रिया होती है। इस कारण पाद नामक कर्मेन्द्रिय कार्य कर रही है, ऐसा स्पष्ट है। स्वप्नावस्था में पैर कार्य करते हैं

2– पैरों की तरह हाथ भी स्वप्नावस्था में कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। हम जो जाग्रत अवस्था में हाथों से कार्य करते हैं, वैसा ही स्वप्नावस्था में भी कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण हस्तरूपी कर्मेन्द्रिय भी स्वप्नावस्था में कार्य करती है ऐसा आभास होता है।

3– वाक् नामक कर्मेन्द्रिय भी स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की भॉति ही कार्य करती है। हम बोलते हैं, बातचीत करते हैं, भयभीत होने पर चीखते हैं।

सोते हुए व्यक्ति अचानक कुछ कहने, चीखने लगता है। ये स्वप्नावस्था में जो हमें प्रतीत हो रहा है वैसा हम वाणी से कहते हैं। अधिकांशतः तो वाणी शांत रूप से रहती है कभी–कभी वाकेन्द्रिय स्वप्न की बात–चीत को प्रकट कर देती है। इससे स्पष्ट है कि स्वप्नावस्था में वाकेन्द्रिय भी कार्य करती है और शेष कर्मेन्द्रियॉ भी अपने–अपने गुणों के अनुरूप कार्य करती हैं।

4– स्वप्नावस्था में कर्मेन्द्रियों की तरह ज्ञानेन्द्रियॉ भी कार्य करती हैं। कानरूपी ज्ञानेन्द्रिय से घटनाओं का और बातचीत का स्पष्ट श्रवण होता है। जो घटनाएं होती हैं उनके शब्द हमें स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। शब्दों को सुनकर ही हम स्वप्नावस्था में कार्यो का सम्पादन करते है, अर्थात् बातचीत से उसका स्पष्ट उत्तर देते है। इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय भी स्वप्नावस्था में कार्य करती है।

5– स्वप्नावस्था की विलक्षण प्रतीति है देखना। नेत्र बहुत स्पष्ट रूप से वैसा ही देखते है, जैसा हम जाग्रतवस्था में देख सकते हैं। स्वप्नावस्था में ऑखें दूर की वस्तुओं को भी देख लेती है। नेत्र का कार्य जाग्रत अवस्था से कम स्वप्नावस्था में नहीं होता है। वातावारण, परिस्थिति, घटनाओं के आधार पर नेत्र कार्य करते है। वैसे ही कार्य करते हैं, वैसी ही प्रतीति होती है जैसी जाग्रतवस्था में होती है।

6– हम जाग्रत अवस्था में भोजन करते हैं, वैसा ही भोजन करने का आभास हमें स्वप्नावस्था में भी होता है। स्वाद का भी अनुभव हमारी जिह्वा उसी प्रकार कर लेती है जैसी जाग्रत अवस्था में करती है। एक विशेष बात ये है कि भोजन आरम्भ करने का भूख के समाप्त होने का और भोजन के समापन के कार्य की प्रतीति भी स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की भॉति होती है।

7– त्वचा से स्पर्श का आभास होता है, क्योंकि स्पर्श ही त्वचा का गुण है। मुलायम वस्तु, कठोर वस्तु, गर्म और ठण्डी वस्तुओं का और वातावरण का आभास हमें त्वचा कराती है। जाग्रत अवस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी त्वचा वैसा ही कार्य करती है और उसी प्रकार तरह से वस्तुओं के गुणों का आभास करती है जैसा की जाग्रत में करती है।

8– जाग्रत अवस्था जैसी गन्ध का आभास हमारी नासिका करती हैं वैसी ही गंध का आभास हमारी नासिका स्वप्नावस्था में भी कर लेती है। इस गंध के अनुभव में अंतर की

प्रतीति हमें नहीं होती है। फूलों अथवा सुगन्धित द्रव्यों की गंध का आभास करके प्रशंसा का स्पष्ट अनुभव करना स्वप्नावस्था का विलक्षण कार्य है।

9— स्वप्नावस्था में पंच महाभूतों अर्थात् आकाश, अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी की प्रतीति वैसी ही होती है जैसी जाग्रत अवस्था में होती है। स्वप्नावस्था में आकाश प्रतीत होता है तथा उसकी तन्मात्रा शब्द का अनुभव रहता है। अग्नि का आभास और उसकी तन्मात्रा रूप का आभास रहता है। इसी प्रकार जल की तन्मात्रा रस का आभास रहता हैं और उसके ग्रहण कर लेने से पिपाशा का भी अंत हो जाता है। इस प्रकार हम जाग्रत अवस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी शब्द रूप रस का आभास करते हैं। वायु के झकोरों तथा उसकी तन्मात्रा स्पर्श का अनुभव स्पष्ट रूप से हमें स्वप्नावस्था में होता हैं। पृथ्वी पर चलने का आभास तथा उसकी तन्मात्रा गंध का आभास भी हमें स्वप्नावस्था में होता है। पूर्व में यह वर्णित किया जा चुका है कि पंच महाभूतों के मिश्रण से ही इस शरीर का निर्माण होता है और स्थूल और सूक्ष्म शरीर में सहधर्मिता होने के कारण पंच महाभूतों की वैसी प्रतीति स्वप्नावस्था में भी होती है जैसी की जाग्रत अवस्था में होती है। यह विशेष बात है कि पंचमहाभूतों से निर्मित पदार्थ दोनों अवस्थाओं में एक समान ही प्रतीत होते हैं।

10— मानव शरीर में मुख्य प्राण पांच प्रकार के होते हैं :—

जिन्हें प्राण, अपान, उदान, ब्यान, समान कहा जाता है। प्रत्येक का पृथक्—पृथक् कार्य और स्थिति है। उपरोक्त पंच प्राण स्वप्नावस्था में भी प्रतीत होते हैं। जैसे हम स्वप्नावस्था में ये अनुभव करते हैं कि हम जीवित हैं और हमारी प्राणवायु निरंतर अबाध और अविरल गति से चल रही है। उक्त वायु का और उसकी क्रियाविधि का आभास हमें होता रहता है। यहॉ पर एक तथ्य प्रसंगवश कह देना आवश्यक हैं कि प्राण के छः प्रकार के धर्म है जिनका जाग्रत अवस्था में हम आभास करते हैं। ये धर्म हैं—

1. कम्पन अर्थात् शरीर का कांपना 2. छींक का आना 3. जम्हाई का प्रकट होना 4. श्वांस—प्रश्वास की अबाध गति रहना 5. उछलकूद आदि की चेष्टाएं 6.क्षुधा—पिपाशा अर्थात् भूख प्यास का होना भी प्राणों के कारण होता है। यह समग्र प्रक्रियाएं जाग्रत अवस्था में हमें स्पष्ट रूप से हमें प्रतीत होती है, वैसी ही हमें स्वप्नावस्था में भी प्रतीत होती हैं।

11— जाग्रत अवस्था तथा स्वप्नावस्था में क्या अंतर है। यह तथ्य विचारणीय है । वैसे तो स्वप्नावस्था में जो कार्य होता है वैसा ही जाग्रत अवस्था में होता है पर जाग्रत अवस्था में जो कार्य होता हैं वह अस्तित्त्व में आता है पर स्वप्नावस्था का कार्य स्वप्नावस्था में हुआ

प्रतीत तो होता है पर उसका अस्तित्त्व जाग्रत अवस्था में नहीं रह पाता हैं। हमें स्वप्नावस्था में जिस कार्य की प्रतीति जाग्रत अवस्था की तरह होती है। उसका कारण अज्ञान है। अर्थात् अज्ञान के कारण ही स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की तरह आभास करते हैं। मृग मरीचिका के जल की प्रतीति की तरह से अज्ञान ही ये कार्य करता है। इस कारण अज्ञान या अविद्या जो वस्तुतः नहीं है पर उसका हमें आभास होता हैं, ये सूक्ष्म शरीर का अंग हैं।

12— जाग्रत अवस्था की भॉति स्वप्नावस्था में भी कर्म होते हैं। साधारणतया इस तथ्य को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कर्म का सम्पादन होता है। कार्य तो स्वप्नावस्था में सभी प्रकार से होता है पर उस कार्य का अस्तित्त्व नहीं रहता है। स्वप्नावस्था के कार्य का हम आभास करें तो पाते हैं कि स्वप्न सूक्ष्म शरीर की एक विलक्षण प्रक्रिया है। सोने की स्थिति में जब हमारा स्थूल शरीर शांत हो जाता है, अक्रिय हो जाता है, तब हम सूक्ष्म शरीर से स्वप्न की अर्थात् एक विशिष्ट स्थिति की प्रतीति करते हैं। यह प्रतीति एकदम स्पष्ट होती है। सम्पूर्ण कार्य जाग्रत अवस्था की भॉति सुस्पष्ट होता रहता है। ये परमात्मा का शरीर निर्माण का एक विलक्षण कार्य हैं, जो है नहीं उसे आभास करा देना, जो कल्पित है उसकी प्रतीति करा देना एक दुष्कर एवं विलक्षण कार्य हैं। जादू की तरह से है। स्वप्नावस्था में हमारा स्थूल शरीर कहीं नहीं जाता और स्वप्न मे जाग्रत अवस्था की तरह समस्त कार्य होते हैं इसे आश्चर्यजनक ही कहा जाएगा।

13— परमात्मा की अपराप्रकृति के छठे तत्त्व मन के विषय में पूर्व में भी वर्णन किया जा चुका है। इसकी विलक्षणता का वर्णन हम पूर्व में भी कर चुके हैं। मानव शरीर में मन एक विशेष तत्त्व हैं जिसकी अलौकिकता, प्रमथनशीलता, चंचलता, कल्पनाशीलता और तीव्र गति का हम स्पष्ट आभास करते हैं। मन जो—जो कार्य जाग्रत अवस्था में करता हैं वह वह स्वप्नावस्था में भी कर देता है। किसी विषय को जानना, उसे संज्ञान में ले लेना, उसके संबंध में प्रतिक्रिया व्यक्त कर देना, किसी वस्तु की कल्पना कर लेना, इन्द्रियों के सहयोग से या अकेले ही विषयों के सुख का अनुभव कर लेना जैसा जाग्रत अवस्था में होता है वैसा ही स्वप्नावस्था में भी होता है।

14— हम कामना, क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह, दंभ, मिथ्याचारिता, दर्प, ईर्ष्या, अन्याय, अक्षमा, उग्रकर्म, शोक, भोगवृत्ति, अनुसूया, पाखंड, अमर्यादा, अतिमानता, व्यर्थाशा, शत्रुताभाव आदि अवगुणों की जिस प्रकार की अनुभूति जाग्रत अवस्था में हमें होती हैं वैसी ही स्वप्नावस्था में भी रहती है। हमने स्वप्न की अवस्था में स्वयं आभास किया होगा की हम यदि कोई भी कार्य करते हैं तो मन का पूर्ण सहयोग उस स्वप्न की अवस्था में लगातार रहता हैं।

अनुकूल और प्रतिकूल कार्यो का व्यवहार और आचारण का सभी प्रकार के तथ्यों को मन वैसा ही विचार करता है, जैसा की जाग्रत अवस्था में विचार करता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी व्यक्ति से बातचीत करते हैं तो हमारा मन स्वप्नावस्था में बातचीत में पूरा सहयोग करता है। हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हम स्वप्नावस्था में हैं। मन के सम्पूर्ण संकल्प यथावत् होते रहते हैं । सामान्य व्यक्ति तथा साधक के मन की स्थिति जाग्रत और स्वप्न में सामान्य रहती है तथा उत्कृष्ट साधक एवं सिद्ध की मन की स्थिति का परिवर्तन स्वप्नावस्था में हो जाता है। ऐसा उसे आभास होता है। नियंतित्रत और अनियंत्रित मन ही स्वप्न की अवस्था में पृथक्–पृथक् परिणाम देता हैं। ये सबका सब अनुभूति का विषय है, जिसे उत्कृष्ट साधक जान लेता है और आभास कर लेता है।

15– स्वप्नावस्था में बुद्धि वैसे ही कार्य करती है जैसे की जाग्रत अवस्था में हो , इन्द्रिय तथा मन जो कुछ भी विषय भोगों के बारे में, सांसारिक चेष्**टा**ओं के बारे में जो भी विचार करते हैं उसका विनिश्चय बुद्धि कर देती है। जैसे हम स्वप्नावस्था में कोई बातचीत करते हैं तो कान के माध्यम से मन उस कहें गये शब्दों को स्वीकार कर लेता हैं और बुद्धि मन के सहयोग से वाणी द्वारा उसका सम्यक् उत्तर प्रस्तुत कर देती है। इससे स्पष्ट हैं कि बुद्धि की निश्चयात्मक शक्ति अर्थात् विकल्प प्रस्तुत करने के जैसे कार्य जाग्रत अवस्था में बुद्धि करती है, ठीक वैसा–वैसा ही स्वप्नावस्था में भी करती है । यहॉ पर एक तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वप्नावस्था के कार्य की स्मृति उतनी प्रबल नहीं होती है, जैसे की जाग्रत अवस्था के कार्यों की होती है। स्वप्नावस्थ के कार्य धीरे–धीरे स्वतः अस्पष्ट होने लगते हैं और उनके सम्पादन की स्मृति धीरे–धीरे मिटने लगती है। ये मन बुद्धि के कार्य का जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्था का अंतर है। स्वप्नावस्था के समस्त कार्यो का नियंत्रण निरीक्षण, अनुमति का कार्य बुद्धि के द्वारा पूर्णरूपेण किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाता तो स्वप्नावस्था के कार्य्रो का अज्ञान जनित सम्पादन सम्पन्न नहीं होगा।

16– स्वप्नावस्था में अहंकार की प्रतीति रहती है। आभास होता रहता है हमें कोई अपशब्द कहता है तो तत्काल हमारा स्वाभिमान जाग्रत हो जाता है और अहम भाव के कारण उसे हम तत्काल उसका उचित प्रतिकार प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु के स्वामित्व के विषय में विचार करते हैं तो अहम् भाव भी स्वप्नावस्था में वैसे ही प्रतीत होता हैं जैसे की जाग्रत अवस्था में रहता है। मैं और मेरा का भाव, तू और तेरा का भाव स्पष्टरूपेण स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की भॉति रहता है। इससे अहंकार की प्रतीति होती है।

ग– सुषुप्ति अवस्था में व्यक्त होने वाला कारण शरीरः–

जाग्रत तथा स्वप्नावस्था का वर्णन पूर्वोक्त प्रकार से किया जा चुका है। इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त शरीर की तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। अर्थात् जब हम सोते हैं तो उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर की अभिव्यक्ति होती है। जब हम न तो जागते हैं और न ही स्वप्न देखते हैं तो सोते हैं। इस सोने की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। सोते समय बुद्धि का सम्पूर्ण कार्य शांत हो जाता है। अर्थात् बुद्धि की निश्चयात्मक शक्ति समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में मन के द्वारा संकल्प न होने के कारण बुद्धि के द्वारा विकल्प भी नहीं किया जाता हैं। बुद्धि की समस्त वृत्तियॉ तथा विचार की कार्य शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि रहती है परन्तु उसकी चेष्टा, कार्य, वृत्ति चेष्टा विहीन हो जाती है। मनुष्य सुषुप्ति में किसी तथ्य को संज्ञान में नहीं ले सकता क्योंकि संज्ञान में लेने वाली दो प्रमुख शक्तियॉ मन और बुद्धि की ये अक्रिय अवस्था आ जाती है। किसी भी वस्तु, विचार, तथ्य, विषय को संज्ञान में हम इन्द्रियों तथा मन बुद्धि से लेते हैं। ये संज्ञानता के प्रमुख आधार है परन्तु सुषुप्ति अवस्था में संज्ञानता के तीनों आधार भूत तत्त्व इन्द्रियॉ, मन तथा बुद्धि कार्य करना ही समाप्त कर देते हैं। ऐसी स्थिति में जगत में जो कुछ हो रहा है वो हमे आभास नहीं होता। यही स्थिति कारण शरीर की कही जाती है।

1– सुषुप्ति अवस्था एक प्रकार की शरीर की अवचेतन अवस्था है। सुषुप्ति के पश्चात् जब शरीर जागता है अर्थात् जाग्रत अवस्था को प्राप्त होता है तो बुद्धि ये तथ्य जानती है कि हम सोए थे अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में रहे थे। इस कारण ये स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि बीज रूप में उपस्थिति रहती है। तभी वह सुषुप्ति अवस्था को संज्ञान में लेती है। सुषुप्ति अवस्था में जगत में क्या कार्यकलाप हो रहे हैं यह हम नहीं जानते हैं। तभी तो किसी घटना के हमारे सोने के समय घट जाने पर हम ये कहते हैं कि हम तो सो गये थे इस कारण हम जान नहीं पाये। इससे ये स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था में अर्थात् कारण शरीर में बुद्धि की पूर्ण निचेष्टता रहती है।

2–बुद्धि का कार्य न तो जाग्रत अवस्था में समाप्त होता है और न ही स्वप्नावस्था में। उसका नियंत्रण दोनों अवस्थाओं में समाप्त नहीं होता है। इन्द्रियों तथा मन के कार्य पर बुद्धि पूरी तरह से नियंत्रण रखती है तथा उनके कार्यों को स्वीकृति तथा अनुमोदन प्रदान करती है। बुद्धि जब अनियंत्रित इन्द्रियों तथा मन को अपना मूक समर्थन देती है तभी मनुष्य असामाजिक और अनैतिक कार्यों की ओर उन्मुख हो जाता है। ये सबका सब प्रपंच

सुषुप्ति अवस्था में पूर्णरूपेण समाप्त हो जाते हैं। परमात्मा ने सुषुप्ति अवस्था की व्यवस्था इस कारण की है क्योंकि शरीर, इन्द्रियॉ, मन तथा बुद्धि नित्यप्रति के कार्यों से थक जाते हैं। ये प्रातः से रात्रि तक कार्य करके विश्राम की इच्छा रखते हैं। इस विश्राम के समय में शरीर जब सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तो उसे कार्य करने की एक नई ऊर्जा प्राप्त हो जाती है।

3–परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था के प्रकटीकरण का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है कि वह मनुष्य को प्रातः तरोताजा करके कर्म में लगाने की ऊर्जा प्रदान करता है। मनुष्य जड. मशीन की तरह बिना रूके कार्य नहीं कर सकता। इस कारण इसके लिए परमात्मा ने ऊर्जा संग्रहण हेतु सुषुप्ति अवस्था की व्यवस्था की है। सुषुप्ति में जहॉ हम अपने अगले दिवस के कार्य करने के लिए उर्जा प्राप्त कर लेते हैं वहीं हमारा शरीर दिन–प्रतिदिन क्षीण भी होता जाता है। यह दोनों विरोधी कार्य हैं तथा प्रतिकूल परिस्थितियॉ हैं। सुषुप्ति अवस्था में जहॉ एक ओर शरीर नवीन उर्जा प्राप्त करता है वहीं समय के साथ वह विनाश अर्थात् वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होकर मृत्यु की ओर बढ़ जाता है। ये प्रतिकूल व्यवस्था परमात्मा की प्रकृति द्वारा रचित है जिसे हम प्रकृति के अधीन रहने के कारण मानने के लिए बाध्य हैं। हम नित्य प्रति विनिष्ट हो रहे हैं इसके रोक पाने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं।

(12) दैवी और आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूषों के लक्षण

इस संसार में दो ही प्रकार के पुरूष हैं जिन्हें दैवी और आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूष कहा जाता है। भगवद्गीता में इन दोनों प्रकार के पुरूषों का पृथक्–पृथक् वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसी आधार पर दैवी और आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूषों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरूष के लक्षण :–

आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूषों के लक्षण विशेष होते हैं जिन्हें देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि अमुक व्यक्ति आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुआ पुरूष है। आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूष में तमोगुण की प्रधानता होती है और रजोगुण भी प्रबलता से रहता है। इसी कारण वे अनेक प्रकार के असमाजिक, अवैधानिक और अनैतिक और शास्त्रों के प्रतिकूल कर्मो का सम्पादन किया करते हैं। श्रीभगवान ने आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूषों की विवेचना प्रस्तुत की है जो निम्न प्रकार है–

(एक) जगत असत्य हैः—

आसुरी स्वभाव के पुरूष जगत को असत्य मानते हैं, वे अपने विचारों को सत्य समझते हैं। आसुरी स्वभाव के पुरूषों की यह स्थिति भोगवृत्ति में संलग्नता के कारण हो जाती है। वे जगत का, जगत की वस्तुओं के आनन्द का उपभोग ही सत्य मानते हैं। उनके विचार में जो कुछ खाना पीना और उपभोग करना है वही सत्य है। शेष जगत असत्य है। यह आसुरी स्वभाव वाले पुरूषों का मूल विचार रहता है।

(दो) जगत प्रतिष्ठा विहीन है :—

आसुरी स्वभाव के मनुष्य जगत को प्रतिष्ठा रहित मानते हैं। इन मनुष्यों का यह सिद्धान्त रहता है कि यह जगत उत्पन्न होता है और संसार में रहकर एक निश्चित अवधि में समाप्त हो जाता है। यह क्रिया चलती रहती है। यह सबका सब अपने आप चला करता है। इस प्रकार उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। यह सिद्धान्त मानने वाले आसुरी स्वभाव के पुरूष विशेष होते हैं।

(तीन) जगत ईश्वरविहीन है :—

आसुरी स्वभाव के मनुष्यों की यह अवधारणा पुष्ट रहती है कि यह जगत ईश्वर के नियंत्रण में संचालित नहीं है। इस अवधारणा की पुष्टि के कई कारण हैं। आसुरी स्वभाव के लोग अपने कर्मो के कारण प्रतिकूल स्थितियों में रहते हैं। इस कारण उनकी यह अवधारणा और पुष्ट हो जाती है। उनका यह विचार रहता है कि यदि ईश्वर होता तो हमें दुख नहीं प्राप्त होता। उनकी दृष्टि अपने दुष्कर्मो की ओर न जाकर अपने दुःखों के परिणाम की ओर जाती है। इस कारण उनके मन में यह अवधारणा पुष्ट हो जाती है कि ईश्वर इस जगत में नहीं है अर्थात् यह जगत ईश्वरविहीन है।

(चार) सांसारिक कामनाओं की पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य है :—

आसुरी स्वभाव के पुरूषों में यह भावना पुष्ट हो जाती है कि इस जीवन का लक्ष्य सांसारिक कामनाओं की प्राप्ति ही है। संसार में जो भोग वस्तुऐं हैं वे उनके संग्रह का प्रयास करते हैं। सांसारिक भोगों की सीमा नहीं है और वह असंख्य हैं। इस कारण असंख्य भोग पदार्थो के संग्रह करने के लिए अधिकांश आसुरी स्वभाव के लोग अनैतिक उपायों को अपनाते हैं। अपने जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण जीवन प्रतिशील रहते हैं। जीवन में कामनाओं का अंत नहीं होता है। इस कारण भोग पदार्थो के संग्रह की भी कोई

सीमा नहीं हैं इसलिए आसुरी स्वभाव के मनुष्य जीवनपर्यन्त ही किसी कार्य में संलग्न रहते हैं। इन आसुरी स्वभाव के पुरूषों की यह विशेष अवधारणा है।

(पांच) मर्यादाविहीन आचरण :–

आसुरी स्वभाव के पुरूष अमर्यादित आचरण करते हैं। मर्यादाविहीन आचरण इनका विशेष अवगुण होता है। समाज में मनुष्य के आचरण को परिभाषित किया गया है और संयमित आचरण की व्याख्या भी की गई है। हमें समाज में क्या करना है? क्या नहीं करना है? इसका मनुष्य को अधिकांशतः ज्ञान रहता है। परन्तु जो आसुरी स्वभाव के मनुष्य हैं वे ज्ञान रहते हुए भी भोगवृत्ति से प्रेरित होकर मर्यादाविहीन आचरण करते हैं। कर्तव्य कर्मो का व्यवहार छोड़कर अकर्तव्य कर्मो का व्यवहार करना ही मर्यादाविहीन आचरण समझा जाता है। इस प्रकार मर्यादाविहीन आचरण आसुरी स्वभाव के पुरूषों का विशेष लक्षण है।

(छः) अनावश्यक कार्यो में प्रवृत्ति :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्य अनावश्यक कार्यो को अधिक महत्व देकर उनका क्रियान्वयन करते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन के कर्तव्य कर्मो का विनिश्चय शास्त्रों के द्वारा किया गया है। हमें क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए, यह शास्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट रूप से वर्णित है। आसुरी स्वभाव के मनुष्य उन कर्मो का सम्पादन करते हैं जो उन्हें नहीं करने चाहिए और ऐसे अशास्त्रविहीत कर्मो के सम्पादन में रूचि रखते हैं। उनके द्वारा जो कर्म किये जाते हैं उनसे समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाती है। इस कारण आसुरी स्वभाव के पुरूषों की समाज में अनावश्यक कार्यो में रूचि होती है।

(सात) अशुद्धि :–

आसुरी स्वभाव के पुरूषों का यह विशिष्ट अवगुण है। प्रतिदिन के नियमित कार्यो में वे शुचिता नहीं रखते हैं। प्रतिदिन समय से न जागना। स्नान न करना, प्रत्येक स्थिति में भोजन कर लेना आदि आदि बाह्य अशुचिता रहती है। मन में दूसरों की हानि के बारे में विचार रखना, ईर्ष्या–द्वेष रखना यह आन्तरिक अशुद्धि है। इस प्रकार आसुरी स्वभाव के लोग तमोगुण से आच्छादित होकर अशुद्धि विशेष रखते हैं।

(आठ) असत्य पालन :–

आसुरी स्वभाव के पुरूष सत्य का आचरण नहीं करते हैं। उनके जीवन में असत्य के आचरण की प्रमुखता रहती है। प्रतिदिन के आचरण में आसुरी स्वभाव के मनुष्य सही

व्यवहार नहीं करते हैं। बातचीत, व्यवहार, कर्म सभी में असत्य आचरण झलकता है। मन में कुछ विचार रहता है और प्रकट में अन्य व्यवहार रहता है। मन के विचार में, वाणी में, कार्य में प्रतिकूलता का होना ही असत्य आचरण कहलाता है। आसुरी स्वभाव के मनुष्य मन में पृथक् विचार रखते हैं और उस विचार को वाणी से प्रकट नहीं करते हैं, इसलिए आन्तरिक और बाह्य व्यवहार में अन्तर रहता है। असत्य का आचरण आसुरी स्वभाव वाले पुरूषों का विशेष लक्षण है।

(नौ) अल्प बुद्धि :–

परमात्मा आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों को अल्प बुद्धि ही देते हैं, जिसके कारण वे कर्तव्य अकर्तव्य का सही सही विनिश्चय नहीं कर पाते हैं। बुद्धि से सम्यक् विनिश्चय न होने के कारण जो कार्य वह करते हैं वह ठीक प्रकार से नहीं होता है। वस्तुतः तमोगुण से आवृत होने के कारण ऐसे आसुरी स्वभाव के पुरूषों में अज्ञान विशेष रहता है और वे अज्ञान से आच्छादित होकर अपनी बुद्धि का विनाश कर लेते हैं। इसलिए अल्प बुद्धि के कारण आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपने कर्मो का सही सही विनिश्चय भी नहीं कर पाते हैं और न ही उसका क्रियान्वयन कर पाते हैं।

(दस) उग्रकर्म :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्य उग्रकर्मो में लगे रहते हैं। यह स्वभावतः होता है। लूट, हत्या, डकैती, प्रताड़ना, दुष्कर्म आदि में अपने स्वभाव से संलग्न हो जाते हैं। तामसी गुणों की अधिकता के कारण ऐसे मनुष्यों में उग्रकर्मो की प्रधानता रहती है। समाज में असामाजिक कार्यो का सम्पादन करना उनका मुख्य कर्म होता है। इस कारण उग्रकर्मी के स्वभाव के लोग आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं।

(ग्यारह) जगत अहिता :–

आसुरी स्वभाव के लोग संसार तथा सृष्टि के जीवों का अहित चाहते हैं। असमाजिक कार्य करके समाज में विध्वंसात्मक कार्य करना उनकी प्रवृत्ति में रहता है। किसी मिथ्या सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण करके वे समाज में नाना प्रकार के असामाजिक कार्य करते हैं। इस कारण ऐसे लोगों को संसार का अहितकारी और शत्रु कहा जाता है। आसुरी स्वभाव के लोग जगत का अहित ही विचारते हैं और वैसी क्रियाएं करते हैं। इस प्रकार आसुरी स्वभाव के मनुष्यों में जगत के अहित की भावना रहती है।

(बारह) अपूरित कामनाओं का आश्रय :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्यों में कामनाओं के संकल्पों की बहुलता रहती है। मनुष्य साधारणतयः वही कामनाऐं करता है जो उसकी स्थिति के अनुकूल होती है। परन्तु आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपनी स्थिति से बहुत ऊंची स्थिति की कामनाऐं करते हैं। ऐसी कामनाऐं कभी भी पूरी होना संभव नहीं है। इस कारण आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपूरित होने वाली कामनाओं की कल्पना में ही अपना जीवन काटते हैं।

(तेरह) दंभाचरण :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपनी सम्पर्कित वस्तुओं, व्यक्तियों के अस्तित्त्व का और उनकी सत्ता का दिखावा करते रहते हैं। जो वास्तविक स्थिति है उससे अधिक का प्रदर्शन करते हैं। सांसारिक वस्तुओं का प्रदर्शन करना, उन्हें समाज में दिखाना तथा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना उनका स्वभाव होता है। इसी तथ्य को दंभ का आचरण कहा जाता है। आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपने अस्तित्त्व के प्रदर्शन में विश्वास विशेष रखते हैं।

(चौदह) अहंकार :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्यों में अहंकार विशेष रहता है। अहंकार नामक तत्त्व अपरा प्रकृति का आठवां अंग है। यह बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है। अहंकार का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य पर रहता है जिससे उसकी बाह्य क्रियाएं प्रभावित होती है। साथ ही आन्तरिक क्रियाऐं भी प्रभावित रहती हैं। अहंकार का प्रभाव मनुष्य के शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर रहता है। आसुरी स्वभाव के मनुष्यों में तमोगुण के कारण अहंकार विशेष रहता है। उन्हें अपनी शक्ति पर, धन, ऐश्वर्य पर, अपनी पद, प्रतिष्ठा आदि सभी वस्तुओं पर अहंकार रहता है। आसुरी स्वभाव के मनुष्यों का अहंकार, उनके व्यवहार, आचरण और वार्तालाप में प्रकट होता है।

(पंद्रह) मोह उपार्जित दुराग्रह :–

यह समाज किसी अव्यक्त सत्ता के अधीन चल रहा है। लाखों करोड़ों वर्षो से यह नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ हैं और भविष्य में भी यह समाप्त नहीं होगा। इसी नियंत्रण में धर्म की मर्यादा की स्थापना हुई है और अधर्म को अंततः पराजित होना पड़ा है। आसुरी स्वभाव के मनुष्य इस तथ्य पर, शास्त्रों की मर्यादा पर विश्वास नहीं करते हैं। वे मनमाने आचरण से आवृत रहते हैं। यह शास्त्र की मर्यादा को नहीं मानते हैं और अपने द्वारा बनाये सिद्धान्त को प्रमुखता से मानते हैं। यह अनुचित आग्रह अर्थात् हठ ही दुराग्रह कहा जाता

है। दुराग्रह की उत्पत्ति मोह से होती है। हम जिन वस्तुओं से मोह करते हैं तो मोह के कारण ही उनके पक्ष में सिद्धान्तों की स्थापना कर लेते हैं। यह स्वेच्छा से किये गए सिद्धान्त दुराग्रह कहे जाते हैं। आसुरी स्वभाव के पुरूषों में मोह से उपार्जित दुराग्रह विशेष रहता है।

(सोलह) जीवन के अंतिम क्षणों तक असीमित चिंताओं के आश्रय में रहते हैं :–

आसुरी स्वभाव के मनुष्य अनैतिक और असमाजिक कार्यो के पश्चात् कुछ न कुछ धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि एकत्र कर लेते हैं और उस एकत्र किये गए धन, सम्पत्ति प्रतिष्ठा और पद की सुरक्षा की चिंता उन्हें जीवनपर्यन्त रहती है। उनके मन में यह विचार रहता है कि जो कुछ उपार्जित किया गया है, कमाया गया है, एकत्र किया गया है वह सबका सब सुरक्षित रहे। यह चिंता उनके जीवन के अंतिम क्षणों तक उनके साथ बनी रहती है। कभी समाप्त नहीं होती। इस प्रकार आसुरी स्वभाव के मनुष्यों में जीवन के अंतिम क्षणों तक असीमित चिंताओं का आश्रय रहता है।

(सत्रह) सांसारिक पदार्थो के संग्रह की चेष्टा :–

संसार में भोग्य पदार्थो की बहुलता है। प्रत्येक युग में असंख्य भोग्य पदार्थो का कभी अभाव नहीं रहा। यह सबका सब माया के द्वारा उपार्जित है। संसार के भोग पदार्थ हमारे लिए संसार में उपलब्ध है। कोई मनुष्य यह चाहें कि समस्त भोग पदार्थो का संग्रह करके उन्हें भोगे तो यह असंभव ही है। आसुरी स्वभाव के मनुष्य अनेक प्रकार के भोगों के संग्रह की चेष्टा करते हैं। भोग्य पदार्थ संकलित किये जाते हैं तो उनके उपभोग की इच्छा भी प्रबल हो जाती है। आसुरी स्वभाव के मनुष्यों का यह विशिष्ट अवगुण है।

(अट्ठारह) आशारूपी सैकड़ों पासों से बद्ध रहते हैं :–

आसुरी स्वभाव के पुरूष सांसारिक आशाओं में ही जीवित रहते हैं। अंततः उनकी मृत्यु भी सांसारिक आशाओं में हो जाती है। वे मन के द्वारा ही संसार तथा सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की आशा रखते हैं। मनुष्य के जीवन में आशा ही फांसी के समान है। क्योंकि उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य बहुत प्रयत्न करता है। जो मनुष्य अनावश्यक आशायें करते हैं वे कभी बंधन से मुक्त नहीं हो पाते हैं। आशा करने पर हम प्राप्ति का प्रयास भी करते हैं और यह प्रयास निरन्तर चलता रहता है। आशा कभी समाप्त नहीं होती है और न ही दुःख की प्राप्ति का क्रम समाप्त होता है। जब तक आशा रहेगी तब तक बंधन भी रहता है। आशा समाप्त होते ही समस्त बंधन स्वतः समाप्त हो जाता है।

(उन्नीस) काम क्रोध की परायणता : –आसुरी स्वभाव के पुरुषों के दो अवगुण विशेष हैं जिन्हें कामना और क्रोध कहा जाता है। राजस और तामस दोनों की प्रधानता के कारण अनन्त कामनाओं का आश्रय रहता है। कामनाओं का विचार मन में रहने के कारण उनकी प्राप्ति का प्रयास भी चलता रहता है। प्रयास से कभी कामनाऐं पूरी हो जाती हैं और कभी अपूर्ण रहती हैं। पूरी न होने वाली अपूर्णित कामनाओं के भोग में बाधा आने पर क्रोध की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। इस कारण आसुरी स्वभाव के पुरुषों में क्रोध विशेष रहता है तथा ऐसे मनुष्य कामना और क्रोध के परायण रहते हैं।

(बीस) संसार में धन के उपार्जन के दो मार्ग हैं। एक न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करना होता है और दूसरे अन्यायपूर्वक धन का उपार्जन किया जाता है। न्यायपूर्वक धन के उपार्जन में न्यायसंगत कर्मों को आधार बनाया जाता है। जैसे किसी व्यापार में नैतिक कार्य से धन संचय हो जाता है। इसमें नैतिक लाभ ही कारण रहता है। अन्यायपूर्वक धन संचय करने में अन्य लोगों को प्रताड़ित और उत्पीड़ित करके उनके अधिकारों की वस्तुएं छीनकर उपभोग करने का कार्य होता है। इस प्रकार का कार्य विशेषकर आसुरी स्वभाव के लोग करते हैं। वह दूसरों से धन छीनकर एकत्र करने की चेष्टा करते हैं या अन्यायपूर्वक धन का संचय होना कहा जाता है। इस प्रकार आसुरी स्वभाव के मनुष्य अन्याय से धन को संचित करने का प्रयास करते रहते हैं।

उपरोक्त अवगुणों के अतिरिक्त आसुरी स्वभाव में अन्य कुछ अवगुण विशेष रहते हैं जो उन्हें आसुरी स्वभाव के पुरुष के रूप में स्वतः ही प्रस्तुत करते हैं। जो भाव रहते हैं उनमें यह भाव प्रमुखता से रहता है कि मैने आज इतनी संसारिक वस्तुऐं प्राप्त कर ली हैं अथवा संग्रहीत कर ली हैं और उससे हमारे अमुक मनोरथ पूरे हो चुके हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति के साथ यह भाव रहता है कि मैने इतना धन प्राप्त कर लिया है और शीघ्र ही प्रयास से भविष्य में और भी धन प्राप्त कर लूंगा। यह संसारिक भोगों तथा धन के संकलन की स्थिति है जो आसुरी स्वभाव के पुरुषों में रहती हैं आसुरी स्वभाव के पुरुषों में शत्रुता विशेष होती है और इसी शत्रुता के भाव के कारण उनमें ये विचार प्रबल रहता है कि हमनें अमुक शत्रु का विनाश कर दिया है और शीघ्र ही अन्य शत्रुओं को मैं मार डालूंगा। इस प्रकार के भाव रखने वाला मनुष्य आसुरी स्वभाव का कहा जाता है।

आसुरी स्वभाव की पुरुषों में ऐश्वर्य प्राप्ति का भाव रहता है और उन्हें कतिपय कारणों से यदि ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है तो वे ईश्वर की भांति व्यवहार करते हैं तथा अन्य लोगों को अपने से हीन समझते हैं। उनका ये विचार रहता है कि हमें ही समस्त भोगों को

भोगना है और हम ही सामर्थ्यवान हैं तथा अपनी शक्ति से संसार के समस्त भोगों को भोगेंगे। ईश्वरत्व के भाव की प्रबलता के कारण स्वयं को सिद्ध समझना, संसारिक भोगों की भोग्यता के योग्य मानना तथा सिद्ध, बलवान और सुखी समझना ये भाव जिस व्यक्ति में पाए जाते हैं उसे आसुरी स्वभाव का मनुष्य समझना चाहिए। आसुरी स्वभाव के पुरुषों में अत्यंत धनी होने का भाव रहता है। इसी कारण वे अन्यायपूर्वक धन और संपत्ति को एकत्र करने की चेष्टा करते हैं। धन के साथ जनबल की अधिकता का भाव भी रखते हैं और जनबल के आधार पर अन्यायपूर्वक धन के संकलन की चेष्टा करते हैं।

आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपने समक्ष समाज में किसी को कुछ नहीं समझते हैं। इस कारण यह भाव रहता है कि मेरे समान अन्य कौन है? अर्थात कोई नहीं है। हम खूब यज्ञादिक कर्म करेंगे और दान भी देंगे। यज्ञ दान करके आनंद को प्राप्त होंगे तथा प्रफुल्लित रहेंगे। अपनी तुलना में किसी अन्य को न मानना। धन, बल और जनबल को देखकर मोहित रहना आसुरी स्वभाव के मनुष्यों की चेष्टा है। इस प्रकार यज्ञ करने और दान देने के मिथ्याज्ञान से ऐसे पुरुष मोहित रहते हैं। उपरोक्त प्रकार के भावों की प्रबलता के कारण आसुरी स्वभाव के पुरुषों का चित्त अनेक प्रकार की भ्रांतियों से युक्त रहता है। चित्त में नाना प्रकार के भ्रमों के कारण अज्ञानता रहती है। अज्ञानता से ही मोहरूपी जाल की उत्पत्ति हो जाती है और आसुरी स्वभाव का पुरुष अनेक प्रकार के लौकिक मोह से आवृत रहता है। मोहरूपी जाल इतना प्रबल होता है कि वह जीवनपर्यंत मनुष्य को अपने में फंसाऐ रखता है। संसारिक पदार्थों तथा संपर्कित मनुष्यों का मोह आसुरी स्वभाव के लोगों को भ्रमित कर देता है। इस मोहरूपी जाल में वे फंसे रहते हैं। उसी को संसारिक आसक्ति का स्वरूप मानना चाहिए। इन सबका परिणाम यह होता है कि आसुरी स्वभाव के लोग अत्यंत अपवित्र नरकों में स्वतः ही पहुंच जाते हैं।

आसुरी स्वभाव के पुरुषों में धनबल,जलबल के कारण पूज्यता का तथा मान–सम्मान का भाव रहता है। उनकी आंतरिक इच्छा रहती है कि हमें लोग सम्मानित समझें। आसुरी स्वभाव के मनुष्य मान सम्मान के प्रबल आकांक्षी होते हैं। वे जो भी कहते हैं वह ही उचित है, सही है। यह भाव उनके मन में प्रबलता से रहता है। इस भाव का आश्रय लेकर वे जीते हैं तथा अन्य लोगों के सिद्धांतों को मिथ्या मानते हैं। धन तथा मान सम्मान से अन्वित अपने मद में चूर रहते हैं और दिखावे के लिए यज्ञादिक सकाम कर्मों का आचरण करते हुए भी प्रतीत होते हैं। उनके यज्ञों में शास्त्रीय विधि का अभाव रहता है तथा बल, दर्प, कामना, क्रोध की बहुलता होती है और उसका ही आश्रय रहता है। आसुरी स्वभाव के

मनुष्य परमात्मा से भी द्वेष भाव रखते हैं। परमात्मा ऐसे पुरुषों को अनेक प्रकार की नारकीय योनियों में गिराता है।

ख– दैवीय सम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षण–

जो पुरुष दैवीय सम्पदा को प्राप्त रहते हैं उनमें कुछ विशेष गुण रहते हैं। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य का जन्म जब होता है तब वह जीव या तो स्वर्ग से वापस आता है अथवा नरक से वापस आता है। स्वर्ग से वापस आए मनुष्य दैवीय सम्पदा को प्राप्त पुरुष होते हैं और नरक से आए मनुष्य आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष होते हैं जिनका वर्णन पूर्व में हो चुका है। दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरुषों में जो गुण विशेष होते हैं उनको समझना आवश्यक है, क्योंकि उन्हें ही समझकर दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरुषों की परख व पहचान होती है। दैवीय सम्पदा को प्राप्त पुरुषों में जो गुण होते हैं उनका वर्णन निम्न प्रकार है।

(एक) अभयम्– शरीर के विनाश, संपर्कित वस्तुओं और व्यक्तियों के अनिष्ट की आशंका का अभाव अभयम् है।

(दो) सत्त्वसंशुद्धिः– मन में कुविचारों का न आना तथा बुद्धि के द्वारा किसी के अहित के विचारों का विनिश्चय न होना।

(तीन) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः– तत्त्वदर्शन हेतु ज्ञान प्राप्ति के प्रयास में लगे रहना और दृढ़तापूर्वक उसमें स्थित होना।

(चार) दानम्– उचित पात्र, देश, काल में जिन्हें कुछ आवश्यकता हो उनकी अपने सामर्थ्य के अनुसार सहायता को तत्पर रहना।

(पांच) दम– इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक् करने का प्रयास तथा इस प्रयास में निरंतर लगे रहना।

(छह) यज्ञ– कर्तव्य कर्मों का यथा यज्ञ संपादन अपने वर्ण आश्रम के अनुसार करना और वैदिक तथा पौराणिक यज्ञों का निष्काम भाव से अनुष्ठान करना।

(सात) स्वध्याय– वेदों, शास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों का अध्ययन करके सत्य को जानने का प्रयास करना तथा जाने हुए सत्य को अपने व्यवहार में उतारना।

(आठ) तप– भगवत प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना तथा तत्त्वदर्शन हेतु प्रयत्नशील होना।

(नौ) आर्जवम्– मन में सरल भाव रखना तथा उसी के अनुसार सौम्य और शांति स्वरूप में रहना और वाणी से मृदुभाषी हो जाना।

(दस) अहिंसा– मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के अहित का भाव न रखना तथा उसे व्यवहार में न लाना।

(ग्यारह) सत्य– मन के द्वारा अनुभूत किए गऐ तथ्यों को तथा बुद्धि के द्वारा विनिश्चित किए गए भावों को यथावत् प्रस्तुत करना।

(बारह) अक्रोध– नैतिक कामनाओं में भी किसी प्रकार का विघ्न आ जाने पर प्रतिकूल भाव का वाणी से प्रकटीकरण न होना और मन में भी प्रतिकूलता न आना।

(तेरह) त्याग– इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर देना तथा मन और बुद्धि में विषयों के विचारण का समाप्त करना।

(चौदह) शांति– जगत के क्रियाकलापों को प्रकृतिजन्य मानकर गुणों द्वारा संपादित समझना तथा अंतःकरण में शांत भाव रखना।

(पन्द्रह) अपैशुनम्– किसी में दोषों को न देखना और दोषों के दिख जाने पर उनकी अन्यत्र चर्चा न करना।

(सोलह) दयाभाव– समस्त जीवों, प्राणीमात्र के हित का भाव रखना तथा उनके कल्याण के लिए प्रयास करना।

(सत्रह) अलोलुप्त्वम्– संसार की आकर्षक वस्तुओं को देखकर उनकी ओर आकर्षित न होना तथा उनको भोगने की इच्छा का परित्याग रखना।

(अट्ठारह) मार्दवम्– मन तथा बुद्धि में ऐसे भावों को बनाए रखना जिससे किसी प्रकार की कठोरता का प्रकटीकरण न हो।

(उन्नीस) अचापलम्– स्थिर भाव से जगत् में अपने समस्त कर्तव्य कर्मों का संपादन करना तथा अनावश्यक चेष्टाओं से अपने को बचाऐ रखना।

(बीस) तेज– योग साधना और तपश्चर्या से अपने शरीर में विशेष प्रकार की शक्ति का उदय कर लेना जो सहजता से प्रतीत हो।

(इक्कीस) धृतिः– कर्तव्य कर्मों के आचरण तथा परमात्मा के साक्षात्कार के विचार को दृढ़ता से बनाए रखना।

(बाइस) शौच– शरीर में बाह्य शुद्धि रखना और आंतरिक रूप से मन में कुविचारों को न आने देना।

(तेइस) अद्रोह– किसी भी मनुष्य के प्रति शत्रुता के भाव का अभाव कर देना और प्राणीमात्र को उदिग्न न करने का प्रयास करना।

(चौबीस) नातिमानिता– अपने को श्रेष्ठ, उच्च, उत्कृष्ट न मानना तथा श्रेष्ठता के भाव का परित्याग कर देना।

उपर्युक्त प्रकार के गुण जिन व्यक्तियों में पाए जाते हैं उन्हें दैवीय संपदा को प्राप्त पुरुष मानना चाहिए और जिन पुरुषों में यह गुण अधिकाधिक मात्रा में होते हैं उन्हें महापुरुष माना जाता है। प्रत्येक मनुष्य को उपरोक्त गुणों के आधार पर अपनी स्थिति का आंकलन कर लेना चाहिए।

(13) परमात्मा एवं उसकी दो शक्तियां प्रकृति तथा माया :–

परमात्मा ने इस जगत की रचना की और यह रचना स्वयं नहीं की। किसी के द्वारा इस रचना को मूर्तरूप दिया गया। जिस शक्ति के द्वारा इस ब्रह्मांड को मूर्तरूप दिया गया उस शक्ति का नाम प्रकृति है। मनुष्य इस जगत में रहकर अनेक प्रकार के सांसारिक भोगों की ओर आकर्षित रहता है। जो शक्ति मनुष्य को संसार की ओर आकर्षित करती है उस शक्ति को माया कहा जाता है। उपनिषद् माया और प्रकृति को एक ही मानते हैं और उनका यह विचार है कि प्रकृति ही माया और माया ही प्रकृति है, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति और माया के पृथक्–पृथक् कार्यो का निरूपण हुआ है। इस कारण प्रकृति और माया नाम से जो सत्ता है वह पृथक्–पृथक् प्रतीत होती है। श्री भगवान ने यह कहा कि **मयाध्यक्षेणप्रकृति सूयते सचराचरम्** अर्थात् परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति इस समग्र ब्रह्मांड को रचती है। श्रीभगवान ने प्रकृति को दो भागों में विभाजित किया है। एक को अपराप्रकृति कहा और दूसरे को पराप्रकृति कहा। अपराप्रकृति के आठ भेद बताये जो क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार कहे जाते हैं। पराप्रकृति जीव स्वरूप है। यह ब्रह्मांड में जो भी निर्माण है वह अपराप्रकृति के द्वारा किया जाता है और अपराप्रकृति के द्वारा जो भूतप्राणियों के शरीर निर्मित किये जाते हैं उनमें पराप्रकृति चैतन्यता प्रकट कर देती है।

मनुष्य शरीर के निर्माण के बारे में हमें विशेष रूप से जानना चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीर का ज्ञान तथा निर्माण की प्रक्रिया को समझ कर ही हम अपना वास्तविक कल्याण

कर सकते हैं। मनुष्य शरीर के निर्माण में पंच महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि आधारभूत तत्त्व हैं। अपराप्रकृति के यह पांच तत्त्व मिल कर मानव शरीर को निर्मित कर देते हैं और पराप्रकृति अर्थात् जीव उसको चैतन्यता प्रदान कर देती है। इस प्रकार अपरा एवं पराप्रकृति के संयोग से मानव शरीर का निर्माण होता है और उसमें गति आ जाती है, जो मानव शरीर निर्मित होता है उसमें पांच कर्मेन्द्रियॉ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियॉ होती है। जिन्हें वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, पायु, नेत्र, कर्ण, जिह्वा, त्वचा, नासिका कहा जाता है। पंच महाभूतों के पांच पृथक्–पृथक् गुण हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध कहते हैं। चूंकि मानव शरीर पंच महाभूतों से निर्मित है इसलिए पंच महाभूतों के गुण हमारी इन्द्रियों में आ जाते हैं और उनके विषय बन जाते हैं।

अपरा प्रकृति के तीन और तत्त्व मन, बुद्धि, अहंकार भी मानव शरीर में रहते हैं। इस प्रकार यह पूरा का पूरा मानव शरीर क्रियाशील हो जाता है और अनेक प्रकार की चेष्टाऐं करता है। मन, बुद्धि, अहंकार परमात्मा की प्रकृति के ही अंग हैं, इन्हें जीवात्मा से कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है। प्रकृति के तत्त्व होने के कारण अव्यक्त रहकर भी व्यक्त की तरह से विशिष्ट कार्य करते हैं। इस प्रकार प्रकृति मानव शरीर सहित समग्र प्राणियों तथा ब्रह्मांड की समस्त वस्तुओं की रचना करती है।

परमात्मा की दूसरी शक्ति को पराशक्ति अर्थात् माया कहा जाता है। यह माया परमात्मा की बहुत विलक्षण शक्ति है। श्रीभगवान ने इस शक्ति का उल्लेख चौथे अध्याय के छठें श्लोक में स्पष्ट रूप से किया है और यह कहा कि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होकर भी प्रकृति के अधीन अपना योगमाया से प्रकट हो जाता हूं। चूंकि प्रकृति और माया परमात्मा की दो शक्तियां हैं, इस कारण परमात्मा के प्रकटीकरण में दोनों का सहयोग रहता है।

दोनों शक्तियां ही परमात्मा के प्रकटीकरण में सहयोगी हैं। यह उक्त श्लोक से स्पष्ट है। यदि प्रकृति और माया दोनों शक्तियां एक होती तो प्रकृति और माया के पृथक् पृथक् कार्य का उल्लेख नहीं होता। यह माया तीन गुणों वाली है, जिसे सात्त्विक, राजस, तामस माया कहा जाता है। प्रकृति ने तीन गुणों की उत्पत्ति की है, जिन्हें सत, रज, तम कहते हैं। प्रत्येक मानव शरीर इन तीन गुणों के अधीन कार्य करता है। प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण ही इन तीनों गुणों को प्रकृतिजन्य कहा जाता है। इन तीनों गुणों का प्रभाव पृथ्वीलोक से लेकर देवलोक तक है। कोई भी इन तीनों गुणों से मुक्त नहीं है। यह त्रिगुण ही जीवात्मा को शरीर में बंधन देते हैं अर्थात् बांधते है। परमात्मा क्या है ? प्रकृति और

उसके कितने स्वरूप हैं तथा त्रिगुण क्या है ? इसका विस्तार से वर्णन **मुक्ति के सहज उपाय** में किया गया है वहां से इसका अध्ययन कर लेना चाहिए। यहां पर चूंकि गीताज्ञान का प्रकरण है इसलिए इस पर संक्षेप में चर्चा हुई। श्रीभगवान ने गीताज्ञान का उपदेश क्यों दिया ? इस विषय पर भी कुछ उल्लेख करना परम आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य के बहुत से कर्तव्यकर्म हैं। प्रथम कर्तव्य क्या है? इसे मनुष्य को समझना चाहिए और समझ कर अपने कल्याण का प्रयास करना चाहिए।

(14) मनुष्य का प्रथम कर्तव्य :—

मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह शास्त्रों में उल्लिखित तथ्यों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करें, जिससे उसे अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध हो सके। बाल्यावस्था से ही इस तथ्य से बालको को परिचित कराना चाहिए। हम सभी का कर्तव्य है कि बालकों को शास्त्रों के ज्ञान से परिचित करायें, जिससे आज अनेक प्रकार की जो विषमताऐं उत्पन्न हो रही हैं उनका स्वतः निराकरण हो सके। मनुष्य को प्रथमता कर्तव्य का बोध होना चाहिए। इसीक्रम में मनुष्य यदि अपने स्वामित्व की वस्तुओं पर अपना अधिकार रखना चाहता है और दूसरे के स्वामित्व की वस्तुओं पर अपना अधिकार हटाना चाहता है। इस कारण मनुष्य को इन तथ्यों का प्रारम्भिक ज्ञान होना चाहिए।

(क) मनुष्य का जीवन क्यों प्राप्त हुआ है ? और इस जीवन की पूर्ति के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

(ख) हमारा अपना कर्तव्य क्या है? क्या हम अपने कर्तव्यों का क्या पालन कर रहे हैं ?

(ग) किसी अन्य को हमारे कार्यो से परेशानी तो नहीं हो रही है ? यदि हो रही है तो उसे ज्ञात होते ही तत्काल रोकने का प्रयास होना चाहिए।

(घ) क्या हम समाज में मर्यादापूर्ण आचरण कर रहे हैं अथवा नहीं? हमारे आचरण से समाज में कोई अव्यवस्था तो उत्पन्न नहीं हो रही है। यदि प्रतीत हो तो उसे रोकने का प्रयास करना चाहिए।

(ङ) क्या हम परिवार, समाज में नैतिकतापूर्ण आचरण कर रहे हैं अथवा नहीं ? तथा अपने दायित्वों का पालन कर रहे है अथवा नहीं ?

(च) किसी के स्वामित्व की वस्तु तो हमारे स्वामित्व में किसी कारण नहीं आ गयी है यदि आ गयी तो इसका तत्काल त्याग करना चाहिए।

(छ) हम संसार में सांसारिक भोगों के प्रति आसक्त तो नहीं हो रहे हैं यह आसक्ति रूप दोष मनुष्य को निश्चितरूपेण पतन की ओर ले जाता है। इस कारण सांसारिक भोगों की ओर अग्रसर होने का कार्य समाप्त करना चाहिए।

(ज) क्या हम कामना, क्रोध, लोभरूपी दोषों से आवृत तो नहीं हो गए हैं इन दोषों से आवृत मनुष्य निश्चित ही पतन की ओर उन्मुख हो जाता है। इस कारण इसका हमें परित्याग करना चाहिए।

(झ) मनसा, वाचा, कर्मणा जो भी कर्म करें वह सरल और मृदुभाव से करें। जिससे दूसरों को किसी प्रकार की उद्विग्नता न प्राप्त हो।

(ञ) तत्त्व प्राप्ति हेतु मनुष्य को निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए।

(15) गीता उपदेश की पृष्ठभूमि :–

आज से लगभग 5 हजार वर्षो पूर्व महाभारत काल माना जाता है। महाभारत काल द्वापर युग का अंत समय था। भगवान श्री कृष्ण का अवतरण इसी समय हुआ ऐसी ऐतिहासिक मान्यता है। महाराजा शान्तनु ने श्री गंगा जी से विवाह किया था जिससे उस काल के ऐतिहासिक पुरूष भीष्म पितामह का जन्म हुआ, तदोपरान्त दास राज की पुत्री सत्यवती से शान्तनु महाराज ने विवाह किया। उससे चित्रांगद का विचित्र वीर्य का जन्म हुआ। पितामह भीष्म ने सत्यवती के पिता दासराज को आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा दी थी जिसका उन्होंने पालन किया। विवाह के पूर्व सत्यवती से पाराशर मुनि के संयोग से महर्षि वेदव्यास का जन्म हुआ था। इन्हें श्री कृष्ण द्वैपायन भी कहा जाता है। सुखदेव जी महराज इन्हीं वेद व्यास के पुत्र थे। महर्षि वेद व्यास और उनके पुत्र सुखदेव जी अपने समय के वेदों और शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान थे। हम सभी महर्षि वेद व्यास के ऋणी है जिन्होंने वैदिक साहित्य को एक विशिष्ट रूप दिया तथा दार्शनिक, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रणयन किया।

शान्तनु के पुत्र चित्रांगद को चित्रांगद नाम के गन्धर्व ने मार डाला। पितामह भीष्म ने अम्बिका और अम्बालिका से अपने सौतेले भाई विचित्र वीर्य का विवाह करवा दिया परन्तु उसकी मृत्यु निःसंतान ही हो गई। सत्यवती ने तब अपने पुत्र महर्षि वेद व्यास से प्रार्थना की वंश परम्परा चलाने हेतु अम्बिका तथा अम्बालिका से विवाह कर ले, परन्तु महर्षि वेदव्यास ने विवाह करने से मना कर दिया और अपने योग बल से पाण्डु और धृतराष्ट्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न किए तथा एक दासी से विदुर नाम के पुत्र उत्पन्न हुए जो धर्म

और नीति के मर्मज्ञ जाने जाते हैं। महाराजा पाण्डु ने कुन्ती और माद्री से विवाह किया तथा धृतराष्ट्र का विवाह गांधारी से हुआ। पाण्डु बड़े होने के कारण राजा बने तथा इनके दोनों पत्नियों से पांच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव उत्पन्न हुए जो देवताओं के औरस पुत्र थे। धृतराष्ट्र के गांधारी से 100 पुत्र उत्पन्न हुए जिन्में दुर्योधन सबसे बड़ा था, जो महाभारत युद्ध का कारण माना जाता है।

पाण्डु की मृत्यु के समय पाण्डु के पांचों पुत्र की आयु बहुत कम थी। इसलिए राज्य के संचालन हेतु छोटे भाई धृतराष्ट्र को राजा बना दिया गया और विदुर को मंत्री बनाया गया तथा युधिष्ठिर को युवराज घोषित कर दिया गया। दुर्योधन के मन में पाण्डवों तथा माता कुन्ती के प्रति घृणा भाव था। वह उन्हें मारने की युक्तियों पर विचार किया करता था। इसी क्रम में उसने लाच्छागृह का निर्माण कराया तथा कुन्ती सहित पांचों पाण्डवों को मार डालने का प्रयास किया पर वे विदुर जी की सहायता से बच निकले और अपनी जान बचाने के लिए मारे–मारे घूमते रहे। द्रोपदी के स्वयंवर में पाण्डवों का पुनः प्रकटीकरण हो गया। पाण्डव द्रोपदी को जीतकर माता कुन्ती सहित हस्तिनापुर लौट आए। विवाद को समाप्त करने हेतु पाण्डवों को खाण्डव वन देकर राज्य का बॅटवारा कर दिया गया। खाण्डव वन को देवताओं की सहायता से पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया तथा देवताओं की कृपा से एक भव्य महल की रचना की, जिसमें जल के स्थान पर थल और थल के स्थान पर जल प्रतीत होता था। तत्पश्चात् पाण्डवों ने राज्यसूय यज्ञ किया तथा अपने चचेरे भाई कौरवों को भी आमंत्रित किया। दुर्योधन आदि कौरवों को राज्यसूय यज्ञ में पाण्डवों के भव्य महल को देखकर बड़ी ग्लानि हुई। ऐसा भी कहा जाता है कि दुर्योधन जल को थल समझ कर एक बार पानी में गिर गया जिस पर द्रोपदी ने दुर्योधन के लिए कुछ अपशब्द कहे जो महाभारत युद्ध का कारण बनें।

दुर्योधन यज्ञ के पश्चात अपने राज्य हस्तिनापुर लौट आया तथा पाण्डवों को नीचा दिखाने और अपने अपमान का बदला लेने की युक्ति सोंचने लगा, उसने अपने मामा शकुनी की सहायता से पाण्डवों को द्यूतक्रीडा अर्थात जुंआ खेलने के लिए आमंत्रित किया। धृतराष्ट्र की ओर से द्यूतक्रीडा का आदेश पाकर पाण्डव जुंआ खेलने के लिए तैयार हो गए। पाण्डवों ने अपने पिता स्वरूप राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा को शिरोधार्य किया। द्युतक्रीडा आरम्भ हुई जिसमें मामा शकुनी ने छल से धृतराष्ट्र आदि का सम्पूर्ण राज्य जीत लिया तथा पाण्डव द्रोपदी को जुएं में हार गए। इस घटना के पश्चात् महारानी द्रोपदी को अपमानित करने के लिए चीरहरण जैसी घटना हुई, जिसे भगवान श्रीकृष्ण की सहायता से द्रोपदी ने अपनी लाज बचाई।

इस घटना के समय राज्य दरबार में धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण आदि सभी उपस्थित थे। दुर्योधन के आगे द्रोपदी के इस अपमान का प्रतिकार किसी ने नहीं किया। इसके उपरान्त यह तय हुआ कि पाण्डव 12 वर्ष तक वनवास में रहेंगे और एक वर्ष अज्ञातवास में रहेंगे तब उन्हें उनका राज्य वापस दे दिया जाएगा और यदि अज्ञातवास में वह पहचान लिए गए तो पुनः उन्हें 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ेगा। 12 वर्ष तक वनवास में द्रोपदी तथा माता कुन्ती सहित पाण्डव मारे–मारे घूमते रहे। एक वर्ष राजा द्रुपद के यहां काटने के पश्चात् पुनः पाण्डवों ने अपने राज्य के अधिकार को मांगा जिस पर दुर्योधन ने स्पष्ट मना कर दिया। भगवान श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर धृतराष्ट्र के दरबार में गए तथा पाण्डवों को पॉच गांव देने का प्रस्ताव किया जिस पर विवाद खत्म हो सकें। परन्तु दुर्योधन ने यह स्पष्ट कहा कि मैं युद्ध के बिना सुई की नोक के बराबर जमीन नहीं दूंगा। उसने अपने योद्धाओं की सहायता से भगवान श्रीकृष्ण को पकड़कर मारने का प्रयास किया। जिससे भगवान श्रीकृष्ण ने चक्र सुदर्शन से सब योद्धाओं को चकाचौंध कर दिया तथा महात्मा विदुर के यहां आकर विश्राम किया।

शान्ति के प्रस्ताव को निरस्त किये जाने के पश्चात् युद्ध अवश्यसम्भावी हो गया। पाण्डवों ने भगवान की श्रीकृष्ण की आज्ञा से तथा माता कुन्ती की सहमति से युद्ध करना स्वीकार किया। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व पाण्डवों तथा कौरवों ने अपने अपने पक्ष के राजाओं को युद्ध के लिए आमंत्रित किया। इसी क्रम में अर्जुन तथा दुर्योधन ने भगवान श्रीकृष्ण से युद्ध के लिए सहायता की याचना की। भगवान श्री कृष्ण ने एक ओर अपने को प्रस्तुत किया तथा यह कहा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा और दूसरी ओर अपनी नारायणी सेना को रख दिया। इस पर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण को स्वीकार किया तथा दुर्योधन प्रसन्नता पूर्वक उनकी नारायणी सेना लेकर लौट आया क्योंकि युद्ध में सेना तथा वीरों का ही कार्य है। श्री भगवान का क्या होगा ? क्योंकि वह युद्ध भी नहीं करेंगे।

युद्ध की तैयारियां होने लगी। कौरवों के पक्ष में 11 अक्षोहणी सेना की तथा पाण्डवों के पक्ष में सात अक्षोहणी सेना थी। महर्षि वेद व्यास ने युद्ध को रोकने का बहुत प्रयास किया परन्तु वे त्रिकालज्ञ थे। इस कारण उन्हें युद्ध की निश्चितता के बारे में ज्ञात था। महर्षि वेद व्यास ने दरबार आकर धृतराष्ट्र से यह कहा कि आप नेत्रहीन हैं इस कारण यदि आप युद्ध को देखने की इच्छा रखते हैं तो मैं आपकों दिव्य दृष्टि दे सकता हूं जिससे आप दरबार में ही बैठकर युद्ध का सारा हाल जान सकते है। धृतराष्ट्र ने महर्षि वेद व्यास के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने कहा कि हम अपने परिवार के इस भीषण विनाश को नहीं देखना चाहता परन्तु युद्ध में क्या घटनाएं हो रही है? इसकी

जानकारी अवश्य रखना चाहूंगा। इस कारण दिव्य दृष्टि हमारे सहयोगी मंत्री संजय को दे दें। उनसे युद्ध का हाल मैं जान लूंगा। दिव्यदृष्टि एक प्रकार की वह शक्ति है जिसके माध्यम से आप एक स्थान पर बैठकर दूर किसी भी घटना को देख सकते हैं तथा किसी के मन में क्या विचार आया इसको भी जान सकते हैं।

महर्षि वेद व्यास संजय को दिव्य दृष्टि देकर चले गए। महाभारत महाकाव्य में ऐसा उल्लेख आता है कि संजय दस दिनों तक युद्ध स्थल में ही रहे जब पितामह भीष्म को अर्जुन ने बाणों की सरसै,या पर गिरा दिया तो इसका समाचार लेकर संजय धृतराष्ट्र को बताने के लिए महल में आये। धृतराष्ट्र को पितामह भीष्म की इस स्थिति को जानकर बहुत कष्ट हुआ। क्योंकि पितामह भीष्म बहुत वीर थे और उन्होने परशुराम से शस्त्र विद्या सीखी थी। वह उस समय अजेय समझे जाते थे तथा उनके पारिवारिक सम्बन्ध में वे ताऊ थे। इस पर धृतराष्ट्र ने संजय से प्रश्न किया, जो महाभारत के भीष्म पर्व के 25वें अध्याय से आरम्भ होता है। इस प्रकार यहीं से श्री गीता जी के ज्ञान का आरम्भ होता है। श्री गीता जी में 18 अध्याय है। धतृराष्ट्र ने संजय से यह प्रश्न किया कि धर्म भूमि कुरूक्षेत्र में एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने युद्ध में क्या किया ? यह श्री गीता जी के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक है।

उपरोक्त तथ्य का वर्णन श्री गीता ज्ञान की पृष्ठभूमि को समझने के लिए वर्णित किया गया। इसका विषद उल्लेख महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत महाकाव्य ग्रंथ में है जिसमें एक लाख श्लोक हैं और यह ग्रंथ विश्व का सबसे वृहद ग्रंथ है जो 18 अध्यायों में विभक्त है। हमें विशिष्ट जानकारी के लिए इस महाभारत महाकाव्य का अध्ययन करना चाहिए। इस ग्रंथ को पंचम वेद की मान्यता प्राप्त है।

(16) गीता उपदेश से आरम्भिक प्रेरणा :–

प्रत्येक मनुष्य अपना जीवनयापन करता है और प्रत्येक मनुष्य के जीवन में समस्याऐं भी रहती है। समस्याएं कितनी भी आवें? परन्तु उसे नैतिकता के आश्रय का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। जीवन में कर्तव्य का, अकर्तव्य का ज्ञान सदैव रखना चाहिए। हमें क्या करना उचित है? और क्या करना उचित नहीं है? यह ज्ञान मूल रूप से प्रत्येक मनुष्य को होना अनिवार्य है। जब मनुष्य को कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान हो जावे तो उसे कर्तव्य के व्यवहार और कर्तव्य के परित्याग का प्रयास करना चाहिए। कर्तव्य के आचरण में यदि उसके समक्ष पारिवारिक लोग, सगे सम्बंधी, सम्पर्कित कोई क्यो न हो? उसे सदैव ही कर्तव्य के आचरण से कभी मोहित नहीं होना चाहिए।

हमारे मन में परिवार तथा सम्बंधित लोगों के प्रति ममता होती है। वह ममता कर्तव्य पालन में बाधाऐं प्रस्तुत करती है। किसी समस्या के आने पर हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हम उसका शान्तिपूर्ण समाधान खोजे। अंतिम प्रयास तक यह प्रयत्न होना चाहिए कि किसी समस्या का शान्तिपूर्ण हल और निराकरण निकाला जा सके। यदि जीवन में किसी समस्या का शान्तिपूर्ण हल नहीं खोजा जा रहा है तो भी हमें नैतिक साधनों के अवलम्बन का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। नैतिक साधनों के अवलम्बन में परमात्मा हमारा साथ देता है और प्रत्यक्ष सहयोग करता है। यह गीताज्ञान की आरम्भिक प्रेरणा है।

अर्जुन अर्थात् पाण्डव पक्ष ने प्रथमता अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार से शान्तिपूर्ण हल का बहुत प्रयास किया। महाभारत ग्रंथ में इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है। परन्तु आततायी दुर्योधन ने शान्तिपूर्ण समाधान के मार्ग को अवरूद्ध कर दिया। कौरव पक्ष अनैतिक तथा अधर्म के अवलम्बन के कारण ही परास्त हुए। संख्या बल के अधिक होने और बलशाली सेना होने के बावजूद वे हार गए क्योंकि उन्होंने अनीति, अधर्म के पथ का अवलम्बन किया था तथा प्रमुख बात यह है कि उन्होंने श्री भगवान के आश्रय का परित्याग कर दिया था। नीति, धर्म का आचरण अनीति और अधर्म का परित्याग ही गीता उपदेश की आरम्भिक प्रेरणा है।

(17) भगवान की शरणागति से गीता उपदेश का शुभारम्भ–

अर्जुन अपने स्वजनों को युद्ध भूमि में देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। अर्थात् उसकी समझ में नहीं आया कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है ? प्रत्येक मनुष्य की किसी न किसी समय यह स्थिति आती है कि वह स्वयं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उसे क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए ? क्या करना उचित नहीं है और क्या करना उचित है ? इस बारे में वह भ्रमित हो जाता है। विशेष परिस्थिति में ऐसी स्थिति प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष आती है। सामान्य रूप से एक कुशल मनुष्य को भी उस विषय पर अवश्य विचार करना चाहिए कि हमें अपने जीवन में क्या करना उचित है ? क्या करना अनुचित है ? यह प्रश्न प्रत्येक कल्याण के आकांक्षी मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। इस प्रश्न के उचित निराकरण हेतु यदि आप श्रीभगवान से यह प्रश्न करें कि क्या करना उचित है? क्या करना अनुचित है? तो श्री भगवान आपके कल्याण के पथ को प्रशस्त कर देंगे। इस कारण यदि आप अपना कल्याण का मार्ग चाहते हैं तो निम्न चार प्रश्नों पर आप विचार करें।

(क) जो निश्चित श्रेयस्कारी हो वह मुझे बताइए :—

जो साधक अपना भला चाहता हो, अपने कल्याण के पथ का अनुगामी होना चाहता हो उसे श्रीभगवान से यह प्रश्न करना चाहिए कि हमारे लिए निश्चितरूपेण कल्याणकारी जो मार्ग हो वह मुझे बताइए। श्रीभगवान से जब हम प्रार्थना करते हैं तथा अपना कल्याणकारी मार्ग के बारे में प्रश्न करते हैं तो श्रीभगवान हमारी प्रार्थना सुनते हैं और स्वीकार करके हमारे कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। साधारणतयः मनुष्य अपने को ज्ञानी समझता है और वह अपनी स्वेच्छा से प्रत्येक कार्य करने का आदी हो जाता है। मनुष्य की यही सबसे बड़ी कमी है। अपने को ज्ञानवान समझना कि हम बहुत कुछ जानते है। अथवा सब कुछ जानते हैं ऐसा भाव रखने पर और ऐसे विचार को दृढ़ रखने पर मनुष्य को श्रीभगवान की प्रेरणा नहीं प्राप्त होती है। जैसे एक बालक अपने को अज्ञानी समझता है और वह अपने माता, पिता, गुरू से उन तथ्यों के बारे में प्रश्न करता है जो उसे ज्ञात नहीं है। बालक द्वारा प्रश्न किये जाने पर माता, पिता, गुरू उसे वास्तविक तथ्य से अवगत कराते हैं। वैसे ही मनुष्य को अपने कल्याण के साधन हेतु प्रश्न करना चाहिए। श्रीभगवान से यह प्रश्न करे कि जो हमारे जीवन में निश्चित कल्याणकारी हो वह हमें बताये। तो श्रीभगवान उस मार्ग को हमें बताते हैं, जो हमारे कल्याण का मार्ग होता है जिससे हमारा वास्तविक भला हो सकता है। यह श्रीभगवान की शरणागति है।

(ख) भगवन् ! हम आपके शिष्य हैं :—

वास्तविक और ज्ञानी गुरू से हमें हमारे कल्याण के मार्ग का ज्ञान होता है जो गुरू जानकार होता है, शास्त्रों का मर्मज्ञ विद्वान होता है तथा तत्त्वदर्शी होता है। ऐसा गुरू हमें शास्त्रों के मर्म से परिचित करा सकता है। तत्त्वदर्शी गुरू हमें तत्त्वदर्शन की ओर उन्मुख कर सकता है। शास्त्रज्ञ शास्त्रों की व्याख्या में कुशल तथा तत्त्वदर्शी गुरू की शरण में जब साधक विनम्रभाव से जाता है और यह प्रार्थना करता है कि हे भगवन! हमें शास्त्रों के ज्ञान से परिचित करा दें तथा तत्त्वदर्शन का ज्ञान दें। हम आपके शिष्य हैं। शिष्य भाव से मनुष्य जब ज्ञान करने की इच्छा रखता है तो गुरू भी उसे अपने ज्ञान से परिचित करा देता है। इसी भाव से हम जब श्रीभगवान की शरण में जाते हैं और शिष्यवत् भाव से श्रीभगवान की शरण ग्रहण कर लेते हैं तो श्रीभगवान हमें उचित ज्ञान प्रदान करते हैं। जब तक शिष्यवत् भाव नहीं होता तब तक श्रीभगवान हमें उचित ज्ञान नही देते हैं।

(ग) भगवन् ! हम आपकी शरण में हैं :–

एक बालक जब अध्ययन आरम्भ करता है तो वह गुरू की पूर्ण शरण में पहुंच जाता है, पर जब वह वर्णमाला के अक्षर लिखता है तो प्रत्येक अक्षर लिखकर गुरू को दिखाता है। यह इस कारण होता है क्योंकि उसे अपने लिखे पर संदेह रहता है कि वह अक्षर ठीक है अथवा ठीक नहीं है। जो लिखा गया है वह उचित है अथवा उचित नहीं है। यह ही पूर्ण शरणागति का भाव है। मनुष्य यदि अपने को सर्वथा अज्ञानी समझ ले तो उसे ज्ञान की प्राप्ति हेतु किसी की शरण ग्रहण करनी पड़ेगी। जैसे जब हम किसी अपरिचित मार्ग पर जाते हैं तो पुनः पुनः उस मार्ग में कई बार उचित मार्ग पूछते हैं। रास्ते में लोग हमें उचित मार्ग बताते जाते हैं इस प्रकार हम मार्ग के जानकार लोगों की शरण में जाते हैं। यदि हम यह जान ले कि हमें मार्ग ज्ञात है तो हम पुनःपुनः मार्ग के बारे में क्यों पूछना चाहेंगे ? इसी प्रकार हमें ज्ञान के ग्रहण हेतु श्रीभगवान की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। श्रीभगवान हम आपकी शरण में है। हमें ज्ञान प्रदान करें तो वह सर्वत्रव्याप्त अन्तरयामी श्रीभगवान हमें ज्ञान का बोध कराते हैं।

(घ) भगवन् ! हमें शिक्षा प्रदान करें :–

मनुष्य सर्वथा अज्ञानी है। अज्ञानी क्यों है ? क्योंकि उसे अपने अगले पल के बारे में कुछ भी ज्ञान नही है कि हमारा भविष्य क्या होगा ? और अगले क्षण क्या घटना घटित हो जाएगी ? मनुष्य के अज्ञानी होने के कई कारण हैं। एक तो वह यह नहीं जानता है कि वह कहां से आया है ? और यह भी नहीं जानता है कि वह कहां जाएगा ? अपने उद्गम श्रोत को न जानने वाला तथा अंत से अपरिचित मनुष्य ज्ञानवान हो ही नहीं सकता है। हम मात्र अतीत में व्यतीत हुयी घटनाओं को अपनी स्मृति में एकत्रित कर लेते हैं और उससे अपने को ज्ञानवान समझते हैं। जो घटनाएं हो चुकी हैं उनसे ज्ञान सीखने का प्रयास करते हैं। जो मनुष्य अपने भविष्य के प्रति अज्ञानी है वह ज्ञानी कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता है। हमें इसी कारण श्रीभगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए। हे भगवान ! हमें ज्ञान प्रदान करें, हमें उचित शिक्षा दें। जब हम ऐसी प्रार्थना करते हैं तो हमारे अंतःकरण में ज्ञान का उदय हो जाता है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति हेतु शिक्षा प्रदान करने की प्रार्थना श्रीभगवान से करनी चाहिए।

अर्जुन की स्थिति जब किंकर्तव्यविमूढ़ की हो गई तो उसने यही प्रार्थना की हे भगवन् ! जो हमारे जीवन के लिए निश्चित कल्याणकारक हो वह हमें बताइए, हम आपके शिष्य हैं। आपकी शरण में हैं। हमें शिक्षा प्रदान कीजिए। इस भाव से प्रार्थना करने पर श्री

भगवान ने गीता का उपदेश समग्र मानव जाति को प्रदान किया। हमें इसी भाव से श्री भगवान की शरण में जाकर शरणागति भाव से ज्ञान प्राप्त करने की प्रार्थना करनी चाहिए। इस भाव से प्रार्थना करने पर श्रीभगवान हमें अवश्य ही ज्ञान प्रदान करते हैं।

(18) जीवन का वास्तविक रहस्य :–

परमात्मा ने अपना अंश जीव के रूप में देकर समस्त प्राणियों को चेतन बनाया है। मनुष्य में भी परमात्मा का अंश जीव विद्यमान है, जिसे देही अथवा शरीरी भी कहा जाता है। परमात्मा का अंश जीव मनुष्य को चैतन्य बनाये हुए है तथा इसे परा प्रकृति भी कहते हैं जीव अनादि है। अनादि का अभिप्राय है कि जब से सृष्टि आरम्भ हुई तब से यह जीव भी अस्तित्त्व में है। जो जीव आज हमारे शरीर में है उसने सृष्टि के समय से आज तक हजारों लाखों जन्म ग्रहण किये हैं। जीव तो वही रहता है परन्तु शरीरों में परिवर्तन हुआ करता है। इसी प्रकार जो शरीर हम आज देख रहे हैं वह भी समय के साथ नष्ट हो जाएगा। हम हजारों लाखों शरीरों में रहकर विनिष्ट हुए हैं। हमारा शरीर पुनः विनिष्ट होना है इस कारण जब मनुष्य का नष्ट होना निश्चित है तो इसके लिए शोक करने से क्या लाभ है? अर्थात् हमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिए। जीवन की इस वास्तविकता से जो लोग परिचित हैं वे कभी शोक नहीं करते हैं। जो शोक नहीं करते हैं वे जीवन के वास्तविक रहस्य से परिचित हो जाते हैं।

जब जीव अनादि है तथा सृष्टि के आरम्भ से निरन्तर था हमारे शरीर में स्थित इस जीव ने हजारों शरीरों में परिवर्तन किया है परन्तु वह इस परिवर्तन में सम्मिलित नहीं हुआ। सृष्टि के आदिकाल से जीव के अस्तित्त्व में रहने के कारण हम सब लोग भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही रहें होंगे। समस्त सृष्टि में जो जीव है वे भी अवश्य ही रहे होंगे। भूतकाल में सभी लोगों के अस्तित्त्व में जुड़े रहने के कारण कभी उनका अभाव नहीं रहा। आज जिन लोगों से सम्पर्क हैं वह संयोगवश ही है। कल वह सम्पर्क समाप्त हो जाएगा। यह निश्चित है। इस प्रकार यह परिवर्तन निरन्तर चलता रहता है और चलता रहेगा। इस प्रक्रिया में कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। यही जीवन का वास्तविक रहस्य है।

यह जगत परिवर्तनशील है। इस कारण यह निरन्तर ही परिवर्तित हुआ करता है। जैसे प्रातःकाल होता है। दोपहर हो जाती है और उसके उपरान्त सायंकाल और रात्रि स्वतः आती है। वैसे ही मनुष्य के जीवन में नित्य निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। बाल्यावस्था होगी, किशोरावस्था आयेगी। उसके पश्चात् युवावस्था और वृद्धावस्था भी

आयेगी। यह परिवर्तन स्वतः ही हुआ करता है। इसमें किसी का कोई प्रयास नहीं है। इसी प्रकार मौसम का परिवर्तन होता है। सर्दी गर्मी बरसात स्वतः हुआ करती है। सर्दी गर्मी में स्वतः परिवर्तन से मनुष्य उससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता है। इसी प्रकार कभी परिस्थितियों में अनुकूलता रहती है और कभी प्रतिकूलता आ जाती है। यह परिवर्तन भी चलता रहता है। अनुकूलता में हमें स्वतः ही प्रसन्नता की अनुभूति होती है और प्रतिकूलता प्राप्ति होने पर दुःख प्रकट हो जाता है। यह भी सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य के जीवन में चला करता है। यह जगत परिवर्तनशील है इस कारण सुख दुःख का परिवर्तन स्वतः रहता है। इस प्रकार के परिवर्तन में जो कोई मनुष्य परिवर्तनरहित रहता है, एक समान रहता है वह मुक्ति की योग्यता रखता है तथा वह जीवन के रहस्य को समग्रता से जानने वाला है।

(19) जीवात्मा का रहस्य :—

परमात्मा ने इस समग्र ब्रह्मांड की रचना की है। इस ब्रह्मांड को देखकर उसकी शक्ति और सामर्थ्य का सही सही अनुमान लगाया जा सकता है। उस परमात्मा ने अपने वास्तविक अंश को असंख्य भागों में विभक्त कर दिया है। वह एक रहकर भी पृथक्—पृथक् भागों में परिवर्तित हो गया है। यह परमात्मा की विलक्षणता है। परमात्मा का जो अंश विभाजित हुआ उस प्रत्येक अंश को जीव कहा जाता है। यह परमात्मा की परा प्रकृति है जो जीव रूप है। इसके परिमाण का उल्लेख शास्त्रों में आता है। अर्थात् जीव का आकार क्या है ? इसका वर्णन शास्त्रों में होता है। बाल के अग्रभाग के 100 बराबर बराबर भाग किये जावें और उस प्रत्येक भाग के पुनः 100 बराबर भाग किये जाए तो इस प्रकार इस जीव का परिमाण अति सूक्ष्म रूप से हमें ज्ञात होता है। बल के अग्रभाग को ही आंखों से देखा जा पाना कठिन है और उसके दस हजारवें भाग को देखा जा पाना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। प्रत्येक जीव का परिमाण, आकार, इतना ही सूक्ष्म है। इस अति सूक्ष्म वाले जीव का प्रभाव, कार्य, गुण बहुत ही विलक्षण है।

चींटी जैसे कीट तथा उससे अति सूक्ष्म कीड़े में भी उसी आकार का जीव स्थिति है तथा हाथी जैसे विशालकाय शरीर में भी उसी परिमाण का जीव उपस्थित है और वही हाथी जैसे विशालकाय जीव के शरीर का संचालन करता है। यह एक बहुत विलक्षण तथ्य है। इस तथ्य को और सरल भाषा में समझाना चाहेंगे। जैसे एक छोटी बैटरी से एक छोटी सी टार्च कुछ सीमित समय तक प्रकाश दे सकती है। जैसे जैसे उस बैटरी की शक्ति समाप्त होती है टार्च का जलना, प्रकाश देना भी समाप्त हो जाता है। उस टार्च की बैटरी को इतना अधिक शक्तिशाली कर दिया जावे कि वह टार्च को असीमित समय तक

प्रकाशित रख सकें। एक रेलगाड़ी, हवाई जहाज को भी उस छोटी सी बैटरी से चलाया जा पाना संभव हो सके। यह तथ्य सुनने में इतना विलक्षण प्रतीत होता है ऐसा अब तक विज्ञान ने संभव नहीं कर पाया, परन्तु उस परमात्मा ने जीव रूपी अतिसूक्ष्म तत्त्व को लाखों वर्षो पूर्व उद्‌भवित किया था और वह अतिसूक्ष्म तत्त्व लाखों वर्षो से बराबर क्रियाशील है और वैसा ही है जैसा सृष्टि के आदि में था।

वह अतिसूक्ष्म तत्त्व जीव छोटे से छोटे कीड़े को भी चेतन शक्ति प्रदान करता है और विशाल जीवों हाथी, शेर, चीते जैसे जीवों में भी चेतन और स्फूर्ति शक्ति प्रदान करता है। जीव इतना शक्तिशाली है कि अतिसूक्ष्म रहकर भी शरीर के प्रत्येक भाग में उपस्थित रहता है। शरीर के प्रत्येक भाग में उपस्थित रहकर प्रत्येक भाग को शक्ति प्रदान करता है। शरीर की समस्त इन्द्रियों तथा अव्यक्त स्वरूप मन, बुद्धि और अहंकार को भी कार्यशक्ति देता है। यह एक मात्र परमात्मा के अंश होने के कारण ही है।

जीव इस समस्त ब्रह्मांड के प्राणियों में व्याप्त है। इसी कारण यह कहा जाता है कि वह समस्त जगत को धारण किये हुए है। हमारी जहां तक दृष्टि जाती है जहां तक हम जीवों को देख सकते हैं उन सबमें परमात्मा का वह अंश विद्यमान है। इस तथ्य से जीवात्मा की व्याप्तता के तथ्य को समझ सकते हैं। जीवात्मा की सम्पूर्ण जीवों में उपस्थिति एक विलक्षण और रहस्यप्रद बात है। आप इस तथ्य पर विचार करें कि एक परमात्मा ने ही समस्त जगत में जीव के माध्यम से अपनी सत्ता स्थापित कर रखी है। हम कभी कभी यह विचार करते हैं कि परमात्मा कहां है ? तो हमें इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही जान लेना चाहिए कि वह परमात्मा सर्वत्र है। हममें है, तुममें है और सभी में है। वह इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है।

जीव परमात्मा का अंश है। वह परमात्मा परमअविनाशी है। परमात्मा का सृष्टि के समापन अर्थात् प्रलय में विनाश नहीं होता है। इस कारण उसका अंश जीव भी अविनाशी है। इसका कभी विनाश नहीं होता है। हमारे शरीर में आज जो जीव है वह लाखों वर्षो से अधिक समय से हैं। उसने असंख्य शरीरों को बदला है परिवर्तित किया है। वह शरीर तो विनिष्ट होते गए परन्तु उस जीव का विनाश नहीं हुआ। वह जैसा सृष्टि के आदिकाल में था वैसा ही आज भी है इस कारण यह जीव का अविनाशी स्वरूप वाला गुण है। परमात्मा परम अविनाशी है और उसका अंश जीव अविनाशी है। यही जीव और परमात्मा में अंतर है। परमात्मा समग्र सृष्टि का रचयिता है और जीव समग्र सृष्टि में स्थित प्राणियों को चेतना प्रदान करता है।

जीव परमात्मा का अंश है। वह सम्पूर्ण मानव शरीर को शक्ति प्रदान करता है। शक्ति प्रदान करने का अभिप्राय है कि वह हमारे पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों को चेष्टा करने की शक्ति देता है। मन, बुद्धि को भी क्रियाशील रहने की शक्ति जीव से ही प्राप्त होती हैं जीव शरीर की चेतन शक्ति है इस कारण शरीर के प्रत्येक अंग में उसकी गतिविधि है। शरीर के आतंरिक और बाह्य अंग उसके द्वारा ही संचालित होते हैं। वह मन बुद्धि और अहंकार की क्रियाविधि को जानती है तथा वह उसकी साक्षी है, परन्तु उस जीव को मन बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा जाना जा पाना असंभव है, यही जीव की विलक्षणता है।

मानव शरीरों में तथा समस्त प्राणियों के शरीरों में यह जीव नामक विलक्षण तत्त्व निरन्तर रहता है। किसी भी जीव के शरीर में जब यह प्रवेश कर जाता है तो वहां नित्य उसकी उपस्थिति रहती है और मृत्युकाल तक वह निरन्तर ही प्राप्त हुए शरीर को चेतन रखता है। जैसे मानव शरीर में जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन अवस्थाऐं होती हैं। उन तीनों अवस्थाओं में जीव की नित्य निरन्तर उपस्थिति रहती है। किसी भी क्षण इसकी अनुपस्थिति नहीं होती, अर्थात् उपस्थिति समाप्त नहीं होती। वह शरीर का परिवर्तन होते देखती है। इस कारण जिन शरीरों में रहती है वह शरीर परिवर्तन के कारण विनाशशील हो जाता है परन्तु जीव अपरिवर्तित रहकर अविनाशी स्वरूप में रहती है। यह शरीर अनित्य और विनाशी है तथा जीव नित्य और अविनाशी है।

पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि सृष्टि के आदिकाल में अर्थात् जब सृष्टि का आरम्भ हुआ तब परमात्मा ने अपने एक शरीर को अनेक विभागों में व्यक्त कर दिया जिससे असंख्य जीवों का अस्तित्त्व उपस्थित हो गया। तब से प्रत्येक जीव निरन्तर अनेक प्रकार के विविध शरीरों में घूम रहा है। जीव का तो जन्म नहीं होता वरन् शरीरों का परिवर्तन हो जाता है। यह जीव जन्म नहीं लेता इसलिए अजन्मा है। शरीर के निरन्तर जन्म लेने और विनाश होने के कारण उसे जन्म लेने वाला मानते हैं। सृष्टि के आदिकाल से अस्तित्त्व में रहने के कारण यह शाश्वत तथा पुरातन भी कहा जाता है। शाश्वत का अर्थ सनातन होता है पुरातन का अर्थ बहुत पुराना अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से होता है। शाश्वत का अर्थ गहराई से विचार करने पर परिवर्तनरहित भी होता है। जिसमें कोई परिवर्तन न हो। जैसा आकार प्रकार स्थिति पहले थी वैसी आज भी रहे तो इसी को शाश्वत कहा जाएगा।

मानव शरीर में जीव नित्य निरन्तर रहता है। मृत्यु के समय में वह बाहर निकल जाता है। सृष्टि गणना के अनुसार हमने आज तक असंख्य जन्म ग्रहण किये हैं। उन असंख्य जन्मों में जीव असंख्य शरीरों में वास कर चुका है। यह मानव शरीर अथवा किसी

भी प्राणी का शरीर अनेकों बार विनिष्ट होता है। कभी कभी किसी दुर्घटना में क्षतिग्रस्त हो जाता है अथवा जल में डूबकर मृत हो जाता है। किसी ऊंचे स्थान से गिरकर भी विनिष्ट हो जाता है। कोई शस्त्र भी इसे काट सकता है परन्तु जीव प्रत्येक स्थिति में सुरक्षित रहता है। चाहे शरीर शस्त्र से काटा जाए। जीवित सुरक्षित बाहर निकलता है। शस्त्र से काटे जाने के बावजूद वह नहीं कटता है। कभी कभी परिस्थितिवश शरीर अग्नि में गिर जाता है और अग्नि में जल जाता है। उस स्थिति में जीव जलता नहीं है यह विशेष बात है। अत्यंत विलक्षण स्थिति है। शस्त्र जीव को नहीं काट सकते। अग्नि में उसे जलाने की सामर्थ्य नहीं है। इस कारण जीव विलक्षण है।

जीव के विषय में विशिष्ट तथ्य यह है कि जीव शरीरों में रहता है और जब तक रहता है तब तक शरीर में चेतना शक्ति रहती है। जीव की चैतन्यता शरीर की चेष्टाओं, क्रियाओं और गति के रूप में प्रतीत होती है। समस्त जीवों में चेष्टा तथा गति प्रदान करने वाला जीव प्रतीत नहीं होता है। इस कारण उसको अव्यक्त कहते है। यह जीव का विशिष्ट गुण है। जो व्यक्त नहीं होता है। अव्यक्त रहकर समस्त कार्य करता है। इस प्रकार विद्युत प्रकट नहीं होती। अनेक उपकरणों के माध्यम से वह प्रत्यक्ष होती है। उसकी उपस्थिति का आभास उपकरणों के माध्यम से होता है। जब विद्युत उपकरण चलते हैं तो हमें विद्युत की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही शरीरों की गति को देखकर जीव की उपस्थिति का ज्ञान होता है, पर जीव अव्यक्त ही रहता है।

समस्त प्राणियों के शरीरों को विकारी कहा जाता है। मानव शरीर भी विकारी है। विकार का अभिप्राय यह है कि उसका नित्य निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाऐं विकार के कारण ही होती है। यह विकार जीव में नहीं है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। वह अपरिवर्तनीय है, अविकारी है। यह भी जीव का विशेष गुण ही है। इस मानव शरीर में जीव माता के गर्भ में जिस स्थिति में आता है उसी स्थिति में वृद्धावस्था में भी रहता है। तथा मृत्युकाल में शरीर से विदा भी होता है। इस कारण इसे अपरिवर्तनीय और अविकारी अर्थात विकाररहित कहते हैं।

जीव परमात्मा का अंश होने के कारण विशिष्ट है। कुछ महानुभाव जीव को परमात्मा का अंश स्वीकार नहीं करते हैं। वेदो, उपनिषदो और दार्शनिक ग्रंथों का उदाहरण देकर जीव को परमात्मा का अंश न होने का तथ्य प्रकट करते हैं। भगवद्गीता जीव को परमात्मा का अंश स्वीकार करती है। यह विवाद का विषय नहीं है जीव के उपर्युक्त गुणों

के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव एक अत्यंत विलक्षण तत्त्व है। ऐसा विलक्षण तत्त्व परमात्मा के अंश से होना संभव है। जैसे परमात्मा इस समग्र ब्रह्मांड को अपनी संकल्प शक्ति के आधार पर बना देता है वैसे ही वह जीव इस ब्रह्मांड में स्थित समस्त शरीरों को चैतन्यता प्रदान कर देती है। इस प्रकार परमात्मा भी विलक्षण है और उसका सहधर्मी तत्त्व जीव भी विलक्षण है।

(20) मनुष्य समस्त जीवों में श्रेष्ठ क्यों है ?

हम सभी मानव पृथ्वी पर रहते हैं और इस पृथ्वी पर हमें असंख्य प्रकार के प्राणियों का दर्शन होता है। यह समस्त प्राणी इस सृष्टि का अंश हैं। आपने अनेक प्रकार के कीट पशु, पक्षी, जलचर आदि को देखा होगा। वे अपनी स्वेच्छा के अनुसार जो भी कर्म करना चाहें वैसा नहीं कर सकते है। मनुष्य ब्रह्मांड के समस्त प्राणियों से श्रेष्ठ क्यों माना जाता है? इस विषय पर विचार करना परमावश्यक है। निम्नांकित प्रकार से कुछ बिन्दु यहां पर प्रस्तुत हैं, जिससे मनुष्य की श्रेष्ठता का आभास सहज होता है।

(क) अपराप्रकृति के तीन तत्त्व मन, बुद्धि, अहंकार विकसित रूप में रहते हैं:—

समस्त प्राणियों के निर्माण में पंचभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश आधरभूत तत्त्व हैं। पशु पक्षियों में इन्द्रियों का इतना विकास नहीं होता है जितना मनुष्य में रहता है। किसी भी पशु पक्षी कीट में घ्राणेन्द्रिय बहुत विकसित रहती है। जैसे मक्खी उस स्थान को तत्काल जान लेती है जहां पर मीठी वस्तुऐं शक्कर, गुड़ आदि रहती हैं। इसी प्रकार चींटी में भी यह गुण विकसित रहता है। वह भी मीठी वस्तुओं को जान लेती है। यह परमात्मा द्वारा प्रदान की गई विशेष शक्ति है जो अनेक प्रकार के जीवों में रहती है। पतिंगा जलती हुई अग्नि को जान लेता है। इसी प्रकार बिल्ली दूध से निर्मित वस्तुओं को सूंघकर जान लेती है परन्तु उनमें मन, बुद्धि, अहंकार विकसित नहीं होते हैं। यह तीनों तत्त्व मनुष्य में ही विकसित होते हैं। मन, बुद्धि,अहंकार जैसी शक्तियों से मनुष्य संसार के प्रति संवेदनशील होता है। इस कारण मानव अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है।

(ख) मन, बुद्धि के विकसित होने से मनुष्य अपना श्रेय साधन खोज सकता है :—

मन मानव की संकल्प शक्ति है जिससे वह नाना प्रकार के विषयों और वस्तुओं के बारे में विचार करता है। मन के द्वारा विचारे गए विषयों को बुद्धि विनिश्चय का रूप देती है। अहंकार से ही मनुष्य में मैं तथा मेरेपन का आभास रहता है। यह तीन शक्तियां

परमात्मा ने मनुष्य को प्रदान की है। इस कारण अपने मन से अपने हित कल्याण का विषय मनुष्य विचार सकता है। मनुष्य यह सोच सकता है कि किस प्रकार उसका हित होगा ? और किस कार्य को करने से उसका अहित होगा। मनुष्य मन द्वारा जो विचार करता है। उस विचार को परखने का कार्य बुद्धि करती है। यह भी मानव की विशिष्ट शक्ति है, जिससे वह त्रुटिपूर्ण कार्य को छोडने का विनिश्चय कर सकता है। मन, बुद्धि रूपी शक्ति से मनुष्य अपने निश्चित कल्याण का मार्ग जान सकता है। उसकी मन तथा बुद्धि यदि शुभकर्मो में लग जाती है तो उसका कल्याण हो जाता हैं और अशुभ कर्मो में लग जाने पर उसका अहित–अकल्याण होना निश्चित है। इस प्रकार मनुष्य में मन,बुद्धि के द्वारा अपने श्रेय साधन की खोज कर ली जाती है इसलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

(ग) योगी बनकर अनेक सिद्धियों की प्राप्ति कर सकता है :–

शास्त्रों में अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन आता है। अणिमा, गरिमा, महिमा आदि आदि। अर्थात् अपने शरीर को छोटा कर लेना। अपने शरीर को विशाल कर लेना। अपने शरीर में वांछित परिवर्तन कर लेना। एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलतापूर्वक पहुंच जाना। दूसरे के मन की बातें जान लेना, भूख प्यास आदि पर नियंत्रण कर लेना आदि आदि अनेक सिद्धियों के वर्णन का उल्लेख शास्त्रों में आता है। मनुष्य उन सिद्धियों को प्रयास से प्राप्त कर सकता है। प्रयत्न से सिद्ध हो सकता है सिद्धि प्राप्त करने के साधनों और उपायों का विस्तार से उल्लेख शास्त्रों में है और उन साधनों का उल्लेख करके मनुष्य योगी हो सकता है। यह अधिकार मात्र मनुष्य योनि में ही है। इस प्रकार मनुष्य को अनेक प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने का अधिकार होने के कारण वह श्रेष्ठ है।

(घ) सांसारिक विषयों का इच्छानुसार उपभोग कर सकता है :–

आपने देखा होगा कि एक मनुष्य प्रयत्न से इसी जीवन में बहुत कुछ अर्जित कर लेता है। संसारिक वस्तुओं का, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य का, कीर्ति आदि का संकलन कर लेता है और उन्हें प्राप्त करता है। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जो भी बनना चाहें वह बन सकता है। आपने पृथक्–पृथक् इच्छाओं वाले मनुष्यों को देखा होगा। कोई मनुष्य शिक्षा ग्रहण करने का प्रयास करता है तो शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सांसारिक वस्तुओं का संग्रह कर लेता है। कोई शिक्षा ग्रहण करके अपनी इच्छा से असंख्य भोगों को एकत्र कर लेता है। यह सुविधा परमात्मा ने मात्र मनुष्य को प्रदान की है। अन्य योनियों में इस प्रकार के साधनों को एकत्रित करने की सुविधा प्राप्त नहीं है। मात्र मनुष्य को ही प्राप्त है। इस कारण मनुष्य श्रेष्ठ है।

(ङ) भगवान का भक्त बन सकता है :–

सामान्य मनुष्य जीवनपर्यन्त संसार का व्यस्त रहता है। उसका सम्पूर्ण परिश्रम ही संसार को, संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए होता है। इसी संसार में अपने सम्बंधियों से वह स्नेह करता है । इस स्नेह के कारण ही उसके अपने परिवारीजनों से सम्बंध रहता है। वह इसी प्रकार यदि भगवान से स्नेह करे, उनसे सम्बंध स्थापित करे तो उसे श्रीभगवान की प्रियता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की प्रियता को ही भक्ति कहा जाता है। जिस प्रकार हम संसार में अपने परिवारीजनों के बिना नहीं रह सकते हैं उसी प्रकार हमें भगवान के बिना नहीं रहने की कल्पना करनी चाहिए और उससे असीम स्नेह करना चाहिए। यह परमात्मा से स्नेह करने का अधिकार मात्र मनुष्य को ही प्राप्त है। इसलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

(च) तत्त्वज्ञ होने की योग्यता का विकास कर सकता है :–

प्रत्येक मनुष्य दो ही प्रकार के उद्‌देश्यों को लेकर जीवन जीता है। एक प्रकार के मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करने के लिए जीवन जीते हैं तथा दूसरे प्रकार के लोग संसार को प्राप्त करने के लिए जीवन जीते हैं। जो मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति के लिए जीवन जीते है वह लाखों मनुष्यों में से एकाध ही होते हैं। संसार की प्राप्ति को लेकर जीवन जीने वाले लगभग सभी होते हैं। जैसे हम किसी व्यक्ति की उन्नति को उसके आर्थिक विकास के आधार पर नापते हैं। कोई व्यक्ति जब अपने जीवन में बहुत सारा धन, बहुत सारी सम्पत्ति, सम्पदा एकत्र कर लेता है अथवा उच्चपद प्राप्त कर लेता है तो उसे हम सफल व्यक्ति मानते हैं। जो जितनी सम्पत्ति उपलब्ध कर लेता है वह उतना ही सफल माना जाता है।

यह तो सांसारिक विकास की बात है। परमात्मा की ओर उन्मुख मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करता है वह लाखों मनुष्यों में दुर्लभ मनुष्य होता है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की योग्यता जिस प्रकार विकसित की जाती है उसी प्रकार हम प्रयत्न से परमात्मा की प्राप्ति की योग्यता भी विकसित कर सकते हैं। हम संसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होते हैं परन्तु हम परमात्मा की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील नहीं होते हैं। मनुष्य में परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करने और उसे प्राप्त करने की योग्यता है। उसे मनुष्य विकसित कर सकता है। संसार की वस्तुओं की प्राप्ति में हमें बहुत प्रयास करना पडता है। रात दिन एक करना पड़ता है। धूप, सर्दी, गर्मी सहनी पड़ती है, परन्तु भगवान की प्राप्ति हेतु ऐसा प्रयत्न नहीं करना पडता। यह मात्र भावनात्मक है। हम अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के क्रियान्वयन और विचारों में परिवर्तन से ही परमात्मा प्राप्ति की योग्यता

को विकसित कर सकते हैं। मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति अथवा तत्त्व प्राप्ति की योग्यता विकसित कर सकता है, इसलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

(छ) दूसरों के कल्याण का मार्ग खोज सकता है :–

मनुष्य अपने कल्याण का मार्ग खोज सकता है। प्रयत्न से वह तत्त्व प्राप्त कर सकता है, जो सर्वोच्च है। जिसका प्राप्त करना मानव जीवन का अभीष्ट है। इसी प्रकार चाहें तो स्वयं परमात्मा प्राप्ति के प्रयत्न को जान कर दूसरों को भी उसके अनुकरण के लिए प्रेरित कर सकता है। हमारे मनुष्यों, महर्षियों ने यही कार्य किया। उन्होंने सत्य के दर्शन, सत्य के अनुभव के पश्चात् उस क्रिया–प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन किया है। आज हमारे समक्ष अनेक स्मृतियां,दार्शनिक ग्रंथ तथा पौराणिक पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे सबके सब ग्रंथ महर्षियों की तत्त्व अनुभूति की प्रक्रिया के संकलन हैं। परमार्थ के लिए साधुओं का शरीर रहता है। इसी के स्वरूप के व्यक्तिकरण हेतु मनुष्य पर भी दो प्रकार के दायित्व हैं। एक व्यक्तिगत दायित्व और दूसरा सामूहिक दायित्व।

मनुष्य अपने स्वयं के लिए जो कार्य करता है वह व्यक्तिगत कार्य की श्रेणी में आता है, जिससे वह अपना अहित अथवा हित कर सकता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व में समाज के अन्य लोगों के हित के लिए ही कार्य कर सकता है। जैसे यदि मनुष्य अपने कल्याण के पद की खोज हेतु प्रयत्नशील रहता है तो यह व्यक्तिगत कल्याण का मार्ग है। मनुष्य संसार को खोजे और उसकी प्राप्ति का प्रयास करे तो यह उसका व्यक्तिगत अहित वाला मार्ग है। समाज में नशे का प्रचलन, हिंसा का विकास तथा सामाजिक विकृतियों के कार्य सम्पादित हो रहे हैं इससे समाज का सामूहिक अहित होता है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत हित और सामूहिक हित के कार्य में स्वयं के निर्माण और समाज के निर्माण हेतु कार्य कर सकता है। पहले वह जैसा करना चाहता है वैसा कर सकता है। स्वयं भी सुधरता है और दूसरे को सुधारने का कार्य भी कर सकता है। मनुष्य को यह अधिकार होने के कारण वह श्रेष्ठ है।

(ज) परमात्मा प्रदत्त ज्ञान से वैज्ञानिक नवीन खोज कर सकता है :–

परमात्मा ने मनुष्य को मन तथा बुद्धि नाम की दो शक्तियां प्रदान की हैं। मन से वह नाना प्रकार के विचार करता है और बुद्धि से उन विचारों को तर्कसंगत आकार प्रदान करता है। हम आज जो विश्व में नाना प्रकार के वैज्ञानिक उपकरण, उपलब्धियां आश्चर्यप्रद वस्तुओं को देख रहे हैं वह सबके सब मन तथा बुद्धि के द्वारा ही अनुवेषित हैं। परमात्मा ने

यदि मनुष्य को मन तथा बुद्धि नामक दो तत्त्व प्रदान नहीं किये होते तो मनुष्य नाना प्रकार की खोज नहीं कर पाता। पागल व्यक्ति के मन तथा बुद्धि उचित रूप से कार्य नहीं करते हैं, इस कारण उसका मन न तो उचित विचार कर सकता है और न ही बुद्धि मन के द्वारा विचारित किये गए विषयों का विनिश्चय कर सकती है। इस प्रकार मन तथा बुद्धि की शक्ति के रूप में जो ज्ञान परमात्मा द्वारा प्रदान किया गया है वह उसी के परिणाम में यह सबका सब वैज्ञानिक शोध आज हम देख रहे है। अन्य योनियों में मन तथा बुद्धि अविकसित रहती है। ठीक से कार्य नहीं करती है। मन तथा बुद्धि की शक्ति के रूप में जो ज्ञान है उससे कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ है।

(झ) कर्म करने के अधिकार के कारण अपने भाग्य का निर्माता हैः–

आज का भाग्य कल अर्थात् अतीत में क्रियान्वित किये गए कर्मो का परिणाम है। जिस प्रकार सुखद ओर दुखद परिस्थितियों को हम अपना भाग्य कहते हैं वह भाग्य हमारे कृतकर्मो का परिणामस्वरूप है। यदि हम सुख चाहते हैं तो हमें असामाजिक शास्त्र विरूद्ध कर्मो का तत्काल परित्याग कर देना चाहिए। यह कार्य हम कर सकते हैं। इसका अधिकार हमें परमात्मा ने प्रदान किया है। हम यदि शुभ कर्म करेंगे तो उसका परिणाम शुभ ही होगा। इसी प्रकार अशुभ कर्मो का परिणाम अशुभ ही होगा। यदि हम प्रतिकूलताओं में गुजर रहे हैं तो हमें अपने कर्मो का निरीक्षण करना चाहिए। मनुष्य को परमात्मा ने यह अधिकार प्रदान किया है कि वह अपनी समग्र प्रतिकूलताओं को जिसे साधारण भाषा में दुर्भाग्य कहा जाता है, को निश्चित रूप से परिवर्तित कर सकता है। यह अधिकार परमात्मा द्वारा मनुष्य को प्राप्त है, इस कारण मनुष्य श्रेष्ठ है।

परमात्मा इस समग्र जगत का रचयिता है। इस कारण प्रत्येक जीव, वस्तु, सत्ता, पदार्थ सभी कुछ उसके अधीन है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, देव, दानव, सभी उसकी अधीनता स्वीकार करके उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सभी उसके वश में हैं। यह समग्र उसके अधीन है, इस कारण वह सर्वोच्च है, परन्तु जो मनुष्य भगवान के वियोग में, उसके विरह में व्याकुल रहता है तथा उसका भक्त बन जाता है, उसके वश में भगवान भी हो जाते हैं अर्थात् समग्र ब्रह्मांड उस भगवान पर आश्रित है और भगवान अपने भक्त के आश्रित हैं। यह भक्त मनुष्य की श्रेष्ठता है। इस भाव से मनुष्य श्रेष्ठ है तथा भगवान का परम प्रिय है। हम चाहे तो उसके परम प्रिय बन सकते हैं, उसकी प्रियता प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण मनुष्य श्रेष्ठ है।

(21) भगवान को कौन प्रिय है? :—

प्रत्येक मनुष्य की यह आकांक्षा रहती है कि वह भगवन का प्रिय रहे। जगत में ऐसा कौन होगा? जो भगवान की प्रियता नहीं चाहेंगा। हम सभी उसकी प्रियता हेतु लालायित रहते हैं। जैसे हम संसार में यह चाहते हैं कि किसी अधिकार सम्पन्न, सम्पन्न, ऐश्वर्यवान मनुष्य का साथ हो। जबकि वह भगवान तो सर्वशक्तिमान, सर्वसम्पन्न, समस्त ऋद्धियों, सिद्धियों से युक्त है तो उस सर्वशक्तिमान समग्र ब्रह्मांड के नियंता रचनाकार का प्रिय कौन नहीं होना चाहेगा? सभी चाहते हैं कि हम भगवान के प्रिय बनें। भगवान ने अपने प्रिय मनुष्यों के गुणों का वर्णन विस्तार से किया है। इन गुणों को हम स्वयं भी विकसित करके श्रीभगवान के प्रिय बन सकते हैं। वे गुण कौन से हैं जो हमें परमात्मा का प्रिय बनाते हैं। उन गुणों का अवलोकन कीजिए —

(एक) अपेक्षारहित : संसार की प्रिय वस्तुओं की किसी से भी जो अपेक्षा नहीं रखता है ऐसा अपेक्षारहित मनुष्य भगवान को प्रिय होता है।

(दो) पवित्र : जो मनुष्य स्नानादि से बाह्य पवित्रता रखता है तथा मन में कोई कुविचार नहीं रखता है, वह मनुष्य भगवान को प्रिय होता है।

(तीन) दक्ष : जो मनुष्य भगवद् प्राप्ति के साधन को जान गया है और प्रयत्नपूर्वक उसकी अनुभूति करने हेतु प्रयास करता है ऐसे कुशल मनुष्य भगवान को प्रिय होते हैं।

(चार) उदासीन : जो मनुष्य सांसारिक चेष्टाओं के प्रति शान्त है। संसार में विशेषकर राजस और तामस गुणों के प्रभाव से जो कार्य होते हैं उनको वह संज्ञान में नहीं लेता है। ऐसा उदासीन व्यक्ति भगवान को प्रिय होता है।

(पांच) गतव्यथा : जिस मनुष्य में सांसारिक प्रतिकूलताओं के आने पर कोई उद्विग्नता नहीं होती। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में जो मनुष्य उद्विग्न नहीं होता ऐसा मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(छः) समग्र जीवों के प्रति करूणायुक्त : जो मनुष्य समस्त प्राणियों के प्रति दया का भाव रखता है तथा किसी के द्वारा अहित किये जाने पर भी उसे क्षमा कर देता है। ऐसा मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(सात) मित्रवत् स्वभाव वाला : जो मनुष्य जीवमात्र के प्रति विशेषकर मनुष्यमात्र के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार रखता है तथा उसके मन में किसी भी प्रकार का शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं आता है वह श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(आठ) ममतारहित : सांसारिक व्यक्तियों, मनुष्यों, वस्तुओं के प्रति ममता न रखने वाला मनुष्य भगवान को प्रिय होता है। वह मनुष्य श्रीभगवान को अत्यंत प्रिय है जो उनके प्रति ही ममता का भाव रखता है।

(नौ) निरहंकारी : जिस मनुष्य के मन में अहंकार नहीं रहता है तथा जो जगत की सत्ता प्राप्त कर लेने पर भी अहंकार से शून्य रहता है। ऐसा सामर्थ्यवान मनुष्य अहंकार से विमुक्त होकर श्रीभगवान को प्रिय लगता है।

(दस) सुख दुःख में समभाव रखने वाला : जो मनुष्य सुख ओर दुःख में एक समान व्यवहार करते हैं। सुख में सुखी नहीं होता है और दुःख में दुःखी नहीं होता है श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(ग्यारह) क्षमी : जो मनुष्य समस्त प्रकार से क्षमाभाव वाला है। अपने किसी प्रकार से अहित करने वालों को भी अभयदान देने वाला है। ऐसा मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय है।

(बारह) दृढ़निश्चयी : जिसने संसार और सांसारिकता का त्याग कर दिया है तथा परमात्मा की प्राप्ति का विनिश्चय कर लिया है और उस दृढ़ विनिश्चय के साथ साक्षात्कार के कर्म में लगा हुआ है। ऐसा तत्त्व प्राप्ति का विनिश्चिय करने वाला दृढ़निश्चयी पुरूष श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(तेरह) भगवान में मन बुद्धि अर्पित करने वाला : जिस मनुष्य ने अपने मन और बुद्धि को संसार से हटाकर श्रीभगवान में अर्पित कर दिया है वह श्रीभगवान में मन बुद्धि को अर्पित करने वाला श्रीभगवान को अत्यंत प्रिय है।

(चौदह) उद्विग्नतारहित : जो मनुष्य किसी भी मनुष्य को किसी भी प्रकार से उद्विग्न नहीं करता है और स्वयं भी किसी से उद्विग्न नहीं होता। वह शान्तभाव से रहने वाला मनुष्य श्री भगवान को प्रिय होता है।

(पंद्रह) हर्षरहित : जो अनुकूल परिस्थितियों में भी किसी प्रकार की प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता, साम्राज्य प्राप्त हो जाने पर वह समभाव से स्थिर रहता है। ऐसा मनुष्य श्री भगवान को प्रिय होता है।

(सोलह) योगी : जो मनुष्य श्रीभगवान से नित्य निरन्तर सम्बंध जोड़ने का प्रयास करता है। प्रयत्न में असफल रहने पर वह पुनः पुनः प्रयत्न करता है। ऐसा योगी मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय है।

(सत्रह) यतात्मा : जिस मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों सहित मन और शरीर को जीत लिया है वह सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं होता तथा इन्द्रियों और मन से समस्त प्रकार के सांसारिक भोगों का परित्याग कर देता है। ऐसा मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(अठ्ठारह) भयरहित : जो मनुष्य अपने शरीर के विनाश सहित अन्य प्रकार के सांसारिक भय से पूरी तरह से विमुक्त हो जाता है ऐसा भयरहित मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(उन्नीस) ईष्या रहित : जो मनुष्य समस्त मनुष्यों से किसी प्रकार का ईर्ष्या और द्वेष नहीं रखता है। ईर्ष्यारहित मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(बीस) उद्वेगरहित : जो मनुष्य प्रत्येक प्रकार की आंतरिक चेष्टा अर्थात् हलचल से रहित हो जाता है तथा प्रत्येक स्थिति में समभाव से स्थित रहता है वह मनुष्य भी श्रीभगवान को प्रिय है।

(इक्कीस) कामनारहित : जो मनुष्य समस्त प्रकार की सांसारिक कामनाओं से रहित हो जाता है और किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करता है वह श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(बाइस) शोकरहित : समस्त प्रकार की सांसारिक कामनाओं के त्याग से जब मनुष्य निवृत हो जाता है और उसमें सुख दुःख की अनुभूति अवशेष नहीं रहती है तो ऐसे मनुष्य में शोक का भी अभाव होता है। ऐसा शोकरहित मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय है।

(तेईस) शत्रु मित्र में समभाव वाला : जो मनुष्य शत्रु और मित्र में समभाव वाला हो जाता है और उसका न तो कोई संसार में शत्रु होता है और न कोई मित्र ही होता है। ऐसा मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(चौबीस) शुभाशुभ परित्यागी : संसार में मनुष्य शुभ कर्म करता है अथवा अशुभ कर्म करता है शुभ कर्मो का फल शुभ मिलता है और अशुभ कर्मो का फल अशुभ ही प्राप्त होता है। परन्तु जो मनुष्य शुभ तथा अशुभ कर्मो का त्याग करके सत्त्वगुण से ऊपर हो जाता है वह मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय है।

(पच्चीस) मान अपमान में सम : जो मनुष्य अपने सम्मान की आकांक्षा नहीं करता है और कतिपय कारणों से अपमानित होने पर उद्विग्न नहीं होता तथा मान अपमान में एक समान रहता है वह श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(छब्बीस) नवीन कर्मो का परित्यागी : संसारिक कर्मो की सीमा नहीं है। जो मनुष्य सांसारिक कर्मो की सीमा की असंख्यता को समझता है वह नवीन कर्मो का त्याग कर देता

है। जो मनुष्य समस्त प्रकार के नवीन कर्मो का त्यागी हो जाता है वह श्रीभगवान को प्रिय लगता है।

(सत्ताइस) मननशील : जो अपने हित के मार्ग का विचारक है और अहित के मार्ग को भी विचार करके उसे त्याग देता है, ऐसा मननशील मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय होता है।

(अठ्ठाइस) स्थिरप्रज्ञ : जो मनुष्य स्थिर बुद्धि वाला है तथा समस्त चेष्टाओं और कामनाओं से रहित हो गया है। ऐसे कामना तथा चेष्टा रहित मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है। ऐसा स्थिरप्रज्ञ मनुष्य श्रीभगवान को प्रिय है।

(उनतीस) यदृच्छालाभसंतुष्टो : जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए उसमें प्रसन्न रहने वाला भगवान को अत्यंत प्रिय होता है।

भगवान की प्रियता हेतु उपरोक्त प्रकार से कुछ गुणों को वर्णित किया गया है। यदि आप श्रीभगवान के प्रिय होना चाहते हैं तो उपर्युक्त गुणों को अपने में विकसित करके श्री भगवान की प्रियता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

(22) भगवान का परम प्रिय कौन है ?

श्रीभगवान ने अपने परमप्रिय की व्याख्या भी की है। परमप्रियता से प्रियता से श्रेष्ठ होती है। जैसे संसार में हमारे कई मित्र होते हैं और उनमें प्रिय तथा परमप्रिय का आंकलन हम कर लेते हैं। इसी प्रकार श्रीभगवान भी अपने प्रिय तथा परमप्रिय का आंकलन करते हैं। भगवान के प्रियपात्रों का वर्णन उनके गुणों के आधार पर किया जाता है जिसे समझ कर उनके प्रियपात्र हो सकते हैं। भगवान ने अपने प्रियपात्रों की व्याख्या करते हुए यह **कहा है कि –**

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।

श्री भगवान ने कहा कि जो कोई मनुष्य भगवद्गीता उपनिषदरूपी शास्त्र को हमारे भक्तों में प्रचारित प्रसारित करेगा व मुझे निसंदेह प्राप्त हो जाएगा। वह मनुष्य मेरी श्रेष्ठ भक्ति करेगा। उस मनुष्य के समान श्रेष्ठ कर्म करने वाला मनुष्यों में अन्य कोई नहीं होगा और न ही उसके समान कोई हुआ है न ही होगा। भगवान ने इस स्थल पर यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जो मनुष्य भगवद्गीता के ज्ञान का प्रचार प्रसार हमारे भक्तों में करेगा

वह मनुष्य हमें परम प्रिय होगा। इस कारण भगवान की परमप्रियता प्राप्त करने के लिए गीता के यथावत् ज्ञान का प्रचार प्रसार मनुष्य को करना चाहिए।

(23) तत्त्वज्ञ पुरूष देवताओं से श्रेष्ठ हो जाता है :–

परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति के द्वारा तीन गुणों सत्त्व, रज और तम की उत्पत्ति की जाती है। इस कारण इन गुणों को प्रकृतिजन्य कहा जाता है। परमात्मा की सृष्टि के एक अंग देवगण तथा मनुष्यगण विशेष कर इन तीन गुणों से प्रभावित रहते हैं। सम्पूर्ण जगत त्रिगुणों के प्रभाव से ही चेष्टा कर रहा है। देवगण भी इससे अछूते नहीं हैं। मनुष्य जब साधना करता है तो इन त्रिगुणों से परे होने के लिए करता है। इन त्रिगुणों का कार्य तथा उसका प्रभाव पृथक्–पृथक् रूप से होता है। तामसी गुण मनुष्य में अज्ञान और अंधकार उत्पन्न कर देता है तथा उसमें उसे निद्रा, आलस्य, प्रमाद में लगा देता है। इस कारण तमोगुण से प्रभावित मनुष्य असामाजिक कार्यो, दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाता है। तमोगुण स्वाभाविक रूप से मनुष्य को स्वतः ही अवैधानिक और असामाजिक कर्मो की ओर प्रवृत्त करता है। इसी प्रकार रजोगुण मनुष्य में कर्म की आसक्ति उत्पन्न कर देता है। तब मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है। यह रजोगुण के कारण ही होता है। रजोगुण मनुष्य को कर्म करने के लिए बाध्य करते हैं। इसी प्रकार सत्त्वगुण मनुष्य में ज्ञान तथा सुख की आसक्ति से बांध कर नाना प्रकार के शुभ कर्म करवाता है। मनुष्य नाना प्रकार के सकाम भाव से यज्ञ, दान, तप कर्म करता है और सात्त्विक गुणों के प्रभाव में रहता है।

देवगण सात्त्विक प्रधान होते हैं। अर्थात् देवसृष्टि सात्त्विक गुणों के परिणाम तथा कार्य के रूप में देवलोकों में नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करके आमोद प्रमोद में व्यस्त रहती है। एक तो उन्हें साधन करने का अधिकार नहीं होता है वे इस कारण देव लोक में उपलब्ध सुखों को भोगते हैं। त्रिगुणों का सात्त्विक गुण ही उन्हें अपने प्रभाव से भोग में आसक्त रखता है, वे इस कारण त्रिगुणों से अतीत नहीं हो पाते हैं। साधक मनुष्य जब प्रयास करता है तो अत्यंत प्रयास से त्रिगुणों से अतीत स्थिति प्राप्त कर लेता है और साधक त्रिगुणातीत हो जाता है। उसमें अनायास ही निम्न गुणों का समावेश हो जाता है।

(एक) त्रिगुणों से अतीत पुरूष संसार की समस्त क्रियाओं को उदासीनवत् रहकर देखा करता है और उनसे किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता है।

(दो) सत्त्व, रज, तम गुणों का कार्य तथा उसका प्रभाव मनुष्य को प्रभावित करने में असमर्थ हो जाता है, अर्थात् त्रिगुण उसे कदापि विचलित नही कर सकते।

(तीन) त्रिगुण अर्थात् सत, रज, तम के कार्य स्वतः चल रहे हैं। यह तथ्य जो जान लेता है और उससे प्रभावित नहीं होता है वह त्रिगुणों से अतीत स्थिति में आ जाता है।

(चार) उदासीनवत् आसीन रहने के कारण ऐसा मनुष्य कोई चेष्टा नहीं करता है और जीवननिर्वाह के अतिरिक्त उसकी समस्त क्रियाऐं शून्य हो जाती हैं।

(पांच) त्रिगुणातीत पुरूष में धैर्य की वृद्धि आश्चर्यजनक रूप से हो जाती है क्योकि वह जानता है समस्त क्रियाऐं प्रकृति के गुणों द्वारा ही की जा रही हैं।

(छः) अनुकूल परिस्थितियों के आने अथवा प्रतिकूल स्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर त्रिगुण से अतीत पुरूष एक समान रहता है और एक जैसा व्यवहार करता है।

(सात) मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण में एक समान बुद्धि रखता है। उसके लिए अमूल्य तथा मूल्यवान वस्तु एकसमान हो जाती है।

(आठ) चाहें उसे अपने प्रिय की प्राप्ति हो अथवा अप्रिय की उपलब्धि हो वह प्रिय और अप्रिय को प्राप्त करके एकसमान रहता है।

(नौ) निन्द तथा स्तुति, मान तथा अपमान में एकसमान भाव से रहता है। उस पर प्रशंसा और निंदा का कोई प्रभाव नहीं रहता है।

(दस) त्रिगुण से अतीत पुरूष का चाहें कोई मित्र हो अथवा कोई शत्रु हो वह दोनों के प्रति समभाव ही रखता है।

(ग्यारह) वह किसी भी सांसारिक कर्म का आरम्भ धन, सम्पदा, पद, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति को ध्यान में रखकर नहीं करता है।

(बारह) परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है। और संसार का आश्रय पूरी तरह से छोड़ देता है।

उपरोक्त गुणों के कारण ही गुणों से अतीत मनुष्य तत्त्वज्ञ हो जाता है और वह देवताओं के समान होकर उसमें देवताओं की श्रेष्ठता आ जाती है। देवताओं द्वारा इन गुणों की प्राप्ति का साधन संभव नहीं है। आपने पुराणों में अनेक देवताओं के सम्बंध में अनेक प्रकार की कहानियां सुनी होंगी। यह त्रिगुणों के कारण ही होती है। दक्ष प्रजापति तथा भगवान शंकर का विवाद जग प्रसिद्ध है जिसमें माता पार्वती को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी थी। इस प्रकार के अनेक प्रसंगों का उल्लेख पुराणों में विस्तार से है। देवगणों में

सम्मान तथा असम्मान के कारण निन्दा और स्तुति चलती रहती है और पद प्राप्ति के लिए विवाद भी चला करता है। यह स्थिति तत्त्वज्ञ पुरूष में नहीं रहती है। इस कारण तत्त्वज्ञ पुरूष देवताओं से श्रेष्ठ हो जाता है। भगवान का भक्त होने के कारण उसे श्रीभगवान की प्रियता प्राप्त हो जाती है और वह अत्यंत उत्कृष्ट हो जाता है।

(24) मन एवं उसका संयमन :–

मन मानव मानव शरीर में एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। उसकी क्रिया विधि को समझना अति आवश्यक है। उसका संयमन भी साधक के लिए अनिवार्य है। उसका संयमन आवश्यक क्यों होता है? यह तथ्य महत्वपूर्ण है। इसके संयमन की आवश्यकता को समझे–

(क) मन का संयमन आवश्यक क्यों है?

परमात्मा की अपरा प्रकृति के छठे महत्वपूर्ण तत्त्व मन मानव शरीर में विशिष्ट तत्त्व है। इसकी विशिष्टता के प्रतिपादन हेतु ये कहा जाता है, कि संयमी मन वाला साधक सिद्धि को प्राप्त हो जाता तथा असंयमित मन वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है तथा नाना प्रकार की आसुरी –नारकीय योनियों में भ्रमण करके कष्ट सहता रहता है। इस प्रकार से संयमित मन वाला मनुष्य अपने कल्याण का मार्ग खोज कर सुखानुभूति करता है और परम पद की प्राप्ति करके मुक्त हो जाता है तथा असंयमित मन वाला मनुष्य दुखः सहता है। अपने कल्याण तथा हित की इच्छा वाले मनुष्यों ने मन को संयमित किया है, और उसे उस तत्त्व के चिन्तन की ओर उन्मुख किया है जिधर जाकर मनुष्य को परम सुख की, आनन्द की, परमानन्द की अनुभूति होती है। हम मन को संयमित करके सुख प्राप्त कर सकते हैं और दु:खों का कारण मन का असंयमित रहना ही माना गया है। इस कारण मन का संयमन–नियंत्रण आवश्यक है।

साधारणतया प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है और आनन्द चाहता है। चाहें वह किसी भी प्रकृति का व्यक्ति हो। अपराधी स्वभाव के व्यक्ति तथा दुष्कर्मी मनुष्य भी सुख चाहते हैं और सुख की चाहना में वे दुष्कर्म और अपराध करते हैं। ये एक साधारण तथ्य है। यद्यपि उन्हें दुष्कर्म के परिणामस्वरूप सुख की प्राप्ति तो नहीं होती, बल्कि वे दुखों के भंवर में अवश्य फॅस जाते हैं। मनुष्य दुष्कर्म और अपराध क्यों करता है? उसके मूल कारण पर जब आप विचार करेगें तो पायेगें की दुष्कर्मो और अपराधों का कार्यान्वयन असंयमित मन वाले व्यक्ति ही करते हैं। अवांछनीय कामनाओं और भोगवाले व्यक्तियों के मानसिक विचार ही मनुष्य को इस अज्ञानता में ढकेल देते हैं। फिर मनुष्य अपने मन को संयमित

कर ले तो वह अपराध ओर दुष्कर्मों का पूरी तरह से त्याग कर देगा। इस कारण भी मन का संयमन और नियंत्रण आवश्यक है।

मनुष्य के समस्त कर्मों के कियान्वयन का दायित्व मन के चिन्तन पर ही आधारित है। अर्थात् हम नित्य– प्रति ,पल– प्रतिपल जो कुछ भी करते हैं वह सब का सब मन के चिन्तन पर ही आधारित होता है। वैसा ही मनुष्य कार्य करता है। यदि मनुष्य अच्छे कर्मों के बारे में विचार करता है, तो वह शुभ कर्म ही करता है और यदि अशुभ कर्मो के बारे में विचार करता है तो मन के विचार के आधार पर अशुभ कर्म आरम्भ कर देता है। अर्थात् समस्त कार्यों का सम्बन्ध और आधार में मन का चिन्तन ही कारण होता है। अब आप मन के चिन्तन की महत्ता को सहजता से समझ गये होगें।

मानव जीवन का सारा का सारा कार्य ही मन के चिन्तन पर आधारित है। असंयमित मन ऐसे विचार करता जो परिणामतः मनुष्य के लिए बहुत ही दुःखदायी सिद्ध होते हैं। तत्काल इस का कोई प्रभाव अथवा परिणाम प्रतीत नहीं होता है पर असंयमित मन ने जो विचार किया है उसे कियान्वित करके हम अनेक प्रकार के दुःखों को झेलते हैं और अन्ततः दुखी होते हैं। इस कारण मन का पूर्ण संयमन और नियंत्रण आवश्यक है। यह आवश्यकता मानव जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है । इस प्रकार यदि हम मन को संयमित करते हैं तो मानव जीवन के परम उद्‌देश्य मुक्ति को सहजता से प्राप्त कर सकते है और मन को असंयमित रखकर जीवनपर्यन्त दुख भोगते हैं तथा मृत्यु के उपरान्त नरकगामी होते हैं।

(ख) मन को कैसे सयंमित करें ?

अपरा प्रकृति के छठे तत्त्व मन को संयमित करने के दो उपाय है, जिन्हें अभ्यास तथा वैराग्य कहा जाता है। इस दोनों का विधिवत् अवलोकन करें –

1–अभ्यास क्या है?–

` मन बड़ा ही चंचल और प्रमथनशील कहा जाता है, तथा अनुभव में इसकी चंचलता तथा प्रमथनशीलता परखी जा सकती है। वह कहॉ विचरता है? ये तथ्य प्रत्येक मनुष्य जानता है। अर्थात् हमारा मन किन किन विषयों में घूम रहा है, विचर रहा है, ये हम जानते है। सांसारिक विषय, कामनायें तथा भोग असंख्य है। इस कारण मन के विचरण के कारण भी विषयानुसार असंख्य है। उन सभी को वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता सकता है कि जिन जिन कामनाओं में, भोगो में, विषयों में मन घूम रहा

है उन उन से हटा कर हम उसे परमात्मा में लगावे। आप प्रमनथनशील मन को अपने इष्ट में भी लगा सकते हैं। मुख्य तथ्य ये हैं कि कामनाओं का, इन्द्रिय विषयों का चिन्तन हमें समाप्त करना पडे.गा। जिस प्रकार एक चंचल शिशु पुनः पुनः घर से बाहर भागने का प्रयास करता है और हम उस पर दृष्टि रख कर सुरक्षित स्थान में पकड. लाते हैं। वह यदि रोता है तो भी उसके रोने पर दृष्टि न रख कर उसे उसके हित के लिए पकड. कर घर में बन्द कर देते हैं। इसी प्रकार हम मन को सांसारिक विषयों से जबरदस्ती हटाकर परमात्मा में लगाते हैं।

मन तो पुनः पुनः भागता है और हमें उसे पुनः पुनः पकड. कर लाने की क्रिया करनी पडती है। आपने देखा होगा, अनुभव किया होगा कि मन इतना चंचल है कि वह एक ही पल में अनेक विषयों पर विचार कर डालता है। विचारों की नयी श्रृखंला निकलती जाती है और वो समाप्त नही होती। यदि विचारो कि श्रृखंला को हम स्वयं विराम न दे अर्थात् उसे न रोके तो वह जल के प्रवाह के भॅाति बहती जाती है। चलती जाती है। हमें उसे रोकने के लिए बन्धन देना पड.ता है। मन की चंचलता तथा प्रमथनशीलता को पुनः पुनः सांसारिक विषयों से हटा कर पुनः पुनः परमात्मा तथा अपने इष्ट में लगाने का कार्य ही अभ्यास कहलाता है। इसके नियन्त्रण अनुपालन से, सेवन से, अभ्यास में दृढ.ता से साधक परिपक्वता की ओर उन्मुख हो जाता है। अभ्यास के दृढ. हो जाने पर मन संयमित हो जाता है और हम अनावश्यक चिन्तन से बच जाते हैं।

2– अभ्यास के कुछ सहज उपाय :–

क– मन को निरूद्ध करने के अभ्यास के अनेक उपाय हो सकते हैं। कार्य, परिस्थिति , वातावरण की सुविधा के अनुसार साधक उन्हें अपनाता है, परन्तु प्रंसग वश सहज उपाय के सम्बन्ध मे चर्चा प्रस्तुत करना चाहूॅगा–

परमात्मा के नाम का जप, किसी मंत्र का जप वाणी से शान्तिपूर्वक करना चाहिए। उस नाम जप अथवा मन को वाणी से कहने पर उसकी लिपि पर ध्यान रखा जा सकता है। वाणी से मंत्र जप तथा मन को लिपि पर रखने से धीरे धीरे चंचल मन स्थिर होने लगता है। परमात्मा चूॅकि हमारे ह्रदय में रहता है, इस कारण वह हमारे द्वारा वाणी से किये गये मंत्र जप को सुनता है। जैसे हम किसी व्यक्ति को पुकारने के लिए आवाज देते हैं, तो वह अपने नाम का सम्बोधन सुन कर अपना सम्बन्ध जान कर हमारी ओर आकर्षित हो जाता है। वाणी से नाम जप की महिमा इसी कारण है। वैसे तो परमात्मा सबका मित्र है। सबके प्रति समभाव वाला है परन्तु जो उसे पुनः पुनः पुकारता है, वह उसकी ओर

निश्चित रूप से आकर्षित हो जाता है। पुकारने वाले कि आवाज सुनता है। उसकी प्रार्थना स्वीकार करता है।जिस मंत्र का जप करें उसकी लिपि पर मन को संलग्न किया जा सकता है।

ख—मनुष्य में पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ हैं जिन्हें कर्ण, नेत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा कहा जाता है। कर्ण अर्थात् कान का गुण शब्द है। जिह्वा अर्थात् जीभ का विषय रस है। नेत्र अर्थात् आखों का विषय रूप है। त्वचा का विषय स्पर्श है और नासिका का विषय गन्ध है। जैसे हम आखों से किसी मनोहारी दृश्य को देखते हैं तो मन भी वहॉ जाता है। दृश्य को देखने तथा मन के वहॉ पहुचनें में एक सेकेण्ड का अन्तर रहता है। इस अन्तराल को हम तत्काल कह सकते हैं। मनोहारी दृश्य हम देखते हैं तो हमारा मन भी वहॅा जाता है। अर्थात् मन का सहयोग रहता है। इस प्रकार मन भी आखों के साथ मनोहारी दृश्य का आनन्द लेता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के विषय में मन साथ रहता है। इन्द्रिय विषयों में फंसा मन अनियन्त्रित हो जाता है और असंयमित आचरण करता है। इन्द्रिय विषयों में मन जब फंस जाता है तो उसकी स्थिति पूर्णरूप से असंयमित हो जाती है। ऐसी स्थिति में मन की गति इन्द्रिय विषयों के सहारे हो जाती है। ये मन का असंयमन और अनियन्त्रण है। मन को यदि अभ्यास से नियन्त्रित करना है तो हमें विषयों से पृथक् करने का अभ्यास करना चाहिए। स्पष्ट तथ्य ये है कि जब तक इन्द्रिय विषय नियंत्रित नहीं किये जायेगें जब तक हमारा मन अनियन्त्रित रहेगा। इस प्रकार इन्द्रिय विषयों के नियंत्रण से भी मन नियन्त्रित हो जाता है।

ग— मनुष्य में श्वांस प्रश्वांस अर्थात प्राण वायु का अंदर जाना और बाहर आना एक स्वतः एवं स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया निरंतर गतिशील रहती है। तीनों अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति काल में इस क्रिया का कभी समापन नहीं होता। जाग्रत अवस्था में हम इसका अनुभव कर सकते हैं। श्वासं प्रश्वांस शरीर की चेतनता का आधार माना जाता है और इससे मन को नियंत्रित किया जा सकता है। श्वांस प्रश्वांस की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए हम ये कहना चाहेंगे कि यदि आप सोना चाहते है ंतो श्वांस प्रश्वांस की गति के साथ मन को संलग्न कर दें। पांच से दस मिनट के अंतराल में आपको प्रगाढ़ निद्रा आ जाएगी और आप तत्काल सो जाऐगे। इस प्रक्रिया में आपका मन श्वांस प्रश्वांस की गति से हटना नहीं चाहिए।

बहुत से साधक मन को श्वांस प्रश्वांस की गति पर रोके रखने के लिए संख्या अर्थात गिनती का सहारा लेते हैं। जैसे श्वांस के बाहर आने पर एक और श्वांस के अंदर

जाने पर दो कहते हैं। इसी क्रम में गिनती बढ़ती जाती है। यदि आपने मन को श्वांस प्रश्वांस की गति पर स्थापित कर दिया है तो आप सौ की गिनती के पूर्व ही सो जाएंगे। बहुत से साधक पचास–साठ की गिनती के पहले सो जाते हैं। इस प्रकार मन को नियंत्रित करने के लिए श्वांस प्रश्वांस भी एक विशिष्ट साधन है जिसकी गति पर हमें मन को लगाना पड़ता है। इस साधन से भी मन नियंत्रित हो जाता है। इस प्रकार के साधन के कई अन्य लाभ भी हैं। जैसे शरीर में आलस्य और प्रमाद को हटा देना। उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करना तथा सिरदर्द का समापन आदि भी इस क्रिया से संयमित किए जाते हैं। श्वांस प्रश्वांस की गति पर मन लगाकर साधक को मन के नियंत्रण का प्रयास करना चाहिए। इससे शारीरिक और आत्मिक दोनों ही लाभ होते हैं।

3–वैराग्य से मन का नियंत्रण होता है–

इस जगत की प्रत्येक वस्तु नाशवान, परिवर्तनशील है जो आज है वह कल नहीं रहेगी। ये निश्चित तथ्य है। नित्य परिवर्तन का नियम प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु पर लागू होता है। जब प्रत्येक वस्तु नाशवान है,तो इससे मोह करना और इससे अपने कल्याण की अपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण है। ये निश्चित नियम है। हमारा भटकाव, हमारी शान्ति तभी होती है जब हम अनित्य और नाशवान वस्तुओं को नित्य और अविनाशी समझ कर उनमे आसक्त हो जाते हैं। ये आसक्ति हमारी मनःस्थिति को बहुत ही गति प्रदान करती है। परमात्मा एक मात्र हमारा सुहृद है। जगत में जो भी है, वह नाशवान है। ये समझ कर जगत में स्नेह और सम्बन्ध का त्याग करना तथा परमात्मा से स्नेह करके उससे सम्बन्ध जोड. लेना ही वैराग्य कहा जाता है। वैराग्य की प्रक्रिया में हम जगत की सत्ता को निष्क्रिय मानकर उसे नकारते हैं। उससे सम्बन्ध तोड.ते हैं। संसार की सत्ता से सम्बन्ध तोडने से मन की चंचलता स्वतः समाप्त होती है। चूँकि मन की चंचलता का प्रमुख कारण ही जगत की सत्ता से संर्पक ररखना है। जगत की वस्तुओं से तथा मनुष्यों से जो आसक्तिपूर्ण स्नेह है, जिसमें हम सुख की आशा करते हैं वही हमारे मन को चंचल करता है। इसके प्रतिकूल कार्य करने से मन नियन्त्रित हो जाता है। इस कारण वैराग्य से भी मन धीरे धीरे नियन्त्रित होकर परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

(25) असंयमित मन से योग की प्राप्ति कठिन है :–

मन की चंचलता एवं प्रमथनशीलता के तथ्य को हम समझ गए होंगे। मन की चंचलता तथा प्रमथनशीलता का तथ्य हम समझ कर उसकी क्रिया विधि को समझने का

प्रयास करना चाहिए। उसकी क्रिया विधि को समझना आवश्यक क्यों है? क्योंकि असंयमित मन से योग की प्राप्ति दुर्लभ है। ऐसा श्रीभगवान का स्पष्ट मत है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।

जिस किसी साधक का मन सम्पूर्णता से संयमित नहीं है। वह योग की सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है अर्थात् योग की प्राप्ति उसके लिए दुर्लभ, दुष्प्राप्य है परन्तु जो साधक उपाय करता है प्रयत्नशील रहता हैं उसे योगकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसा श्री भगवान का स्पष्ट मत है। साधारणतः मन को संयमित कर पाना कठिन है। सभी लोग इसका आभास करते होंगे। किसी घटना के हो जाने पर मन बड़ी चंचलता से कार्य करता है। सामान्य रूप से भी मन बड़ा चंचल रहता है। साधना के समय अर्थात् साधन काल में इस प्रमथन शील मन को नियंत्रित करके परमात्मा में लगाना पड़ता है। इस साधन के अनेक प्रकार हो सकते है परन्तु मन का विचार, चिंतन, परमात्मा की ओर उन्मुख हो इसका प्रयत्न ही साधन कहलाता है। मन की प्रमथनशीलता जब समाप्त हो जाती है और वह पूरी तरह से शान्त होकर एकाग्र हो जाती है तब मनुष्य सस्वरूप में स्थित हो जाता है। स्वस्वरूप में स्थिति इतनी शीघ्रता से नहीं आती परन्तु निरन्तर प्रयास से आ जाती है। यदि मन असंयमित व्यवहार कर रहा है शीघ्र संयमित नहीं हो पा रहा है तो बिना उक्ताए हुए उसके संयमन का अभ्यास करते रहना चाहिए क्योंकि असंयमित मन से योग की सिद्धि कठिन है। असंभव है।

(26) मन की नियंत्रण शक्ति बुद्धि :—

साधारण मनुष्य मन तथा बुद्धि के अंतर को नहीं जानता है और न ही पहचानता है। मन की नियंत्रतात्मक शक्ति को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि मन पर नियंत्रण कर सकती है, परन्तु साधरणतयः नहीं करती है और मन के कार्यो को मूक समर्थन देती रहती है। जब मनुष्य विचारवान हो जाता है तो उसकी बुद्धि भी प्रखर हो जाती है और वह प्रत्येक तथ्य को विचारित करके सोच समझ कर करने का प्रयास करता है। यह विचार करना सोचना और समझना बुद्धि का कार्य है जिसे निश्चयात्मक कार्य भी कहते हैं। बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों को ठीक ठीक ग्रहण कर लेती है, जान लेती है। जैसे हम अंधेरे को उजाले को, लाल, पीले आदि रंगों को, खाने पीने योग्य वस्तुओं को, रहने योग्य स्थानों को चलने योग्य रास्तों को, पीने योग्य जल को, ठीक ठीक समझ लेते हैं और उचित होने पर उसे ग्रहण करते हैं। यदि बुद्धि यह कार्य ठीक से नहीं कर रही है तो इसका अभिप्राय है कि हमारी बुद्धि सही नहीं है। इस प्रकार मन के द्वारा विचारित विषयों को बुद्ध सही सही

समझ लेती है और संशयग्रस्त हो जाने पर सम्यक् निर्धारण नहीं कर पाती। बुद्धि परमात्मा की अपरा शक्ति का सातवां तत्त्व है। उसको सम्यक् प्रकार से समझने के लिए कुछ विचार प्रस्तुत हैं–

(क) अपरा प्रकृति का सातवां तत्त्व बुद्धि :–

परमात्मा की अपरा प्रकृति का सातवां तत्त्व बुद्धि है। मन तो विलक्षण तत्त्व है पर बुद्धि अत्यन्त विलक्षण तत्त्व है। परमात्मा द्वारा मानव को प्रदान की गई ये शक्ति मन को नियन्त्रित करने, मन की स्थिति जानने और निश्चयात्मक कार्य के रूप में प्रस्तुत है। प्रमुखता से बुद्धि के विषय में ये कहा जाता है, कि मन की वृत्ति संकल्प है तो बुद्धि की वृत्ति विकल्प है । मन द्वारा संकल्पित कार्यों को बुद्धि निश्चय का आकार प्रदान करती है। इसकी विलक्षणता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह मन के अत्यन्त अनियन्त्रित हो जाने पर उसकी चंचलता को समझ कर उसे नियन्त्रित कर सकती है। बुद्धि ये जानती है। कि मन क्या कर रहा है? मन इस समय कहॉ है? मन के चिन्तन के प्रकार को भी बुद्धि जानती है जब तक किसी कार्य की स्वीकृति बुद्धि नहीं प्रदान करती जब तक मन स्वेच्छा से उस कार्य को नहीं कर सकता है। मन कार्य का प्रस्ताव बुद्धि को प्रेषित करता है तथा बुद्धि उस कार्य के प्रस्ताव का अनुमोदन करती है तभी कार्य सम्पन्न होता है। कार्य के प्रेषण तथा अनुमोदन की क्रिया सेकेण्डों में होती है। साधारणतया मन द्वारा प्रेषित प्रस्तावों को बुद्धि अपनी स्वीकृति प्रदान कर देती है। कभी कभी मन द्वारा प्रेषित प्रस्ताव बुद्धि के द्धारा निरस्त कर दिये जाते हैं तथा अनावश्यक प्रस्तावों के बारे में बुद्धि मन को डाटतीं भी है । जैसे हमारी आंखे किसी सुन्दर मिष्ठान को देखती है तो मन उसके स्वाद को स्मृति में लेकर उसके खाने का, ग्रहण करने का प्रस्ताव बुद्धि को भेजता है। बुद्धि जानती है कि उक्त मिष्ठान हमारे शरीर और स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है तो वह मन द्वारा प्रेषित प्रस्ताव को सिरे से नकार कर उस मिष्ठान से दूर रहने का आदेश देती है। इस स्थिति में मन को विवश होकर बुद्धि का आदेश मानना पड.ता है। मन कभी कभी पुनः पुनः मिष्ठान खाने का प्रस्ताव भेजता है। दृढ. बुद्धि वाला व्यक्ति उसे निरस्त करता रहता है, परन्तु कभी कभी बुद्धि पुनः पुनः प्रेषित प्रस्तावों को अनुमोदित भी कर देती है। इस प्रसंग से आपने बुद्धि के विलक्षणता को समझ लिया होगा।

(एक) बुद्धि क्या कार्य करती है ?

1– मन पूर्व घटनाओं के बारे में जो विचार करता है उस सम्बन्ध में बुद्धि उन घटनाओं की स्मृति को संज्ञान में ले लेती है। पूर्व घटनायें जो घटित हुई थीं जैसी थीं ,वैसी बुद्धि

जानती है। पूर्व घटनाओं के बारे में मन जो कुछ भी विचार करता है। उसे मन को बता कर उसका निश्चय करती है। मन पूर्व घटनाओं के बारे में विचार करता रहता है और बुद्धि उन विचारों को देखती रहती है और अधिकाशंता उन विचारे हुये विषयों का अनुमोदन करती है।

2—मन वर्तमान समस्याओं पर विचार करता है तथा बुद्धि को इससे परिचित कराता है, तब बुद्धि उन समस्याओं को अपने संज्ञान में लेकर उनके हलीकरण पर विचार करती है। मन समस्यायें प्रस्तुत करता है और बुद्धि उन समस्याओं का विकल्प खोजने में निरन्तर कार्य करती है। जैसे मन ने ये विचार किया कि हमारे समक्ष आर्थिक समस्या है, तो इस समस्या का प्रस्ताव मन बुद्धि को प्रेषित करती है। बुद्धि वह मार्ग खोजती है जिसमे आर्थिक समस्याओं का हल हो सकता है। बुद्धि विकल्प खोजती है, जिससे मन द्धारा संकल्पित समस्या का हल हो सके। इस प्रकार समस्या प्रस्तुत करने तथा उसके निवारण खोजने का कार्य चलता रहता है।

3—मन भविष्य के बारे मे जो भी चिन्तन करता है उस पर बुद्धि भी विचार करके अपनी सहमति प्रकट करती है। मन का भविष्य के बारे में अनावश्यक चिन्तन जब बुद्धि को प्रतीत होता है तब बुद्धि उसे अस्वीकार करती जाती है। इसी क्रम में जो उचित प्रतीत होता है वह स्वीकार करती जाती है। मन पुनः पुनः प्रस्तावों की, विचारों की नयी संरचना करके उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। बुद्धि उसे पुनः स्वीकार अथवा अस्वीकार करती है। ये प्रकिया चला करती है। भविष्य की विषय वस्तु चूँकि काल्पनिक ही होती है इस कारण कल्पना जगत में बुद्धि भी मन के साथ विचरती है।

4— सांसारिक भोगों के विषय में मन जो भी चिन्तन करता हैं उसकी अधिकांश सहमति बुद्धि के द्धारा ही होती है। सहमति को आप संलग्नता भी कह सकते हैं। अर्थात् सांसारिक भोगों में सुख का अनुभव इन्द्रियॉ करती है उसके साथ ही मन भी सलंग्न हो कर मन भी भोगों में रत हो जाता है। बुद्धि भी इस स्थिति में उस सुख का अनुमोदन करके उसे शान्तिपूर्वक देखा करती है। भोगों में इस प्रकार इन्द्रियों और मन के साथ बुद्धि की भी संलग्नता रहती है। बुद्धि साधारणतया भोगों से इंकार नही करती है, परन्तु जब साधक का विवेक जाग्रत हो जाता है और भोगों की अनित्यतता को वह समझ जाता है तो वह इन्द्रियों ,मन को सांसारिक भोगों से पृथक् करती है। उसे बार—बार धिक्कारती है और फटकारती है। इस प्रकार सांसारिक भोगों पर नियंत्रण बुद्धि ही करती है ,और वह मन को संयमित करके भोगों से पृथक कर देती है।

5– किसी तात्कालिक घटना पर आदेश देना बुद्धि का विशिष्ट कार्य है जैसे हमारे सामने कोई हिंसक पशु आता प्रतीत होता है तो आखें उस हिंसक पशु को देख लेती है तथा रात्रि में कान उस हिसंक पशु की आवाज से जान लेते हैं और उसकी दूरी का अनुमान लगा लेते है। इस स्थिति में मन भी तत्काल उस हिंसक पशु के विषय में विचार करता है तथा बुद्धि निश्चय करती है कि उस हिसंक पशु से मुकाबला किया जाये अथवा भागा जाये। ये सब निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। यदि बुद्धि हमें परिस्थिति का आंकलन करके मुकाबला करने का आदेश देती है तो हम मुकाबले के लिए तत्काल आवश्यक कार्यवाही कर लेते हैं। यदि बुद्धि परिस्थिति का आंकलन करके हमे भागने का आदेश देती है तो हम भाग लेते है। ये सब निश्चय सेकेण्डों में होता है।

बुद्धि का एक प्रमुख कार्य है किसी प्रश्न का तत्काल उत्तर प्रस्तुत करना आपने देखा होगा की जब किसी सभा में, न्यायालय में अथवा किस प्रतियोगिता में वाद विवाद होता है तो बुद्धि बहुत तेज गति से कार्य करती है। एक व्यक्ति जो तथ्य प्रस्तुत करता है कान उसे सुन कर उस तथ्य को मन को प्रेषित करते है। मन के माध्यम से ये तथ्य बुद्धि ग्रहण कर लेती है और तत्काल उसका उत्तर मन के माध्यम से वाणी से प्रस्तुत करने का आदेश देती है। मन जब किसी विषय पर वाणी के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत करता है तो बुद्धि ही तर्क का भी निश्चय तत्काल ही करती है। मन के माध्यम से वाणी में वह तथ्य जाता है और वाणी उसे पृथक् करती है ये सब प्रक्रिया सेकेण्डों में होती है। इस कारण हम इस तथ्य से बुद्धि की विशेषता का अनुमान लगा सकते हैं।

(27) स्थितप्रज्ञता कैसे आती है? (बुद्धि कैसे स्थिर होती है?) :–

मनुष्य अपनी बुद्धि कैसे स्थिर कर सकता है? अर्थात् स्थितप्रज्ञता कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके उपायों का वर्णन करना अति आवश्यक है। स्थितप्रज्ञता के वर्णन से स्थितप्रज्ञ मनुष्य की परख होती है। इस कारण स्थितप्रज्ञता को समझना आवश्यक है। भगवद्गीता में प्रज्ञा अर्थात बुद्धि को स्थिर करने के कई साधनों का उल्लेख दूसरे अध्याय के अंत में किया गया जिसमें पृथक्–पृथक् साधनों का उल्लेख है। उसी के आधार पर स्थितप्रज्ञता के प्रकरण का उल्लेख किया जा रहा है–

(एक) पहला साधन : श्रीभगवान ने पहले साधन में दो तथ्यों का निरूपण किया है जिनमें एक कामनाओं का सर्वप्रकारेण परित्याग करने से तथा स्वयं से स्वयं में संतुष्ट रहने से। इन दोनों तथ्यों का विवरण निम्न प्रकार है–

(क) कामनाओं का सर्वथा परित्याग करने से :–

हम सभी जो कार्य करते हैं वह सब कामनाओं के वशीभूत होकर ही करते हैं। हम सबके मन में संसार की वस्तुओं तथा भोगों को पाने की इच्छा होती है। इन इच्छाओं की पूर्ति हेतु मनुष्य प्रातः से रात्रि तक नाना प्रकार के कार्य करता है। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा ही मनुष्य को अनेक प्रकार के कर्म करवाती है। इच्छाऐं असंख्य हैं। एक इच्छा के समाप्त होने के पश्चात् दूसरी इच्छा का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। हम जब एक इच्छा की पूर्ति हेतु कार्य करते हैं तो यह विचार रहता है कि उसकी पूर्ति हो। परन्तु वह इच्छा अधूरी रहने के पूर्व ही अनेक प्रकार की इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है।

यह क्रम जीवनपर्यन्त चलता रहता है। न तो मन की इच्छाएं समाप्त होती हैं और न ही मनुष्य कर्म करना समाप्त करता है। श्रीभगवान ने यह कहा कि समस्त प्रकार की मनोगत कामनाओं, इच्छाओं के त्याग से मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है। मनुष्य कामनाओं की प्राप्ति हेतु ही कर्म करता है। पहले वह कामनाओं की प्राप्ति हेतु मन से विचार करता है कि किस प्रकार कामनाओं की प्राप्ति होगी और उस विचार को बुद्धि के द्वारा विनिश्चत किया जाता है। मन से जब कामनाओं की पूर्ति का विचार समाप्त हो जाता है तो बुद्धि द्वारा विनिश्चय का कार्य भी समाप्त हो जाता है। मन के शान्त होने पर बुद्धि स्वतः ही शान्त हो जाती है और शान्त बुद्धि स्थिर हो जाती है। इसी तथ्य के प्रकटीकरण के लिए श्रीभगवान ने समस्त कामनाओं के त्याग की बात कही है। जब किसी प्रकार की कामना का बीज मन में प्रस्फुटित ही नहीं होता है तो बुद्धि में कामना पूर्ति का विनिश्चय भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जो साधक समस्त प्रकार की कामनाओं का त्याग कर देता है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। यह तथ्य उसी प्रकार जैसे किसी बीज का समूल विनाश कर देना। यदि हमारे मन में समस्त प्रकार की कामनाओं का समूल विनाश हो गया तो हमारी बुद्धि निश्चित ही स्थिर हो जाएगी। यदि कामनाऐं अवशेष हैं तो बुद्धि कदापि स्थिर नहीं हो सकती है।

(ख) समस्त कामनाओं का परित्याग ऐसे नहीं हो सकता है। कामनाऐं ही मनुष्य के जीवन का आधार है। मनुष्य दो ही प्रकार से संसार में रहता है। एक संसार के आश्रय से और दूसरा परमात्मा के आश्रय से। संसार के आश्रय में रहने पर कामनाएं रहती हैं और परमात्मा के आश्रय में जाने पर कामनाऐं स्वतः ही विनिष्ट हो जाती हैं। संसार के आश्रय में रहने पर संसार की प्राप्ति के लिए कामनाऐं होती हैं। परमात्मा की प्राप्ति की कामना

होने पर संसार का आश्रय स्वतः ही छूट जाता है। इस कारण जो कामनाओं का परित्याग कर देता है वह संसार का त्याग कर देता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जो संसार का त्याग कर देता है, वह कामना का त्याग कर देता है। यह स्थिति परमात्मा के आश्रय की स्थिति है जिससे कामनाऐं स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

मनुष्य जब कामनाओं का त्याग कर देता है तो वह परमात्मा के आश्रय के ग्रहण करने के कारण प्रसन्न रहता है। कामनाऐं ही तो सांसारिक सुख और दुख का प्रमुख कारण हैं। कामनाऐं मिलती हैं, तो हम सुखी होते हैं और जब उनकी पूर्ति नहीं होती है तो हम दुखी हो जाते हैं। यह सुख और दुःख का सिद्धान्त है। जब कामनाऐं समाप्त हो जाती हैं तो मनुष्य अपने आप संतुष्टि और प्रसन्नता का आभास करता है। यह स्थिति परमात्मा में रमण होने के कारण भी हो जाती है। परमात्म विषयक चिंतन से मनुष्य प्रसन्न रहता है। उसका चिंतन का स्वरूप व्यवहारिक है। जैसे हम बहुत शक्तिशाली और धनाढ्य तथा ऐश्वर्य सम्पन्न मनुष्य के साथ रहते हैं और यदि वह हमारी सहायता करता है तो हमें प्रसन्नता की स्वतः अनुभूति होती है। हमारे मन में यह तथ्य रहता है कि हमारा साथी ऐश्वर्यवान, शक्तिशाली तथा धनाढ्य व्यक्ति है। इसी प्रकार जब मनुष्य संसार का आश्रय छोड़कर परमात्मा का आश्रय ले लेता है तो उस शक्तिशाली सत्ता का वह आभास करता है और उसे परमात्मा की अनुभूति होने के कारण अतिशय प्रसन्नता की अनुभूति रहती है। वह अपने से अपने में प्रसन्न रहने की स्थिति में रहता है। इसे **आत्मन्येवात्मना तुष्टः** की स्थिति कहते हैं।

परमात्मा के चिंतन में यह विशिष्टता है कि वह मन तथा बुद्धि को शान्त, निर्मल तथा हलचल रहित कर देता है। साधक परमात्मा की अनुभूति हो जाने पर संसार के प्रपंचों से अपने को पृथक् कर लेता है। संसार का प्रपंच ही मनुष्य को हलचल युक्त रखता है। उसकी बुद्धि को स्थिर नहीं होने देता है। प्रातः जागने से रात्रि सोने तक हम जो भी चिंतन करते हैं यदि वह परमात्मा की ओर उन्मुखता वाला होता है तो हमारी बुद्धि अनावश्यक विषयों का विनिश्चय स्वतः ही छोड़ देती है। बुद्धि में अनावश्यक विषयों के चिंतन का अभाव ही बुद्धि के स्थिर रहने का एक विकल्प है। साधक चारो ओर सर्वत्र जब परमात्मा की सत्ता और उसके कार्य का अनुभव करता है तो उस सर्वत्र व्याप्त सत्ता में डूब जाता है। जैसे हम गहन निद्रा में डूबते हैं और उसमें डूब कर संसार के प्रपंचों को भूल जाते हैं। वैसे ही परमात्मा के चिंतन में मनुष्य मस्त हो जाता है। संतुष्ट हो जाता है, रम जाता है। सर्वत्र उसे परमात्मा का दर्शन होने के कारण साधक की बुद्धि स्वतः ही स्थिर हो जाती है। इस प्रकार यह पहला साधन है कि मनुष्य समस्त प्रकार की कामनाओं

का त्याग करें तथा अपने से अपने में ही संतुष्ट रहकर परमात्मा सम्बंधित चिंतन करें तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। यह स्थिर बुद्धि मनुष्य का प्रथम साधन है और साधक इससे स्वयं की परख कर सकता है।

(दो) दूसरा साधन : श्री भगवान ने स्थितप्रज्ञता हेतु जो दूसरा साधन वर्णित किया है उसमें तीन तथ्यों का प्रमखुता से वर्णन किया है। यह तीन तथ्य निम्न प्रकार हैं–

(क) दुःखों में उदिग्नता का अभाव :–

दुःखों के आने पर उद्विग्न होना अर्थात् परेशान होना स्वाभाविक तथ्य है। साधक को साधन से वास्तविक तथ्य का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य में उद्विग्नता का अभाव हो जाता है। हमारे जीवन में अनुकूलता तथा प्रतिकूलता क्यों आती है ? इस तथ्य का हमें ज्ञान होना चाहिए। यदि यह तथ्य हम जान जायेंगे और उस पर विश्वास कर लेंगे तो प्रतिकूलता में उद्विग्न नहीं होंगे। आज हम जो कर्म कर रहे हैं तथा जो कर्म हमने पूर्व में किये हुए हैं वे हमारे समक्ष प्रतिकूलता तथा अनुकूलता लेकर आते हैं। अर्थात् उन पूर्वकृत कर्मो का परिणाम ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। हमें यह तथ्य जान कर उसका पालन भी करना चाहिए। इस प्रकार यदि हम प्रतिकूलता में उद्विग्न नही होते हैं तो हमारी बुद्धि स्थिर हो जाएगी। इस तथ्य से हम स्थिर प्रज्ञता की स्थिति को भी परख सकते हैं।

(ख) सुखों में स्पृहारहित रहना :–

यह मानव की प्रवृत्ति है, सहज स्वभाव भी है कि वह सुख और अनुकूलताओं के प्राप्त होने पर स्वतः ही प्रसन्न हो जाता है। उसकी आन्तरिक अनुभूति सुखपूर्ण रहती है। जब हमें एक सुख प्राप्त हो जाता है तो दूसरे और तीसरे सुखों की आकांक्षा रहती है। सुख के जो साधन हैं उनसे हम सुखों की कल्पना करते हैं। जब साधन एकत्र नहीं होते हैं या साधनों का अभाव रहता है तो सुख के प्रतिकूल भाव रहता है। सुख प्राप्त हो और उससे सुखों की प्राप्ति का भाव न आये तो यह सुखों की प्राप्ति में स्पृहारहित होना है। साधारणतया ऐसा नही होता है। एक सुख मिल जाने पर दूसरे सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा स्वतः ही उपजती है। यह सुखों की प्राप्ति का अभाव स्वतः उत्पन्न होता है। जब हम सुखों के प्राप्त होने पर उदासीनवत् भाव रखते हैं और अधिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा नहीं करते हैं तो हमारी अपनी बुद्धि स्थिर हो जाती है। सुखों की प्राप्ति में अधिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा न आने पर हम अपनी स्पृहारहित स्थिति को परख सकते हैं।

(ग) राग, भय, क्रोध से विगत हो जाना :–

संसार के भोगों में जो अच्छापन लगता है, जो आनन्द आता है उसको राग कहा जाता है। यदि सांसारिक भोगों में अच्छापन न लगे तो हमारी भोगों की ओर प्रवृत्ति नहीं होगी। सांसारिक भोगों की ओर जो झुकाव होता है वह आनन्द की अनुभूति के कारण होता है। राग से विगत होकर भी हम स्थितप्रज्ञ हो सकते हैं। हमें जगत में जो कुछ भी प्राप्त है वह अपने शरीर, सम्पर्कित लोगों तथा वस्तुओं के संग्रह के स्वरूप में है। हमारी सबकी यह इच्छा रहती हैं कि यह सब सम्पर्कित लोग और प्राप्त वस्तुऐं सुरक्षित रहें। यह आशंका मन में कभी कभी आ जाती है कि यह वस्तुऐं नष्ट हो जायेंगी। इसी को भय कहते हैं। शरीर भी विनिष्ट हो सकता है।

हमें जो कुछ प्राप्त है उसका एक संयोग है। वह संयोग से हमारे सम्पर्क में है तो उसका वियोग अवश्य ही होगा। इस कारण हमें भय नहीं करना चाहिए। जिस वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति का वियोग जिस समय होना है उसी समय होगा। इस कारण हमें भय से विगत तथा भय से रहित रहना चाहिए। हम भय से रहित हो जाते हैं तो स्थिर बुद्धि हो जाते हैं। हम भय रहित हैं अथवा नहीं इसकी परख हम स्वयं कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रोध से विगत होकर भी हम अपनी बुद्धि को स्थिर कर सकते हैं। हम जो भी इच्छाऐं करते हैं उनमें यदि किसी प्रकार का व्यवधान अथवा अवरोध उत्पन्न होता है तो हमारे मन में क्रोध का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। क्रोध उपजता है। क्रोध का उपजना एक स्वाभाविक क्रिया है। जिस मनुष्य को क्रोध नहीं आता है उसकी कामनाओं का अधिकाधिक मात्रा में विनाश हो जाता है। यदि हमें क्रोध आता है तो हमारी बुद्धि कदापि स्थिर नहीं हो सकती है। इस प्रकार राग, भय, क्रोध से जो विगत हो जाता है वह भी स्थिर बुद्धि हो जाता है। संसार के सुखों में जो आनन्द है वह छूट न जाऐ तथा यदि छूटता है तो मन में प्रतिकूल भाव उत्पन्न हो जाता है। यह आनन्द रागरूप है। छूट न जाने की आशंका भय है और छूट जाने की आशंका में बाधा ही क्रोध है। इस प्रकार राग, भय, क्रोध से विगत होकर भी मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

(तीन) तीसरा साधन :–

जो साधक सर्वप्रकारेण आसक्ति से विहीन हो जाता है वह सुख को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता और अशुभ को प्राप्त होकर द्वेष नहीं करता। ऐसे साधक की बुद्धि स्थिर हो जाती है। श्रीभगवान ने इसी को तीसरे साधन के रूप में प्रस्तुत किया है–

(क) सर्वप्रकारेण आसक्तिरहित हो जाना :—

जब हमें हमारा कोई मित्र अथवा प्रिय व्यक्ति मिल जाता है तो मन में यह आकांक्षा रहती है कि वह हमसे दूर न जाऐ। बना रहे साथ रहे क्योंकि वह हमारा मित्र है और प्रिय है। यह साथ रहने की, बने रहने की जो इच्छा है वह आसक्ति के कारण ही होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति रहती है। जैसे सांसारिक उपभोग के पदार्थो में हमारी प्रियता हो जाती है। हम उनसे विलग नहीं होना चाहते हैं क्योंकि वह वस्तुऐं हमें सुख देती हैं तथा आनन्द की प्रतीति कराती हैं। यह एक प्रकार का आसक्तिरूप दोष है। क्या हम अपने प्रिय लगने वाले लोगों के प्रति तथा प्रिय लगने वाली वस्तुओं के प्रति प्रियता समाप्त कर सकते है? और उन्हें उदासीनवत् भाव से देख सकते हैं। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो हमारी बुद्धि स्थिर हो जाती है और हमें स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाती है।

(ख) शुभ की प्राप्ति में प्रसन्न न होना :—

इस जगत में दो स्थितियां सामान्य रूप से हैं। शुभ अथवा अशुभ। यह दोनों ही स्थितियां हमें क्रम से प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार कभी शुभ वस्तुऐं प्राप्त होती हैं और कभी अशुभ वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं। संसार में मनुष्य कर्म करता रहता है और कभी कर्म में सफलता प्राप्त होती है और कभी असफलता प्राप्त होती है। सफलता मिलने पर मनुष्य उसे शुभ समझता है और प्रसन्न होता है। शुभ के मिलने पर हम प्रसन्न न हो यह स्थिति उत्कृष्ट साधक की है, क्योंकि उत्कृष्ट साधक यह जान जाता है कि मुझे जो शुभ की प्राप्ति हुई है वह प्रारब्धवश ही हुई है। प्रारब्धवश शुभ की प्राप्ति हो जाने पर इसमें प्रसन्नता का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है। शुभ की प्राप्ति में यदि हम प्रसन्न नहीं होते हैं तो हम स्थितप्रज्ञ कहे जाते हैं और हमारी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

(ग) अशुभ की प्राप्ति में द्वेष न करना :—

मनुष्य द्वेष क्यों करता है ? इसका उत्तर है अशुभ की प्राप्ति होने पर द्वेष का भाव स्वतः उत्पन्न होता है। द्वेषरूपी तत्त्व स्वाभाविक रूप से उपजता है। हम जब किसी परिस्थिति में प्रतिकूलता का दर्शन करते हैं तो हमारे मन में स्वतः द्वेषभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे हमसे कोई दुर्व्यवहार करता है अथवा हम किसी भी स्थिति में अपनी निम्नता का आभास करते हैं, तो भी हमारे मन में स्वतः ही द्वेष भाव की उत्पत्ति हो जाती है। किसी भी प्रतिकूल स्थिति में दुर्व्यवहार किये जाने पर तथा किसी भी कारण से निम्नता

का आभास कर लेने पर यदि हमारे मन में किसी भी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होता है तो हमारे बुद्धि स्थिर हो जाती है और स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं।

(चार) चौथा साधन : जैसे कछुवा अपने अंगों को चारों ओर से समेट लेता है। वैसे साधक जब इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को समेट लेता है तो उस साधक की बुद्धि स्थिर हो जाती है। कछुवा के चार पैर व एक सिर होता है तथा एक पूँछ भी होती है। जब कछुवा प्रतिकूलता का आभास करता है तो वह अपने को सुरक्षित करने के लिए अपने समस्त अंगों को समेट लेता है तथा स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता हैं। मनुष्य के पांच ज्ञानेद्रियॉ और पांच कर्मेन्द्रियॉ होती हैं, जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। इनके पांच विषय भी होते हैं। जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध कहा जाता है। जब साधक इन इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। इन्द्रियों को इन्द्रिय विषयों से समेटना क्या है ? इस तथ्य का अवलोकन कीजिए–

इन्द्रियों को इन्द्रिय विषयों से समेटना :–

कर्ण मधुर शब्द सुनना चाहते हैं। कठोर और कर्कश शब्दों के प्रति अनिच्छा का भाव रहता है। इसी प्रकार नेत्र सुन्दर दृश्यों को देखना चाहते हैं। असुन्दर, भयंकर तथा विकृत वस्तुओं को नहीं देखना चाहते हैं। वैसे ही जिह्वा सुस्वाद भोजन करने की इच्छा रखती है। स्वादरहित भोजन के प्रति उसकी अनिच्छा रहती है। त्वचा कोमल स्पर्श चाहती है। कठोर स्पर्श के प्रति उसमें प्रतिकूलता का भाव रहता है। नासिका सुन्दर गंध ग्रहण करना चाहती है और वह दुर्गंध के प्रति अरूचि रखती है। इसी प्रकार पांच कर्मेन्दियां वाक, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा भी अपने अनुकूल विषयों को ही चाहते हैं, जिससे उन्हें आनन्द की अनुभूति हो। यह इन्द्रियों तथा उनके समस्त विषयों की सामान्य प्रक्रिया है।

हमारे नेत्र सुन्दर दृश्यों को देखने की इच्छा न करें। हमारे कर्ण मधुर शब्दों को सुनने की इच्छा का परित्याग कर दें। हम सुस्वाद भोजन की चाहना न करें। हमारी त्वचा कोमल स्पर्श की आकांक्षा न करें तथा नासिका सुगन्ध की इच्छा का परित्याग कर दें। यह इन्द्रियों को इन्द्रिय विषयों से पृथक् करना कहा जाता है। जब साधक को उपरोक्त स्थिति प्राप्त हो जाती है और उसकी इन्द्रियां इन्द्रिय विषयों में संलग्न होती है तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ऐसी स्थिति का साधक स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। हमारी इन्द्रियां इन्द्रिय विषयों को ग्रहण करती है अथवा नहीं करती है इससे हम अपनी स्थितप्रज्ञता की परख कर सकते हैं।

स्थितप्रज्ञता के अन्य साधनों का भी वर्णन भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में हुआ है। जो साधक अपने अंतःकरण पर नियंत्रण कर लेता है और समस्त रागद्वेष से रहित हो जाता है, रागद्वेष से रहित हो जाने पर यदि विषयों का संयोग होता भी है तो इन्द्रिय विषय उस साधक को विचलित नहीं कर सकते हैं। हम जब सांसारिक भोगों की प्रियता का आभास करके उनमे आसक्त हो जाते हैं तथा विषयासक्त होकर सांसारिक विषयों का सेवन करते हैं तब हमारी बुद्धि उन्हीं भोगों में रम कर विनिष्ट हो जाती है। यह स्थितप्रज्ञता के प्रतिकूल स्थिति है।

इन्द्रियों का इन्द्रिय विषयों से निवृत हो जाना। स्थितप्रज्ञता की स्थिति की प्राप्ति का विशिष्ट साधन है। मनुष्य में जो हलचल होती है उसके मन में जो अशान्ति रहती है तो वह मन के द्वारा विषयों का चिंतन करने के कारण विशेष होती है। मन जब इन्द्रियों के विषयों का चिंतन करता है, करने लगता है अथवा निरन्तर करता है तब बुद्धि भी उसी का अनुकरण करती है। इन्द्रियों के विषयों का चिंतन समाप्त हो जाने पर मन की चंचलता का समापन शीघ्र हो जाता है। मन की चंचलता के समाप्त होने पर बुद्धि का स्थिर होना निश्चित है। इस कारण यदि हमें स्थितप्रज्ञता प्राप्त करनी है तो कामनाओं का परित्याग, इन्द्रिय विषयों का चिंतन मन से समाप्त करना ही पड़ेगा। यह स्थितप्रज्ञता अर्थात् स्थिर बुद्धि होने का एक साधन है। ऐसा हो जाने पर मनुष्य सांसारिक ममता से रहित हो जाता है और उसमें अहंकार का अभाव पाया जाता है तथा इसके अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता की अनुभूति समाप्त हो जाती है। ऐसे साधक की स्वाभाविक प्रवृत्ति परमात्मा की ओर हो जाती है। जिन साधनों का उल्लेख भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञता के लिए किया गया है वह सबके सब व्यवहारिक हैं। हम उन्हें समझ कर उनका आचरण कर सकते हैं।

(28) बुद्धि की भ्रष्टता का क्रम :–

परमात्मा के द्वारा मनुष्य को बुद्धि रूपी तत्त्व विशिष्ट रूप से प्रदान किया गया है। इस विशिष्ट तत्त्व से विवेक की उत्पत्ति होती है। जिससे मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि उसे क्या करना उचित है? और क्या करना अनुचित है? यह बुद्धि रूपी तत्त्व परमात्मा ने अन्य प्राणियों को प्रदान नहीं किया है। इस कारण मनुष्य श्रेष्ठ है। कभी कभी वह बुद्धि रूपी तत्त्व निकृष्ट स्वरूप में कार्य करता है और ऐसी स्थिति में उसका विवेक लुप्तप्राय हो जाता है। वे कौन स्थितियां है? जिनसें बुद्धि रूपी तत्त्व में निकृष्टता आ जाती है और

मनुष्य का विवेक लुप्तप्राय हो जाता है। इस क्रम का श्रीगीताजी में वर्णन किया गया है उसी के आधार पर बुद्धि की भ्रष्टता के क्रम का अवलोकन कीजिए—

(क) इन्द्रियों विषयों के चिंतन से उन विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है।

(ख) जब विषयों की आसक्ति उत्पन्न होती है, कामनाओं का उद्भव स्वतः ही हो जाता है।

(ग) कामना में किसी प्रकार का अवरोध होने पर क्रोध की उत्पत्ति स्वतः होती है।

(घ) जब मनुष्य में क्रोध का प्रादुर्भाव हो जाता है तो मूढ़ता की उत्पत्ति होती है।

(ङ) मूढ़ता की उत्पत्ति से स्मृति विनाश का दोष उत्पन्न होता है।

(च) स्मृति के विनाश से बुद्धि रूपी तत्त्व का विनाश हो जाता है।

(छ) बुद्धि के नाश होने से मनुष्य अपने कल्याण के साधन से गिर जाता है।

जब मनुष्य साधारणतया इन्द्रिय विषयों का चिंतन करता है तो उन इन्द्रिय विषयों के उपभोग की भावना बलवती हो जाती है। जैसे मन में जब यह विचार आता है कि हमें अमुक स्थान पर अमुक दुकान में सुस्वादु भोजन करना है तो इसका चिंतन पहले मन से होता है। चिंतन करने से उस भोजन को ग्रहण करने का भाव उत्पन्न हो जाता है कि हमें सुस्वादु भोजन करना है। यदि मन से चिंतन न हो तो उस विषय को प्राप्त करने की, भोगने की इच्छा कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती है। सुस्वादु भोजन के चिंतन से उसके ग्रहण करने की इच्छा बलवती हो जाती है। यही विषयों के चिंतन से आसक्ति का उत्पन्न होना कहा जाता है।

आसक्ति उत्पन्न होने से कामना का उद्भव माना जाता है। आसक्ति और कामना का साथ है। हम जब किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो उसके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। इसके प्रतिकूल अति सुन्दर वस्तु देखे ही न तो आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी। आसक्ति के उत्पन्न होने से उसके उपभोग की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। इसी को सामान्यता कामना समझना चाहिए। इस कारण कामना का प्रादुर्भाव आसक्ति से होता है। यह क्रमिक स्थिति है। हम किसी सुन्दर वस्तु को देखे और उसके उपभोग की कामना हमारे मन में उत्पन्न न हो तो यह विशेष स्थिति है।

उपभोग की कमाना के उत्पन्न होने पर यदि उसमें किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न होता है तो क्रोध का उपजना आवश्यक है। जैसे हम यदि एक मधुर गीत सुन रहे हैं और

उस मधुर गीत की आवाज कानों में आते ही उसके प्रति आसक्ति का उत्पन्न होना स्वतः ही होता है। उस मधुर गीत में जो भी भाव है, उसका जो भी विषय है उसी के अनुसार चिंतन आरम्भ हो जाता है। यह गीत के विषय में चिंतन से, कामना की उत्पत्ति होती है। मनुष्य भांति भांति की कामनाऐं स्वतः ही करने लगता है। यदि इसी मध्य कोई उस मधुर गीत को सुनने में अवरोध उत्पन्न करता है तो हमारे मन में स्वतः ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि कामना में अवरोध उत्पन्न होने पर क्रोध का प्रादुर्भाव होता है।

क्रोध के उत्पन्न होने पर हमारी विवेकरूपी शक्ति का ह्रास हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि हमारा विवेक ही कर्तव्य कर्म करने को प्रेरित करता है। विवेक के रहते ही हम सब सामान्य रूप से, सम्यक् ढंग से समाज में व्यवहार करते हैं तथा ऐसा रहने पर हम–

1– अपने से बड़ों से सज्जनतापूर्ण और सम्मानजनक व्यवहार करते हैं।

2– समाज में मृदु व्यवहार करते हैं।

3– कर्तव्य कर्म क्या है? इस पर विचार करके कर्मो का सम्पादन करते है।

4– अनुचित कार्य व्यवहार का परित्याग रखते हैं।

5– अपने कल्याण के बारे में सोच विचार कर लेते हैं।

6– अपने आचरण को समाज में उचित प्रकार से प्रस्तुत करते हैं आदि आदि।

इस कारण हम जब क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं तो अपनी बुद्धि के शक्ति विवेक का विनाश कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में हम किसी को कुछ भी कह सकते हैं। माता–पिता, गुरूजन, पूज्यनीय लोगों से अभद्र व्यवहार कर सकते हैं। जो कार्य नहीं करना चाहिए वह करने लगते हैं तथा अशिष्टतापूर्ण आचरण एवं दुष्कर्मो का प्रतिपादन कर सकते हैं। यह सबका सब क्रोध के प्रभाव से ही होता है। इस प्रकार का आचरण का मुख्य कारण मूढ़ता है। अर्थात् यह आचरण मूढ़ व्यक्ति ही करते हैं जिनका विवेक क्रोध के कारण नष्ट हो जाता है।

हम समाज में बड़ों के प्रति पूज्यनीय लोगों के प्रति अथवा समाज के अन्य लोगों के प्रति जो उचित व्यवहार करते है। इसका एक कारण होता है कि वह सबका सब उचित व्यवहार हमारी स्मृति में संचित रहता है। बुद्धि को यह तथ्य ज्ञात रहता है कि हमें किसके

साथ कैसा व्यवहार करना है। इसी को आप स्मृति कह सकते हैं, अर्थात् हमारे मस्तिष्क में यह तथ्य संचित रहता है कि हमारा व्यवहार किन लोगों के प्रति कैसा होना चाहिए? जब मनुष्य में क्रोध का प्रादुर्भाव हो जाता है तो क्रोध स्मृतिरूपी शक्ति को विनिष्ट कर देता है क्रोध के प्रभाव से ही मूढभाव की उत्पत्ति मानी जाती है। मूढ़भाव से स्मृति का विनाश होना कहा जाता है।

हमारी स्मृति में यह तथ्य रहता है कि हमें क्या करना है? और क्या नही करना है? श्रेष्ठ बुद्धि इस तथ्य को जानती है। क्रोध से मूढ़भाव की उत्पत्ति हो जाने से स्मृति का विनाश हो जाता है। आपने देखा होगा कि क्रोध में मनुष्य ऐसे शब्द बोलता है जो उसे नही कहना चाहिए। ऐसा व्यवहार करता है जो उसे नहीं करना चाहिए। अधिकांशतः हिंसा आदि जो दुष्कर्म होते हैं वे क्रोध के पश्चात् मूढभाव की उत्पत्ति एवं स्मृति के विनाश के कारण होते हैं। इस प्रकार अंततः बुद्धि का विनाश हो जाता है अर्थात् बुद्धि में उचित अनुचित में अंतर करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। बुद्धि के द्वारा विनिश्चय की शक्ति समाप्त हो जाने पर हमारी बुद्धि का विनाश होना समझना चाहिए। यह स्थिति बुद्धि की भ्रष्टता होना कहा जाता है। इस प्रकार बुद्धि का अपने कल्याण के मार्ग से हटने में विषयों का चिंतन ही मूल कारण है, क्योंकि विषयों के चिंतन से आसक्ति तथा कामना उत्पत्ति हो जाती है जो क्रोध की उत्पत्ति का कारण बनती है। क्रोध में मनुष्य जो कार्य करता है वह उचित नही होता है। उस कार्य में बुद्धि की भ्रष्टता हमें स्पष्टरूप से प्रतीत होती है।

(29) प्रकृतिजन्य त्रिगुण : –

परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति में तीन गुणों को उत्पन्न कर दिया है जिन्हें सत, रज और तम कहा जाता है। इनकी क्रियाविधि, प्रभाव और स्थिति को समझना आवश्यक है। भवगद्गीता के 14वें अध्याय में इसका विशिष्ट वर्णन किया गया है। इस सम्बंध में गीताज्ञान के सोलवें खण्ड का अध्ययन करना चाहिए। प्रकृतिजन्य गुणों को समझना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं गुणों के प्रभाव से मनुष्य नाना प्रकार की सांसारिक चेष्टाऐं करता है। प्रकृतिजन्य गुणों के सम्बंध में संक्षेप में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिससे उनके गुण और प्रभाव का ज्ञान मनुष्य को होता है।

(क) त्रिगुणों से समग्र ब्रह्मांड प्रभावित है :– त्रिगुणों से समग्र ब्रह्मांड में जितने भी लोक हैं और उन लोकों में जितनी भी सृष्टि है वह सबकी सब त्रिगुणों से प्रभावित है। मनुष्य लोक में प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित है। मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि,

कार्य इन्हीं त्रिगुणों की प्रेरणा से होते हैं। मनुष्य पर सात्त्विक, राजस, तामस गुण अपना पृथक्–पृथक् प्रभाव डालते हैं। सात्त्विक गुणों से प्रभावित मनुष्य शुभ कर्मो का आचरण करता है। रजोगुण से प्रभावित मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कर्मो का व्यवहार करता है और तमोगुण से प्रभावित मनुष्य दुष्कर्मो की ओर अनायास ही पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड में जो भी सृष्टि है चाहें वह देवगण, गंधर्व, राक्षस योनि के हों, वे सभी त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित रहते हैं। देवयोनि पर सात्त्विक गुणों का प्रभाव रहता है तथा सत्त्वगुण की प्रधानता रहता है। इस कारण वे भोगों की चाहना में जीते हैं। यह भोगों की चाहना देवगणों में राजसी गुण के प्रभाव से होती है। यक्ष और राक्षस योनियों में रजोगुण की प्रधानता रहती है। इस कारण वे अनेक प्रकार के कर्मो का सम्पादन करते हैं। यक्ष और राक्षस योनि मे राजसी गुण के प्रभाव से ही भोगों की आकांक्षा होती है। क्रूरकर्म, दुष्कर्म आदि तामसी गुणों के अधीन ही होते हैं, इसलिए असुर, भूत, प्रेत, पिशाच आदि तमोगुण के अधीन रहकर नाना प्रकार के कार्य करते हैं, मनुष्य भी जिस गुण के प्रभाव से प्रभावित रहता है वह उसी के अधीन रहकर कार्य करता है। इस प्रकार यह समग्र ब्रह्मांड ही त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित है।

(ख) प्रकृतिजन्य गुण ही जीव को शरीर में बंधन देते हैं :–

प्रकृति से उत्पन्न गुण सत, रज, तम अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बंधन देते हैं। जीव परमात्मा का अंश है। परमात्मा परम अविनाशी है तथा जीव अविनाशी है। जीवात्मा को सत, रज, तम गुण ही इस शरीर में बांधते हैं। अर्थात् जीव इन तीन गुणों के कारण ही शरीर में बंध जाता है। त्रिगुण न हों तो जीव को शरीर में नहीं बांधा जा सकता है। सात्त्विक गुण सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीव को शरीर में बांधता है। रजोगुण राग के स्वरूप में है इसलिए तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाला माना जाता है। रजो गुण कर्म की आसक्ति से जीव को शरीर में बांध देता है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीव को शरीर में बंधन देता है।

इस प्रकार 6 तत्त्व है। जो त्रिगुणों से सम्बंधित हैं। जिन्हें ज्ञान, सुख कर्म, प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा कहा जाता है। इन 6 तत्त्वों से ही जीव शरीर में बंध जाता है और जीवन भर बंधन में रहता है। त्रिगुणों का शरीर पर पूर्ण प्रभाव रहता है। यह मानव शरीर त्रिगुणों से प्रभावित होकर ही नाना प्रकार के कर्म करता है। सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य को निद्रा आती है, क्योंकि हम जो भी कार्य करते हैं उससे यह शरीर थक जाता है। पुनः शरीर शक्ति प्राप्त करने के लिए निद्रा का आश्रय लेता है। रात्रि में हम सो जाते हैं और

यह निद्रा सामान्य रूप से सभी को कार्य करने की ऊर्जा प्रदान करती है। जो निद्रा सामान्य रूप से आती है उसे जीव का बंधन नहीं माना जा सकता है। जो निद्रा सामान्य निद्रा के अतिरिक्त मनुष्य शरीर में रहती है तथा किसी कार्य में व्यवधान उत्पन्न करती है वह तमोगुण से उत्पन्न मानी जाती है। मनुष्य तमोगुण से प्रभावित होकर निद्रा और आलस्य से आवृत रहता है, उसमें चैतन्यता की कमी रहती है। तमोगुण जब अपना प्रभाव डालता है तो मनुष्य शरीर में निद्रा विशेष का प्रभाव रहता है और वह किसी प्रकार के कार्य करने की इच्छा नहीं करता है। प्रमाद तथा आलस्य शरीर में रहता है। निद्रा, आलस्य और प्रमाद की वृद्धि हो जाने पर मनुष्य तमोगुण के अधीन हो जाता है।

मनुष्य की सांसारिक कर्मो में जब आसक्ति बढ जाती है तो उसे रजोगुण के अधीन समझना चाहिए। मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कर्म जैसे सांसारिक भोग पदार्थो का संग्रह करना तथा उन्हें भोगने को उद्वत होना जैसे कार्य रजोगुण के अधीन रहकर ही करता है। यह कर्म की आसक्ति से जीव को शरीर में बांधे रखती है। इस प्रकार हम सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से जब कर्म करते हैं तो सात्त्विक गुणों के अधीन रहते हैं। सुख की प्राप्ति के लिए शुभ कर्मो का आचरण और ज्ञान की प्राप्ति हेत नाना प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन सत्संग का सेवन आदि सात्त्विक गुण के कार्यरूप है। इस प्रकार जीव शरीर में सत्त्व, रज, तम गुणों से बंध जाती है और जीवनपर्यन्त यह गुण ही जीव को शरीर में बांधे रखते हैं। प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुण जीव को शरीर में बांध देते हैं और उसे अपने प्रभाव में रखते हैं। मानव का शरीर त्रिगुणों के प्रभाव से नाना प्रकार की चेष्टाऐं करता रहता है।

(ग) शरीर में एक गुण क्रियाशील रहता है :—

सत्व, रज, तम गुणों में से एक गुण ही शरीर में विशेष क्रियाशील रहता हैं जब सात्त्विक गुण शरीर में विशेष रूप से क्रियाशील रहता है तब रज, तम दब जाते हैं अर्थात् सात्त्विक गुण के बढ़ जाने पर रज और तम स्वतः ही दब जाते हैं। जब शरीर में रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो सत्त्व तथा तम दब जाता है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य में सांसारिक कर्मो के प्रति क्रियाशीलता बढ़ जाती है ऐसी स्थिति में सत्त्व तथा तमोगुण का ह्रास हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के शरीर में बढ जाने पर मनुष्य दुष्कर्म तथा असमाजिक कर्म विशेष करने लगता है। तमोगुण के प्रभाव से शरीर में निद्रा आलस्य तथा प्रमाद की प्रमुखता होती है। शरीर में एक गुण की क्रियाशीलता सदैव बढ़ी रहती है तथा शेष दो गुण उस एक बढ़े हुए गुण के प्रभाव से दबे रहते हैं। यह प्रक्रिया सदैव चला

करती है। जो गुण बढ़ा हुआ रहता है उसी गुण के प्रभाव से मनुष्य कार्य करता है जैसे सात्त्विक गुण के बढने से देवोपासना तथा शुभ कर्म होते हैं रजोगुण का प्रभाव बढ़ने से सांसारिक वस्तुओं के संचय तथा भोगों का प्रयास होता है। वैसे ही तमोगुण के बढ जाने पर अनेक प्रकार के अनैतिक कर्मो की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति सहज रूप से हो जाती है। इसलिए प्रत्येक मानव शरीर में एक गुण बढ़ा रहता है अैर शेष दो गुण दबे रहते हैं। इसकी परख हम मनुष्य की चेष्टाओं को देखकर कर सकते हैं।

(घ) तीनों की गुणों की वृद्धि के पृथक्–पृथक् लक्षण :–

मनुष्य शरीर में तीनों गुणों की वृद्धि के पृथक्–पृथक् लक्षण होते है। सत्त्वगुण की वृद्धि के पृथक् लक्षण हैं तथा रजोगुण वृद्धि के लक्षण पृथक् प्रकार के हैं और तमोगुण की वृद्धि के लक्षण भी पृथक् प्रकार के रहते हैं, जिनको परख कर हम गुणों की वृद्धि को परख सकते हैं। चूंकि प्रत्येक गुण मानव शरीर पर अपना प्रभाव दिखाता है, इस कारण उसकी परख भी मानव शरीर के क्रियाओं के लक्षणों के आधार पर होती है।

(एक) सत्त्व गुण की वृद्धि की परख :–

जब मानव शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तो उसमें विशिष्ट प्रकार के लक्षणों का स्वतः प्रादुर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार के लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है उनका संक्षेप से यहां प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है।

1– मन में प्रसन्नता का प्रादुर्भाव : सत्त्वगुण की वृद्धि से मनुष्य के मन में प्रसन्नता की वृद्धि स्वतः हो जाती है। सत्त्वगुण मन पर विशेष प्रभाव डालता है। मन में अच्छे विचारों का उद्भव होता है। देवोपासना और भगवान की भक्ति की ओर स्वतः ही उन्मुखता हो जाती है। समाज के हित, संसार के कल्याण की जो भावना है वह उपजती है। मृदुभाषिता, क्रोध का शमन हो जाता है और शुद्ध आचरण होने से मन में प्रसन्नता का स्वतः ही प्रादुर्भाव हो जाता है। शुभकर्मो के आचरण से ही मन प्रसन्न रह सकता है। यह नियम है। सत्त्वगुण के प्रभाव से शुद्ध आचरण होते हैं, इसलिए मन प्रसन्न रहता है। इस कारण सत्त्वगुण का जब शरीर पर प्रभाव होता है तो मन में प्रसन्नता आ जाती है।

2– बुद्धि में शुद्ध विनिश्चय शक्ति प्रकट होती है : मनुष्य प्रत्येक कार्य बुद्धि के विनिश्चय अर्थात् आदेश के उपरान्त ही करता है। सात्त्विक बुद्धि कार्य का सही सही विनिश्चय कर सकती है। अर्थात् सत्त्वगुण के प्रभाव से मनुष्य की बुद्धि कार्य का सम्यक् विनश्चिय करती है। हम जो भी कार्य करना चाहते हैं उस कार्य पर पहले मन विचार करता है और उस

विचार को मन बुद्धि को प्रेषित करता है। यह क्रिया अतिशीघ्रता से सम्पादित होती है। मन के द्वारा प्रेषित किये गए विचार को बुद्धि उचित और अनुचित का निर्णय लेकर क्रियान्वयन को तय करती है। सात्त्विक गुण से प्रभावित बुद्धि कार्य का सम्यक् विनिश्चय करती है। अनुचित कार्य को रोकती है और उचित कार्य करने की आज्ञा प्रदान करती है।

3– अहंकार के शमन का प्रयास : सत्त्वगुण अहंकार की परख कर लेता है तथा उसके समापन का प्रयास करता है। प्रत्येक मनुष्य में अहंकार रहता है। यह अपरा प्रकृति का आठवां तत्त्व है और बुद्धि से भी अतिसूक्ष्म है। जब मनुष्य में सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तो मनुष्य अहंकार के प्रभाव का अनुभव करता है। हम सभी अधिकांश लोग व्यवहार तथा वार्तालाप में अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं। नित्य प्रति के व्यवहार में अहंकार का दर्शन होता है। जब सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तो मनुष्य अहंकार के प्रभाव को जानकर उसके शमन के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होता है। इस कारण जब मनुष्य में अहंकार के शमन करने की चेष्टा आरम्भ हो जाऐ तो समझना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

4– इन्द्रियों में विशेष चैतन्यता : मनुष्य शरीर में पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां है, जिन्हें बाह्यकरण कहा जाता है। यह बाह्यकरण अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार के आश्रय से ही प्रत्येक कर्म का सम्पादन करते हैं। इन्द्रियो में विशेष चैतन्यता का जब प्रादुर्भाव हो जाऐ तो यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। इन्द्रियों में जब चैतन्यता उत्पन्न होती है तो मनुष्य को इसका आभास हो जाता है और वह शुभकर्मो के क्रियान्वयन की ओर स्वतः उन्मुख होता है। इस प्रकार सत्त्वगुण वृद्धि की परख मनुष्य को कर लेनी चाहिए और अपनी चेष्टाओं को देखकर उसका ज्ञान कर लेना चाहिए।

(दो) रजोगुण की वृद्धि की परख :–

जब मनुष्य शरीर में रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो उसमें विशेष प्रकार की सांसारिक क्रियाशीलता बढ़ जाती है तथा संसार में उसकी प्रवृत्ति होती है। रजोगुण की वृद्धि से मानव शरीर में कुछ विशेष प्रकार के गुण प्रकट होते हैं, जिन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि मनुष्य में रजोगुण बढ़ा हुआ है। रजोगुण की वृद्धि से मनुष्य शरीर में जो गुण बढ़ जाते हैं उनका संक्षेप से अवलोकन कीजिए–

1– लोभ : रजोगुण की वृद्धि हो जाने पर मनुष्य में लोभ की अनावश्यक रूप से वृद्धि हो जाती है। संसार में जो भी लुभावनी वस्तुऐं हमें प्रतीत होती हैं उन्हें देखकर अथवा उनके बारे में सुनकर रजोगुणी मनुष्य उनको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। संसार की अनेक

वस्तुऐं हमें प्राप्त हो जाऐ इस भावना को साधारणा भाषा में लोभ कहा जाता है। यह भावना हमारी प्राप्त वस्तुओं के बारे में भी कभी कभी उत्पन्न हो जाती है। यह भी लोभ का एक प्रकार है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य लोभी हो जाता है। जो मनुष्य लोभी हो जाता है उसे साधारणतया सभी जान लेते हैं। लोभ की वृत्ति मनुष्य में जब उत्पन्न हो जाती है तब यह मानना चाहिए कि उसमें रजोगुण बढ़ा हुआ है।

2– प्रवृत्ति : हम साधारणतया कार्य करते हैं और सांसारिक कार्य में प्रबलता से उद्धत होते हैं, तो इसे सहजभाव से मनुष्य की प्रवृत्ति मानना चाहिए। मनुष्य धन, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने की ओर उन्मुख होता है। यह सहज प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में रहती है। आपने कई लोगों को देखा होगा कि वह अपनी शक्ति और क्षमता से अधिक कार्य करने को उद्धत रहते हैं तथा असीमित मात्रा में धन प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति रजोगुण के कारण मनुष्य में प्रकट हो जाती है और जब इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करने का भाव उत्पन्न हो जाऐ तो उसे रजोगुण के प्रभाव से प्रभावित समझना चाहिए।

3– नवीन कर्मो का आरम्भ : मनुष्य का एक सामान्य लक्षण है कि वह अनेक प्रकार के नवीन कर्मो का संसार में आरम्भ करना चाहता है। इन नवीन कर्मो के आरम्भ करने के पीछे एक ही उद्देश्य होता है कि वह अनेक प्रकार से धन सम्पत्ति और पद प्रतिष्ठा का अर्जन करना चाहता है। एक कार्य के चलते दूसरे कार्य को आरम्भ करने की इच्छा करना और दूसरा कार्य आरम्भ होने पर तीसरे कार्य की ओर उन्मुख हो जाना इसे ही नवीन कर्मो का आरम्भ करना कहा जाता है। आपने अनेक मनुष्यों को यह देखा होगा कि आज वे संसार में अनेक प्रकार के नये नये कर्मो की ओर उन्मुख हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति रजोगुण के कारण मनुष्य में रहती है।

4– चंचलता : अनेक प्रकार के सांसारिक कर्मो के करने के कारण, लोभ आदि के कारण मनुष्य में नाना प्रकार की मानसिक, शारीरिक और वाणी सम्बंधी चंचलता रहती है तथा वह व्यवहार में भी प्रकट होती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य में शान्ति का अभाव हो जाता है तथा वह अशान्त रूप से नाना प्रकार की चेष्टाऐं करता रहता है। जब आप किसी कारणवश अधिकांश सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं तो चंचलता का आना स्वाभाविक है। जब मनुष्य में सांसारिक वस्तुओं के संसर्ग से क्रियाशीलता रहती है तो वह चंचलता के रूप में ही परिलक्षित होती है। इस प्रकार रजोगुण के बढ़ने पर मनुष्य में चंचलता स्वतः आ जाती है।

5– स्पृहा : संसार में प्रयास करने से अथवा प्रयास न करने से भी प्रारब्धवश हमें बहुत सी वस्तुऐं प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु बहुत सी वस्तुऐं अनायास ही प्राप्त रहती है। जो वस्तुऐं अप्राप्त रहती हैं उनकी प्राप्ति का मनुष्य प्रयास करता रहता है। अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने का नाम स्पृहा है। इसे हम सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता के अनुभव के रूप में भी देखते हैं और इसी कारण हम नाना प्रकार की सांसारिक वस्तुओं का संग्रह जीवनपर्यन्त करते रहते हैं, और यह प्रयास करते हैं कि जो वस्तुऐं हमारे पास नहीं है वह शीघ्रता से प्राप्त की जाऐ और उनका हम उपभोग कर सकें। इस प्रकार यह स्पृहारूपी दोष भी मनुष्य में रजोगुण के कारण उत्पन्न हो जाता है और जब ऐसा दोष उत्पन्न हो जाए तो इसे रजोगुण की वृद्धि मानना चाहिए।

(तीन) तमोगुण की वृद्धि की परख :–

मानव शरीर में जब तमोगुण की वृद्धि हो जाती है तो मनुष्य नाना प्रकार के असामाजिक, अवैधानिक और अनैतिक कर्मो की ओर स्वतः ही उन्मुख हो जाता है। यह उन्मुखता तमोगुण के कार्यरूप के रूप में होती है। तमोगुण की वृद्धि में मनुष्य में क्या क्रियाऐं उत्पन्न हो जाती हैं ? उसको जानना आवश्यक है। इसलिए तमोगुण की वृद्धि में जो क्रियाऐं उत्पन्न हो जाती है उनका संक्षेप से अवलोकन कीजिए–

1– अप्रकाश : मनुष्य में जब तमोगुण की वृद्धि हो जाती है तो उसकी मन, बुद्धि में अच्छा विचार और विनिश्चय करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। वह न तो अच्छा विचार करता है और अच्छा विचार न कर पाने के कारण उसे अच्छे कार्य का विनिश्चय भी नहीं हो पाता है। शास्त्रों के प्रतिकूल सांसारिक कर्मो के विचार मन में अनायास ही उत्पन्न होते हैं और जो कुचार उत्पन्न होते हैं उन्हीं का विनिश्चय भी होता है। कुविचार का विनिश्चय होने से मनुष्य आसामाजिक कार्यो का सम्पादन स्वतः ही करने लगता है। जब इस प्रकार की स्थिति आ जाए, प्रकट हो जाए तो समझना चाहिए कि शरीर में तमोगुण बढ़ा हुआ है और हम तमोगुण की वृद्धि को प्राप्त हो चुके हैं।

2– अप्रवृत्ति : जैसे रजोगुण के परिणाम में प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और मनुष्य नाना प्रकार के कार्य करके धन सम्पत्ति एकत्र करना चाहता है वैसे तमोगुण के शरीर में बढ़ जाने पर कार्य करने की इच्छा का अभाव होता है। मनुष्य आवश्यक कार्य भी नहीं करना चाहता है और अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को अनैतिकता से प्राप्त करने की इच्छा करता है। कार्य करने से जो वस्तु प्राप्ति होती है उसे प्रवृत्ति से उपार्जित मानना चाहिए और बिना कार्य करने से जो वस्तुऐं प्राप्त करने की भावना होती है उसे अप्रवृत्ति

ही समझना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य में तमोगुण बढ़ने से अप्रवृत्ति का भाव पैदा हो जाता है। वह प्रातःकाल देर से सोकर उठता है और उठने के पश्चात् कार्य न करने की प्रवृत्ति उसके मन में रहती है। इसी को अप्रवृत्ति कहा जाता है। जिस मनुष्य में इस प्रकार का भाव उत्पन्न हो जाए तो उसमें तमोगुण की वृद्धि की परख होती है।

3– प्रमाद : कभी–कभी मनुष्य अपने शरीर निर्वाह के लिए भी कार्य नहीं करना चाहता है यह स्थिति तमोगुण के कारण और उसके प्रभाव से होती हैं जैसे प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने तथा परिवार के शरीर निर्वाह हेतु कार्य करे। जब वह इस आवश्यक कार्य को भी नहीं करता है तो उसे प्रमाद कहा जाता है। तमोगुण की वृद्धि से मनुष्य प्रमाद में आलस्य में और निद्रा में पड़ा रहता है। निद्रा, आलस्य व प्रमाद को तमो गुण का कार्यरूप समझना चाहिए।

4– मोह : मोह भी तमोगुण का ही एक रूप है। सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति मनुष्य में जब विशेष आसक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वह अपने सम्पर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों को नहीं छोड़ना चाहता। एक अतिवृद्ध मनुष्य को आपने देखा होगा। वह अपनी सम्पत्ति से अधिक स्नेह करता है और किसी को भी अपना धन देने की इच्छा नहीं करता है। यह आसक्ति मोह का ही विकृत स्वरूप है। जब मनुष्य शरीर में तमोगुण बढ़ जाता है तो उसकी अपनी सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों के संयोग की भावना बहुत प्रबल हो जाती है और वह इन वस्तुओं और व्यक्तियों के अनिष्ट होने पर बहुत दुखी होता है और शोक करता है। इस प्रकार जिस मनुष्य में उपरोक्त प्रकार के अवगुण प्रतीत हो तो उसे तमोगुण से आच्छादित समझना चाहिए।

(ङ) त्रिगुणों में मृत्यु का पृथक्–पृथक् परिणाम :–

प्रत्येक गुण में मृत्यु होने पर उसका पृथक्–पृथक् परिणाम है। जब सात्त्विक गुण वृद्धि पर होता है अर्थात् यदि सात्त्विक गुण की वृद्धि में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो वह पुण्य कर्म करने वाले उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु हो जाने पर मनुष्य पुनः मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होता है अर्थात् पुनः मनुष्य बन जाता है और तमोगुण की वृद्धि में मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर मनुष्य अगले जन्म में पशु–पक्षी कीट आदि योनियों में जन्म लेता है अथवा नरक लोक में पहुंचता है।

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी गुण के अधीन कार्य करता है। चाहे वह सत्त्वगुण के अधीन रहे, रजोगुण अथवा तमोगुण के अधीन रहे। एक गुण के अधीन अवश्य रहता है।

मृत्युकाल में भी अवश्य ही उसे एक गुण के अधीन रहता पड़ता है। जिस गुण के अधीन उसकी मृत्यु होती है उसी के अनुसार उसका जन्म हो जाता है, अथवा लोक प्राप्त होते हैं। सात्त्विक गुण की वृद्धि में मरने पर मनुष्य अवश्य ही सुख भोग के लिए उर्ध्वलोकों अर्थात् स्वर्गादिक लोकों में पहुंचता है वहां पर अपने पुण्यों को भोगकर पुनः मृत्यु लोक में आ जाता है। रजोगुण की वृद्धि में जब मनुष्य की मृत्यु होती है तो उसे निश्चय ही तत्काल मनुष्य शरीर धारण करना पडता है और उसे अपने कर्मो के अनुसार पुनः सांसारिक स्थिति प्राप्त हो जाती है।

तमोगुण की वृद्धि में यदि मृत्यु होती है तो मनुष्य या तो नरक लोकों में नाना प्रकार की यातनाऐं भोगने के लिए पहुंच जाता है अथवा उसका जन्म कीट, पशु–पक्षी आदि योनियों में होता है यहां पर एक तथ्य स्पष्ट करना और आवश्यक है कि हम जीवनपर्यन्त जिस गुण के अधीन रहते हैं उसी गुण के अधीन हम मृत्यकाल में भी रहते हैं। जैसे जिसने सत्त्वगुण से सम्बंधित कर्म जीवनपर्यंत किये अर्थात् वह सत्त्वगुण से प्रभावित रहा तो वह मृत्युकाल में भी सत्त्वगुण से प्रभावित रहेगा। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण के बारे में भी हमें समझना चाहिए। जीवन भर दुष्कर्म करने वाले अंतकाल में भी तमोगुण से ही प्रभावित होते हैं और जीवनपर्यंत सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने वाले मनुष्य निश्चय ही रजोगुण से प्रभावित हो करके मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जिस मनुष्य की जीवन भर वृत्ति जिस गुण की ओर रहती है वह उसी गुण को मृत्युकाल में स्मरण करता है और प्रभावित रहकर वैसा ही परिणाम प्राप्त करता है।

(च) त्रिगुणों के परिणाम :–

सात्त्विक गुणों में मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। रजोगुण में मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है और तमोगुण के कारण उसका पतन हो जाता है। यह त्रिगुणों का परिणाम है। कथन का अभिप्राय है कि यदि मनुष्य सात्त्विक गुण के अधीन रहकर कर्म का आचरण करता है तथा देवोपासना, शुभकर्म, सामाजिक कल्याण के कार्य करता है तो उसके परिणाम में उसे सुख अवश्य प्राप्त होता है। यह परमात्मा की निश्चित व्यवस्था है। सुख का संयोग अनायास होता है। इसी प्रकार रजोगुण के अधीन जो कर्म होते हैं उनका परिणाम दुख ही है, क्योंकि राजस का फल दुख कहा गया है। रजोगुण के अधीन जो कर्म होते हैं, उनसे सांसारिक भोग पदार्थ एकत्रित किये जाते हैं और मनुष्य स्वाभाविक रूप में स्वतः ही भोगों की ओर उन्मुख होता है। सांसारिक भोग ही दुख का कारण है। इस प्रकार राजोगुण के अधीन जो कार्य होते हैं उनमें अंततः मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है। तमोगुण

के अधीन जो दुष्कर्म होते हैं उनका परिणाम अंधकार और पतन है जिससे मनुष्य को महान दुःखों का संयोग होता है और मृत्यु के पश्चात् भी उसे कष्ट ही सहने पड़ते हैं। त्रिगुणों का जो परिणाम है वह निश्चित है जिसे सुख, दुःख तथा पतन कहा जाता है।

(30) परमात्मा की पराशक्ति माया :–

परमात्मा की दूसरी शक्ति को माया या पराशक्ति कहा जाता है। परमात्मा की यह शक्ति भी बहुत विलक्षण और अलौकिक है। इस शक्ति का प्रभाव पृथ्वी लोग से देवलोक तक है। परमात्मा की पराशक्ति माया के अधीन समस्त मानव संसार में मोहित होकर पृथक्–पृथक् प्रकार के कार्य करते हैं। यह शक्ति इतनी दुष्तर है कि अव्यक्त रहकर भी प्रत्येक मानव को मोहित रखती है। प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की इस अलौकिक शक्ति के अधीन रहकर कार्य करता है। माया व्यक्त नहीं होती पर मानव के पृथक्–पृथक् कार्यों के रूप में व्यक्त होती है। इसकी दुष्तरता इसी से समझ सकते हैं कि प्रत्येक मानव को अपने प्रभाव से नचाती हैं। सृष्टि के आदिकाल से आज तक मानव ने जो भी कार्य किये हैं वे सबके सब माया की स्पष्ट प्रस्तुति हैं। आज का मानव इतनी आपाधापी में, भागदौड़ में, समस्याओं में, प्रपंचों में असंख्य प्रकार के कार्य करता है। वह माया का व्यक्त स्वरूप है। कारनामा है।माया के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति भागा जा रहा है, रात दिन एक करके व्यस्त है। हम जो अपनी व्यस्तता का रोना रोते हैं वह मात्र माया के कारण ही है। हम व्यस्त नहीं हैं, हम कार्य नहीं करते हैं माया हमसे कार्य करवाती है। मनुष्य पृथक्'–पृथक् प्रकार के स्वभाव, संस्कार, क्रिया पद्धति का जो क्रियान्वयन करता है अथवा प्रदर्शन करता हुआ प्रतीत होता है वह सबका सब माया का रूप है।

माया की प्रबलता से ही आज का जगत बहुत अशांत है। प्रत्येक मानव अशांत है। प्रत्येक मानव का जीवन अशांत है और चारो ओर अराजकता की अधिकता है भोगवादी परम्परा का चारों ओर विकास माया का प्रभाव स्पष्ट करती है। हम जहां तक विचार प्रस्तुत करेंगे वहां तक माया के कार्य का विस्तार पाएंगे। वह अव्यक्त रहकर व्यक्त रूप में हमें स्पष्ट प्रतीत होती है। हम जो कहते हैं, कर्मेन्द्रियों से करते हैं, ज्ञानेन्द्रियों से जो आभास करते हैं, मन से जो संकल्पनाऐं करते हैं तथा बुद्धि से जो विनिश्चय करते हैं वह सब का सब एक माया का ही स्वरूप है। मनुष्य का कोई भी कार्य इस अत्यंत दुष्कर परमात्मा की पराशक्ति से विलग नहीं होता हैं। मनुष्य का वायु के अभाव में जीना असंभव है वैसे ही मनुष्य माया के प्रभाव से ही कार्य करता है।

(क) माया का स्वरूप :–

प्रत्येक वस्तु का स्वरूप होता है। उसके स्वरूप से ही हम उसे पहचानते हैं। जगत की प्रत्येक वस्तु का, द्रव्य का, जीव का, स्थिति का, स्वरूप अवश्य होता है। उसी स्वरूप से उसे हम पहचान लेते हैं। यह स्वरूप का बोध मानव की मन बुद्धि में रहता है। जिसे साधरणतया लोग स्मृति कहते हैं। यह सब का सब उसमें संचित रहता है। जिस प्रकार हम आकाश, अग्नि, वायु, जल,पृथ्वी को पृथक् पृथक् पहचान लेते हैं उसके पृथक्–पृथक् गुण और स्वरूप को जानते हैं। जगत के प्रत्येक चर अचर वस्तु का निर्माण इनसे ही होता है और इनसे निर्मित होने वाली प्रत्येक वस्तु पृथक्–पृथक् रूपो में विभिन्न स्वरूपों में दिखती है जिसका मनुष्य जीवन में व्यवहार करता है। हजारों लाखों प्रकार की वस्तुएं हैं और उन सबका पृथक्–पृथक् स्वरूप है। मन बुद्धि प्रत्येक को पृथक्–पृथक् जानती है और उसमें अंतर स्थापित कर लेती है।

हमने अपनी सुविधा के लिए प्रत्येक वस्तुओं के नाम रखे हैं। नाम लेते ही हमारे मन में उस वस्तु का दृश्य उपस्थित रहता है। हमसे कोई भी कहे कि आप अपना पेन दे दें तो हम तत्काल पेन को समझकर उसको दे देते हैं, क्योंकि पेन के स्वरूप को हम जानते हैं। पहचानते हैं। ऐसे जगत की प्रत्येक वस्तु के बारे में ंऔर उसके स्वरूप के बारे में हमें ज्ञान रहता है, परन्तु माया का कोई स्वरूप नही है वह स्वरूप रहित है। माया के नाम से जो तत्त्व या वस्तु या सत्ता है उसका कोई स्वरूप नहीं है। ये अत्यंत विलक्षण बात है। प्रत्येक प्राणी के तथा प्रत्येक मनुष्य के शरीर में अंग होते हैं। प्राणी की पहचान उसके अंगों के आधार पर, उसके आकार के आधार पर या उसके गुणों के आधार पर होती हैं। कीड़ा, पशु–पक्षी जलचर या नभचर की परख पृथक्–पृथक् प्रकार से हो जाती है। हम सभी प्राणियों को देखकर यह निश्चित करते हैं कि वह अमुक प्राणी है। इस विनिश्चय में उसका आकार, प्रकार, अंग, क्रियाविधि,गुण,चेष्टा आदि ही तो सहायक होते हैं। मनुष्य स्त्री है अथवा पुरूष है इसका भी विनिश्चय हम कर लेते हैं। बालक है, युवा है, वृद्ध है, पुष्ट है या कमजोर है आदि का विनिश्चय भी हम देख कर ही कर लेते हैं। वस्तुओं के प्रकार के विनिश्चय में हमारी भूल नहीं होती क्योंकि उसका विनिश्चय पहले से ही किया हुआ है अथवा किया जा चुका था। वह स्मृति में रहता है और देखते ही प्रकट हो जाता है। मनुष्य को देखकर हम यह अनुमान लगा लेते हैं कि वह भारतीय है, यूरोपियन है, अफ्रीकी है। इस तथ्य का विनिश्चय उसके रूप रंग, कद कांठी, बोलचाल, भाषा के आधार पर ही कर लेते हैं, परन्तु माया अंग रहित है। इस कारण उसका विनिश्चय नहीं किया जा सकता है।

अंग रहित होकर भी वह नाना प्रकार के कार्य करती है और अत्यंत विलक्षण कार्य करती है। यह उस तत्त्व की अलौकिकता है।

प्रत्येक कार्य का सम्पादन क्रियाओं से होता है। मनुष्य ने इस जगत में कितने चमत्कारी कार्य किये हैं? कितने सुन्दर सुखद भवन, कितने आरामदायक आवागमन के साधन बनाये हैं? कितने आरामदायक भोग वस्तुएं शरीर के लिए सुखद प्रतीत होने वाली बनाई हैं। यह सबका सब निर्माण मनुष्य की बुद्धि से श्रम के क्रियान्वयन से हुआ है। कितनी ही श्रमिकों ने इसके लिए कार्य किया है। एक पुल का निर्माण जब होता है तो उसमें कितना श्रम लगता है? उसमें कितने मस्तिष्क लगते हैं? निरंतर कार्य करके वह निर्माण आकार लेता है। यदि श्रम न हो तो निर्माण संभव नहीं है। यह सब का सब मानव अंगों का विलक्षण प्रभाव है कि वस्तु कल्पना के आधार पर साकार रूप ले लेती है। परमात्मा ने मानव को कुछ विशेष अंग प्रदान किये हैं जिनसे ये सब विलक्षण निर्माण हो रहा है और वह भविष्य में होता रहेगा। ये सब मानव का चमत्कारी प्रभाव है। माया मनुष्य के समस्त कार्यों का सम्पादन कराती है। मनुष्य करता है, पर माया स्वयं अंग रहित है वह बिना अंगों के ही समस्त क्रियाओं का क्रियान्वयन करवा डालती है। माया अंग रहित होकर अंगसहित कार्य करती है। ये माया की अलौकिकता है। अब आपने माया की विलक्षणता का अनुमान और विनिश्चय सहज भाव से कर लिया होगा। वह अव्यक्त होकर भी व्यक्त है और अंग रहित होकर अंग सहित है।

प्रत्येक वस्तु का, द्रव्य का ,प्राणी का, सत्ता का, मानव का वर्णन हम देखकर उसके रंग, रूप, गुणों, कार्य आदि के आधार पर करते हैं। जल बहता हैं। जगत की वस्तुओं को गीला कर सकता है। वायु बहती है हम उसका आभास करते हैं। वैसे ही प्रत्येक वस्तु का वर्णन उसके गुणों के आधार पर हम करते हैं। जिस वस्तु को हम देंख नहीं पाते हैं उसकी कल्पना के आधार पर मन उसको वर्णित करता है। परमात्मा को हम देख नही पाते हैं परन्तु उसके गुणों के आधार पर उसके कार्य को देख्कर उसका वर्णन करते हैं। परमात्मा की तरह उसकी पराशक्ति माया भी अव्यक्त है इस कारण उसका वर्णन सम्भव नहीं है। उसको यदि हम देख पाते तो अवश्य ही उसके विलक्षण कार्यों को और उसके स्वरूप को वर्णित कर देते। अव्यक्त माया को हम वर्णित नहीं कर सकते इस कारण उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। माया के अनिर्वचनीय होते हुए भी उसके गुणों तथा कार्यों के आधार पर हम उसको वर्णित करने का प्रयास कर रहे हैं।

(ख) माया का कार्य :—

परमात्मा की पराशक्ति माया का प्रमुख कार्य है कि मनुष्य को इस जगत में अपने पृथक् प्रथक् रूपों में मोहित करना तथा इस जगत से उद्धार न होने देना। माया मनुष्य को अव्यक्त रहकर भी पूरी तरह से प्रभावित करती है। मनुष्य माया से प्रेरित हुआ नाना प्रकार के सत्कर्म, दुष्कर्म तथा निश्चित कर्म करता रहता है। मनुष्य को ये मेरा है, ये तेरा है का आभास इसी कारण होता है। ये वस्तु मेरी है, ये तेरी है इस तथ्य के निर्धारण के लिए आज हमारे देश में लाखों वाद विभिन्न न्यायालयों में विचाराधीन हैं, जो तय नहीं हो पा रहे हैं। लाखों की संख्या में वादों का विचाराधीन रहना माया की प्रबलता है और निर्णीत न हो पाना माया की विलक्षणता है। अनेक प्रकार के वादों में नाना प्रकार के तर्क आपने सुने होंगे और असीमित तथ्यों को तर्क संगत रूप में देखा होगा। अमुक न्यायालय ने अमुक निर्णय कई हजार पृष्ठों में लिखा है ये सब का सब माया की प्रबलता है। माया का असीमित विस्तार है। मनुष्य तर्क और कल्पनाओं के आधार पर जो करता है, जो करता रहता है, जो प्रस्तुत करता है वह सब का सब माया का ही रूप है। माया ऐसे विलक्षण रूप में हमसे हमारे अन्दर रहकर नाना प्रकार के कार्य कराती है और उन कार्यों से हम जीवन पर्यन्त निवृत्त नहीं हो पाते हैं। हमारे मन का जो विस्तार है और बुद्धि की उस विस्तार को जानने की जो शक्ति है वो सब का सब माया के कारण ही है।

हमारी दृष्टि जहां तक जाती है वहां तक माया के कार्य का उसके प्रभाव का, उसकी प्रबलता का हमें दर्शन होता है। मनुष्य जो भी कार्य करता है वो सब का सब माया से प्रेरित रहता है। साधारणतया मनुष्य माया के प्रभाव को नहीं जानता है। साधक उसके प्रभाव को जानने का प्रयास करते हैं। जैसे एक बहेलिया पक्षी को पकड़ने के लिए सूखी भूमि में चिपकाने वाला पदार्थ लगाकर उसमें पक्षियों के खाने के लिए कुछ दाने बिखेर देता है। पक्षी दानों के लालच में उस भूमि पर आकर बैठते हैं। दाना चुनते ही पक्षी बहेलिये के द्वारा बिछाए गए जाल में फंस जाते हैं। बहेलिया पक्षी को पकड़ लेता है और बड़ी क्रूरता से उनका वध करता है। वैसी ही माया की स्थिति है और उसका कार्य है। उसने इस जगत में अपना जाल बिछा रखा है और उसमें सांसारिक भोग रूपी दाने बिखेर दिये हैं। मनुष्य सांसारिक भोगरूपी दानों को चुनने की, खाने की आशा में जाल में फंस जाता है जीवन भर फंसा रहता है और अंततः उसकी मृत्यु आ जाती है यही माया का कार्य रूप है।

एक मक्खी गीले गुड़ में बैठती है और उसे गुड़ की मिठास के स्वाद का आभास होता है। वह मक्खी स्वाद तो लेती है परन्तु उसके पैर उस मीठे गीले गुड़ में सन जाते हैं। स्वाद लेने के पश्चात् वह मक्खी उड़ना चाहती है परन्तु उसके पैर गीले गुड़ में फंसे होने के कारण उससे निकल नही पाते हैं। वह जितना ही उससे निकलने का प्रयास करती है वह उसमें उतना ही फंसती जाती है। अंततः मक्खी की मृत्यु हो जाती है। उसे गुड़ की मिठास अंततः मार डालती है। वैसे ही माया का कार्य है। माया रूपी गीले गुड़ में मनुष्य फंस जाता है और उसे संसार के भोग का स्वाद तो मिलता है परन्तु उस स्वाद से वह कभी निकल नहीं पाता है और अंततः उसकी इसी माया में मृत्यु हो जाती है। यह माया का कार्य रूप ही है।

एक सामान्य मनुष्य अनुकूल परिस्थितियों में कुछ धन का संचय कर लेता हैं। जब वह कुछ धन पा जाता है तो वह उस धन के महत्व को समझता है। धन की वृद्धि हेतु पुनः–पुनः प्रयास करता है। श्रम से उसे धन की प्राप्ति हो जाती है। धन बढ़ता है, कार्य बढ़ता है, व्यवसाय बढ़ता है। देखते ही देखते वह असंख्य धन का स्वामी हो जाता है। समाज में उसे लोग सफल समझते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रातः से रात्रि तक धन की वृद्धि के उपाय खोजते हैं। धन के उपायों की खोज में वह युवा से वृद्ध हो जाता है। उसकी गणना क्षेत्र के धनपतियों में होती है। वृद्ध होकर उसके अंग भी कार्य नहीं करते हैं। वह तो न तो ठीक से खा पाता है, न चल पाता है, और बैठा–बैठा ही अपनी मृत्यु के विषय में विचार करता हैं। हाय मृत्यु आयेगी और हमें ले जाएगी ये सब का सब जो हमने बड़ी मेहनत से एकत्र किया है अनायास ही छूट जाएगा। यह स्थिति उसे बड़ा बेचैन रखती है। वह अंततः दुखी होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ये सब का सब माया का ही कार्य रूप है।

(31) कर्म विज्ञान :–

भगवद्गीता के तीन अध्याय कर्म विषयक हैं, जिनमें तीसरा अध्याय **कर्मयोग,** चौथा अध्याय **ज्ञानकर्मसंन्यासयोग** और पांचवा अध्याय **कर्मसंन्यासयोग** नाम से है, इसलिए श्री गीताजी में कर्म की विशेषता है। श्रीभगवान ने कर्म पर बहुत विशिष्टता से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। कर्तव्य कर्म का आचरण करके कर्मफल की आकांक्षा का त्याग करके कर्म की आसक्ति का परित्याग करके मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस कारण कर्म के सम्बंध में मनुष्य को अवश्य जानना चाहिए कि उसे क्या कर्म करना यथेष्ट है ? और किन कर्मो को निषिद्ध कर्म कहते हैं? तथा कौन से कर्म सर्वथा त्याज्य हैं? इन सबका ज्ञान होना मनुष्य के लिए परम आवश्यक है। कर्मो का सम्पादन मनुष्य किस प्रकार से करता

है? यह जानना भी अनिवार्य है। कर्म विज्ञान विषय पर इसी सम्बंध में चर्चा प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

(क) मुनष्य कर्मो का सम्पादन कैसे करता है ?

मनुष्य कर्मो का सम्पादन तीन प्रकार से करता है। अर्थात् मनुष्य तीन प्रकार से कर्मो को करता है। इन तीन प्रकार के कर्मो को 1—मनसा 2—वाचा तथा 3—कर्मणा कर्म कहा जाता है। मन के सम्बंध में पूर्व में विचार प्रस्तुत किये जा चुके हैं। पहले अर्थात् सर्वप्रथम मनुष्य के मन में किसी भी कर्म के प्रति विचार आता है। विचार के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें परिस्थिति, आवश्यकता आदि प्रमुख हैं। जैसे हमारे मन में यह विचार आया कि हम किसी की सहायता करें तो यह सहायता करने का कार्य मनुष्य के द्वारा मानसिक रूप से किया गया। मन में आये विचार को हम दूसरों के सम्मुख वाणी से प्रकट करते हैं कि हमें अमुक व्यक्ति की सहायता करनी है। इस प्रकार सहायता के लिए कहा जाता है तो यह वाणी के द्वारा कार्य किया जाता है। इसी प्रकार मनसा और वाचा कर्म हो जाने पर हम धन आदि लेकर जाते हैं और उसकी सहायता करते हैं। इसे कर्मणा कर्म कहा जाता है। प्रत्येक कर्म में इस प्रकार से तीन प्रकार से कर्म होना होता है।

ऐसे दुष्कर्मो के क्रियान्वयन के भी तीन प्रकार होते हैं। पहले मनुष्य के मन में किसी के अहित का विचार आता है। मन में किसी के अहित का विचार आना मनसा कर्म कहा जाता है। अहित का विचार मन में आने पर उस व्यक्ति के प्रति हम बुरा भला कहते हैं। यह बुरा भला कहना, कटु शब्दों का प्रयोग करना वाचा कर्म कहा जाता है। इसके पश्चात् यदि हम उस व्यक्ति को प्रताड़ित करते हैं। मारते पीटते हैं। हिंसा करते हैं तो इसे कर्मणा कर्म कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म का सम्पादन तीन प्रकार से क्रियान्वित किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकार के अतिरिक्त कर्मो का सम्पादन नहीं कर सकता। इन तीन प्रकार के कर्मो को सम्पादन जिनके द्वारा होता है उन्हें करण कहा जाता है।

(ख) कर्म सम्पादन के साधन 'करण' :—

मानव शरीर में 13 करण हैं अर्थात् मनुष्य जो भी कार्य करता है वह इन करणों के माध्यम से ही करता है। कर्ण के दो प्रकार के होते है। 1—बाह्यकरण और 2— अंतःकरण। बाहयकरण के भी दो प्रकार हैं। 1—ज्ञानेन्द्रियां और 2—कर्मेन्द्रियां। मनुष्य में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा पांच कर्मेन्द्रियां है। ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा,नासिका को कहा जाता है तथा पांच कर्मेन्द्रिया वाक, हस्त, पाद, उपस्थ और पायु हैं। मन बुद्धि और अहंकार

इन्हें अंतःकरण कहते हैं। अंतःकरण अव्यक्त रहकर व्यक्त की तरह से कार्य करते हैं। मन से विचार होता है। बुद्धि से मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चिय होता है और अहंकार से मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का विस्मरण होता है। अर्थात् मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर मिथ्यास्वरूप का आभास करता है। इसी प्रकार करण अर्थात् कान से सुनने की क्रिया होती है। नेत्रों से देखने की क्रिया होती है और नासिका से गंध लेने का कार्य होता है। जिह्वा से रस लिया जाता है और त्वचा से स्पर्श रूपी कार्य होता है। वाक अर्थात् वाणी से हम बोलने का कार्य करते है। हाथों से आदान प्रदान का कार्य होता है। पैरों से चलने का कार्य होता है। उपस्थ और पायु से मल मूत्र विसर्जन तथा मैथुन का कार्य होता है। इस इन 13 करणों से मनुष्य नाना प्रकार के कर्मो का सम्पादन करता है। करण ही मनुष्य की क्रियाओं के सम्पादन के हेतु माने जाने चाहिए।

(ग) अंतःकरण के निर्देश से बाह्यकरण कार्य करते हैं :–

अंतःकरण बाह्यकरण से विशिष्ट है, क्योंकि बाह्यकरण अंतःकरण के निर्देशों पर ही कार्य करते है। अंतःकरण के बिना बाह्यकरण अपने क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ नहीं हैं। जैसे मन पहले किसी विषय पर विचार करता है और उसका विचार बुद्धि को प्रेषित किया जाता है। बुद्धि उस विचार को ग्रहण करके उसके प्रतिपादन पर विचार करती है, तत्पश्चात् क्रियान्वयन का आदेश देती है, तब बाह्यकरण उस कार्य को प्रतिपादित करते हैं। यह समस्त क्रियाऐं स्वतः ही हुआ करती हैं और इनका स्वाभाविक रूप से क्रियान्वयन भी हुआ करता है। प्रत्येक कार्य की यही स्थिति है। जैसे हमें कहीं जाना हैं तो मन उसके बारे में विचार करता है और जाने के विषय में बुद्धि को बताता है। बुद्धि मन के द्वारा प्रेषित उस विचार पर और परिस्थिति पर चिंतन करती है तथा यह तय करती है कि वहां जाना उचित होगा अथवा नहीं। जाने को उचित समझ कर जाने की अनुमति प्रदान करती है और उचित न समझ कर वह मन के द्वारा प्रेषित विचार को नकारात्मक भाव से देखकर न जाने के लिए आदेशित करती है। जाने की अनुमति देने पर चलने के लिए बुद्धि पैरों को आदेश देती है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया मन तथा बुद्धि के निर्देश से ही संचालित होती है।

जब ज्ञानेन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करती हैं तो भी मन वहां पर जाकर उस ज्ञानेन्द्रिय का सहयोग करता है। जैसे नेत्र कोई दृश्य देखता है तो उस दृश्य के विषय में, विचारण में तत्काल ही मन उसका सहयोग करता है। जिह्वा किसी खाद्य पदार्थ का सेवन करती है और उसमे रस को ग्रहण करती है तो उस रस को ग्रहण करने में मन का

सहयोग रहता है। अकेले जिह्वा किसी रस को ग्रहण नहीं कर सकती है। इसी प्रकार त्वचा स्पर्शरूपी विषय को मन के सहारे ही ग्रहण करती है। इस प्रकार बाह्यकरण अंतःकरण के सहयोग और निर्देश से ही कार्य करते हैं। बाह्यकरण अंतःकरण के सहयोग से कार्य करने के लिए बाध्य हैं, इसलिए अंतःकरण की श्रेष्ठता स्वतः ही स्थापित हो जाती है। अहंकार रूपी तत्त्व अंतःकरण का एक भाग है और यह अहंकार रूपी तत्त्व बाह्यकरण पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। बाह्यकरण के समस्त भाग इसके प्रभाव से प्रभावित रहते हैं।

(घ) ज्ञानेन्द्रियों के विषय और उनकी कार्य प्रणाली :–

पांच ज्ञानेन्द्रियां होती हैं जिन्हें कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा तथा नासिका कहा जाता है। इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय भी हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श, और गंध कहा जाता है। मनुष्य विशेषकर इन्हीं पांच विषयों में जीवनपर्यंत फंसा रहता है। कर्ण अर्थात् कान से वह मधुर शब्दों, गीतों को सुनना चाहता है। मधुर शब्द तथा गीतों के सुनने में वह आसक्त हो जाता है। इसी को शब्दासक्ति कहते हैं। नेत्र अर्थात् आंख से मनुष्य सुन्दर दृश्यों के देखना चाहता है। सुन्दर दृश्यों को देखने में उन दृश्यों के प्रति उसमें आसक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसी को रूपासक्ति कहते हैं। जिह्वा अर्थात् जीभ से वह सुस्वाद भोजन के रसों का आनन्द लेना चाहता है। मनुष्य रसों के आनन्द में आसक्त होता है। इस आसक्ति को रसासक्ति कहते हैं। त्वचा से कोमल वस्तुओं का स्पर्श चाहता है। इस कोमल वस्तुओं के स्पर्श में वह फंस जाता है, इसे स्पर्शासक्ति कहा जाता है। नासिका अर्थात् नाक से विभिन्न प्रकार की सुगन्धों का आनन्द लेने का इच्छुक होता है और वह इस प्रकार सुगंधों के आकर्षण में फंसता है। इसे गंधासक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह कर्मेन्द्रियों के विषयों में भी आसक्त होता है। और जीवनपर्यंत उनमें फंसा रहता है।

मनुष्य जब कर्ण अर्थात् कान से मधुर संगीत अथवा शब्द सुनता है तो उसकी जानकारी प्रथमता तो कर्णेन्द्रिय को होती है। कर्णेन्द्रिय जिस मधुर संगीत अथवा शब्द को सुनती है उस शब्द का तत्काल ज्ञान मन को हो जाता है। उस मधुर शब्द से अथवा संगीत की विषय वस्तु से वह आकर्षित होता है और मन उस पर विचार करने लगता है। परमात्मा ने मन को यह विचारण शक्ति प्रदान की है। मन जब मधुर संगीत, शब्द पर विचार कर रहा होता है तो बुद्धि इस तथ्य को जानती है और मन को उस कार्य की स्वीकृति प्रदान करती है। इस प्रकार उस मधुर संगीत तथा शब्द के बारे में कान, मन तथा बुद्धि तीनों एक साथ आनन्द लेते हैं और संज्ञानता को ग्रहण करते हैं। इसी मध्य यदि अप्रिय संगीत अथवा शब्द आ जाता है तो बुद्धि उस संगीत को रोकने का आदेश देती है

और उसे न सुनने का उपक्रम आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार यह कर्णेन्द्रिय के विषय की कार्य प्रणाली है। हम ऐसे ही प्रत्येक इन्द्रिय और उसके विषय की कार्य प्रणाली को समझ सकते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की कार्य प्रणाली को समझने के पश्चात् उसके प्रभाव को हमें स्वयं ही समझना चाहिए, क्योंकि हम जब ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के ग्रहण करने की कार्य प्रणाली को समझ जाते हैं तब उस विषय में आसक्ति को रोक सकते हैं। साधक का यही कार्य है कि वह ज्ञानेन्द्रियों के विषय और उसकी कार्य प्रणाली को समझ कर उसकी प्रतिपक्षी भावना से उस ज्ञानेन्द्रिय के विषय में आसक्त न हो।

(ङ) कर्म के तीन रूप – कर्म, अकर्म तथा विकर्म :–

शास्त्रों ने कर्म के तीन स्वरूपों का वर्णन किया है, जिन्हें कर्म, अकर्म तथा विकर्म कहा जाता है। प्रत्येक साधक को कर्म के इन तीनों स्वरूपों का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक साधक कर्म, अकर्म और विक्रर्म के अन्तर का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता तब तक उसे कर्म, अकर्म और विकर्म के सम्पादन में और उनके परित्याग में कठिनाई रहती है। कर्म,अकर्म और विकर्म के अन्तर के ज्ञान के लिए हमारे पास दो विशिष्ट साधन हैं। एक शास्त्रों का निरन्तर सेवन और दूसरे महापुरूषों का सत्संग। इन दो तथ्यों से हमें कर्म, अकर्म और विकर्म के स्वरूप को समझने में बहुत सहायता मिलती है। यद्यपि इनके अंतर को समझने में अधिकांश बुद्धिमान मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं और वे कर्म, अकर्म और विकर्म के अंतर को समझने में कभी भूल कर बैठते हैं, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

शास्त्र में जो कुछ वर्णित है, जो कुछ मनुष्य को करना चाहिए, जो कुछ उसके लिए कर्तव्य कर्म है जिनका पालन करना, मनुष्य का धर्म है उन कर्तव्य कर्मो को कर्म समझना चाहिए। जिन कर्मो से समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाए, दूसरों का उत्पीड़न हो तथा दूसरों के अधिकारों का हनन हो। ऐसे कर्मो को हमें विकर्म के स्वरूप में समझना चाहिए तथा ऐसे अशास्त्रसंगत कर्मो से सदैव बचने का प्रयास करना चाहिए। यही साधक का विशिष्ट लक्षण एवं धर्म है। जब मनुष्य कर्म और विकर्म किसी का भी सम्पादन करता है तो उसका अंकन परमात्मा की व्यवस्था के अधीन हुआ करता है और उसका निश्चित परिणाम होता है। उस परिणाम से बचा जा पाना असंभव है। अर्थात् हम जब कर्म करते हैं तो भी हमें उस कर्म का परिणाम मिलता है तथा जब विकर्म अर्थात् अशास्त्रसंगत कर्म करते हैं तो भी उसका प्रतिकूल परिणाम हमें प्राप्त होता है, जो दुःख के रूप में प्रकट होता है। जब मनुष्य साधना की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तब वह स्वयं के लिए कुछ नहीं करता वरन् समाज के कल्याण के लिए संकल्पों से रहित हो करके अनेक प्रकार की क्रियाओं को

करता है, तो ऐसे कर्मो को जो निःस्वार्थ भाव से किये जाते हैं वे कर्म अकर्म कहलाते हैं। अकर्म का सम्पादन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता है, इस कारण अकर्म के विषय में सामान्य मनुष्य को कोई ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि सामान्य मनुष्य प्रत्येक कर्म के क्रियान्वयन के पूर्व उसके फल पर अवश्य दृष्टि रखता है। इस प्रकार कर्म, अकर्म और विकर्म तीन प्रकार के कर्म मानव के द्वारा किये जाते हैं। कर्मो के सम्पादन का प्रयास साधक करता है। विकर्मो के सम्पादन का प्रयास समाज में वे लोग करते हैं जो दूषित प्रवृत्ति से आवृत होते हैं तथा तमोगुण से आच्छादित हो जाते हैं। अकर्म का सम्पादन दुर्लभ लोग ही करते हैं।

(च) समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों से होती है :—

मनुष्य कुछ नहीं करता है यह कहना हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। प्रकृतिजन्य गुणों से ही समस्त क्रियाऐं होती हैं। इसे समझना आवश्यक है। प्रकृति ने अपने तीन गुण प्रकट किये हैं जिन्हें सत्त्व, रज, तम गुण कहा जाता है। इन गुणों का वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक काल में किसी न किसी गुण से प्रभावित अवश्य रहता है। अर्थात् हम सब जो भी कर्म करते हैं वह त्रिगुणों से प्रभावित होकर ही करते हैं। जैसे हम जब समाज के कल्याण के लिए शुभकर्म, देवोपासनारूपी कर्म तथा अध्यात्म की ओर उन्मुख होकर कर्म करते हैं तो वह सत्त्वगुण के प्रभाव से करते हैं। जब सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने, सांसारिक विषयों को प्राप्त करने के लिए कर्म करते हैं तो वे कर्म रजो गुण के अधीन किये जाते हैं। समाज विरोधी कर्मो के क्रियान्वयन में जब हम लिप्त हो जाते हैं तब वे कर्म तमोगुण के अधीन होकर ही किये जाते हैं। इस प्रकार की मनुष्य की समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों से प्रभावित रहती हैं। मनुष्य का प्रत्येक कर्म किसी न किसी गुण से प्रभावित अवश्य रहता है, इसलिए समस्त कर्मो को प्रकृतिजन्य गुणों से अधीन होना माना जाता है।

उपर्युक्त तथ्य को अधिक सरल रूप से स्पष्टरूपेण समझना आवश्यक है। हमारा सम्पूर्ण शरीर त्रिगुण के प्रभाव में रहता है। जैसे हम शरीर में कोई पीड़ा होने पर कोई दर्द निवारक औषधि लेते हैं तो सम्पूर्ण शरीर पर उस दर्द निवारक औषधि का प्रभाव होता है। जैसे हम स्नान करते हैं तो हमारा सम्पूर्ण शरीर जल से भीग जाता है तथा सम्पूर्ण शरीर में जल का प्रभाव रहता है जैसे हम सर्दी के दिनों में जाडे से प्रभावित रहते हैं तो हमारे सम्पूर्ण शरीर पर सर्दी का प्रभाव रहता है। यह सब प्रभाव शरीर पर रहता है। इसी प्रकार त्रिगुणों का प्रभाव शरीर पर रहता है अर्थात् समस्त शरीर त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित रहता है। इसलिए मनुष्य की समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन ही होती हैं।

जब हम किसी को अनावश्यक रूप से प्रताड़ित करते हैं क्रोध करते हैं तो यह क्रियाऐं तमोगुण के प्रभाव से होती हैं। क्रोध की उत्पत्ति कामना में अवरोध के कारण होती है, इस कारण क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण के कारण मानी जाती है, परन्तु उसका परिणाम तामसी माना जाता है। इसी प्रकार दुष्कर्मो के क्रियान्वयन का मूल कारण तमोगुण होते हैं। हम अपने प्रत्येक कर्म पर एक दृष्टि डालेंगे तो वह प्रत्येक कर्म त्रिगुणों के प्रभाव से प्रभावित होगा। मनुष्य का कोई भी कर्म बिना त्रिगुणों के प्रभाव से नहीं होता है। हम जब कोई अध्यात्मिक कर्म करते हैं तो वह सत्त्वगुण के प्रभाव से प्रभावित होकर करते हैं। संसार में धन आदि के एकत्रीकरण का कार्य रजोगुण के प्रभाव से होता है। इस प्रकार प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुण ही वास्तविक रूप से हमसें क्रियाऐं कराते है। बिजली के समस्त उपकरण बिजली के प्रभाव से संचालित होते हैं। वैसे ही हमारे शरीर की समस्त क्रियाऐं त्रिगुणों से प्रभावित रहती हैं। कोई भी कर्म बिना त्रिगुणों के नहीं होता। इसी कारण यह कहा जाता है कि समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों से होती हैं।

(छ) मनुष्य क्रियाओं का कर्ता नहीं है :–

साधारणतया मनुष्य यह कहता है कि हमने अमुक कार्य किया है। वैसे यह प्रतीत भी होता है कि मनुष्य कार्य कर रहा है। हम प्रातःकाल उठते हैं। स्नानादि करके भोजन करते हैं और कहते हैं कि हमने स्नान कर लिया है और भोजन कर लिया है। इसके उपरान्त अपने कार्य स्थल में कार्य करने के लिए जाते हैं। पूरा दिन कार्य करने के पश्चात् हम यह कहते हैं कि हमने यह कार्य किया है। इसी प्रकार मनुष्य जीवनपर्यन्त कर्म करता है और कहता है कि अपने जीवनकाल में बहुत परिश्रम किया है। इतनी धन, सम्पत्ति एकत्र कर ली है, क्योंकि वह कार्य करता है इस कारण उसमें कर्तापन का भाव भी रहता है। स्वाभाविक रूप से रहना भी चाहिए। कर्तापन के भाव के पीछे कर्म का प्रत्यक्ष क्रियान्वयन है जो हमें प्रतीत होता है।

हम जो भी कार्य करते हैं वह 13 करणों से ही करते हैं, जो प्रकृति प्रदत्त हैं। ज्ञनेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां अर्थात् दस करण प्रकृति के पंचमहाभूतों द्वारा निर्मित हैं तथा उनके कार्य करने की जो योग्यता, शक्ति परमात्मा की परा प्रकृति जीव के द्वारा प्रदान की गई है। इसी प्रकार प्रकृति ने मन, बुद्धि और अहंकार नामक तीन तत्त्व शरीर में प्रविष्टि करा दिए हैं जो प्रकृति की तरह अव्यक्त रहकर निरन्तर कार्य करते हैं। तथा कार्य के मूलभूत तत्त्व हैं। अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार रूपी अंतःकरण से ही प्राथमिक कार्य होता है। यह तो करण की स्थिति है जो प्रकृति प्रदत्त है। करण से ही मानव कार्य करता है। इस

प्रकार मनुष्य किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है। क्रियाऐं करण से होती हैं जो प्रकृति द्वारा मानव को प्रदान की गई है। इस कारण मनुष्य में कर्तापन का भाव नहीं होना चाहिए।

प्रकृति के जो तीन गुण हं जिन्हें सत्त्व, रज तथा तम कहा जाता है। यह मानव शरीर में उपस्थित रहकर शरीर को प्रभावित करते हैं अर्थात् गुणों के प्रभाव से ही मानव शरीर के समस्त कर्मो का सम्पादन होता है। पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि जब मानव शरीर सत्त्वगुण से प्रभावित रहता है तो वह शुभ कार्य करता है। परमात्मा को जानने की जिज्ञासा, देवी देवताओं की उपासना और उनका यजन पूजन, मानव समाज के कल्याण के कार्य करने को उद्वत हो जाता है। यह कार्य सात्त्विक गुण के प्रभाव से होते हैं। इसी प्रकार रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कर्मो को करने की चेष्टा करता है। सांसारिक पदार्थ धन, सम्पत्ति आदि तथा सांसारिक स्थितियां पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति का प्रयास रजोगुण के प्रभाव के कारण होता है। इसी प्रकार जब यह मानव शरीर दुष्कर्मो की ओर उन्मुख हो जाता है तब वह तमोगुण के प्रभाव से प्रभावित रहता है।

यह तथ्य इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मानव मात्र की जो क्रियाऐं है वह सबकी सब त्रिगुणों के प्रभाव से ही होती हैं इस कारण करण जिनके माध्यम से मानव शरीर के समस्त कार्य सम्पादित किये जाते हैं वे प्रकृति के द्वारा प्रदान किये गए हैं तथा प्रकृति प्रदत्त कहे जाते हैं। इसलिए यह जो भी कार्य होता है वह प्रकृतिजन्य गुणों के कारण ही होता है। इस प्रकार मनुष्य जो भी कर्म करता है वह स्वयं नहीं करता हैं स्वयं करता हुआ प्रतीत होता है। इसलिए वह किसी भी कर्म का कर्ता नहीं हैं गुणों की प्रेरणा से समस्त कर्म किये जाते हैं। इसलिए मनुष्य किसी भी कार्य का कर्ता न होने के कारण अपने को कर्तापन के भाव से मुक्त रख सकता है। यह स्थिति साधना की उच्च पराकाष्ठा पर जाकर स्पष्ट हो जाती है कि मैं किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं हूं। ऐसी स्थिति में कर्तापन के भाव का समापन हो जाता है।

(ज) मनुष्य किसी भी क्षण अकर्मकृत नहीं रह सकता है :–

मनुष्य प्रत्येक क्षण कर्म करता है। प्रकृतिजन्य गुण ही उससे काम करवाते हैं। मनुष्य शरीर की तीन अवस्थाऐं होती हैं। उन तीनों अवस्थाओं अर्थात् जाग्रतकाल में, स्वप्नकाल में अथवा सुषुप्तिकाल में वह निरन्तर कर्म करता है। सामान्य रूप से यह समझ ले कि जाग्रत काल में वह जागने का कर्म करता है। स्वप्नकाल में वह स्वप्न देखने का कर्म करता है तथ निद्राकाल में वह सोने का कर्म करता है। इस प्रकार जागने के समय,

स्वप्नावस्था में अनेक प्रकार की क्रियाऐं मनुष्य के द्वारा की जाती हैं। स्वप्न की अवस्था में जो कर्मो का क्रियान्वयन होता है व प्रत्यक्ष प्रतीत तो नहीं होता परन्तु क्रियाऐं होती प्रतीत होती हैं। निद्राकाल में सोने का कर्म होता है। ऐसी स्थिति में स्थूल शरीर तो निचेष्ट और क्रियाशील हो जाता है परन्तु शरीर की आन्तरिक क्रियाएं चलती रहती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में मनुष्य कर्म करता है।

जाग्रत अवस्था में हमारी इन्द्रियां मन तथा बुद्धि कार्य करते रहते हैं। नेत्र देखने का कार्य निरन्तर करता रहता है। नेत्र को देखने के लिए कार्य में लगाना नहीं पड़ता। नेत्र स्वतः ही देखने की क्रिया को करते हैं कान अपने आप ही ध्वनि को ग्रहण करते रहते हैं अर्थात् जो भी ध्वनि उनके सम्पर्क में आती है वह स्वतः ही ग्रहण हुआ करती है। इस प्रकार ध्वनि की तीव्रता के अनुसार कर्ण ग्रहण करने का कार्य करते हैं। कर्ण सुनने का कार्य निरन्तर करते हैं। इसी प्रकार नासिका निरन्तर गंध ग्रहण करने का कार्य करती है। सर्दी, गर्मी, कोमलता, कठोरता आदि का ग्रहण त्वचा के द्वारा स्वतः होता है। इसी प्रकार जिह्वा भी अवसर आने पर स्वाद को ग्रहण करती है। वाणी से भी अधिक समय बोलने का कार्य चला करता है। यह भी मन द्वारा विचारित विषयों के आधार पर वाणी अपनी क्रिया किया करती है। हस्त और पाद की क्रियाएं चला करती हैं। इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियों से भी यथासंभव कार्य होते हैं। यह इन्द्रियों की स्वतः और स्वचालित कर्म प्रक्रिया है जो निरन्तर चला करती है, रूकती नहीं है। इस कारण मनुष्य कभी अकर्मकृत अर्थात् काम किये बिना नहीं रह सकता।

मनुष्य विशेष कार्य मन, बुद्धि से करता है। अहंकार भी शरीर को चालित रखने में विशेष प्रभाव डालता है। मन तथा बुद्धि से जो कार्य होता है। वह जाग्रत अवस्था में निरन्तर हुआ करता है, इसलिए मनुष्य अकर्मकृत नहीं रह सकता। मन निरन्तर कुछ न कुछ विचार किया करता है। उसके विचार करने की क्रिया निद्राकाल को छोड़कर कभी समाप्त नहीं होती है। मन को इसी कारण प्रमथनशील स्वभाव का कहा जाता है। मन का सांसारिक विचारण का कार्य कभी रूकता नहीं है। जब निद्राकाल में मन शान्त हो जाता है तो बुद्धि भी शान्त हो जाती है। मन के निरन्तर विचार हेतु क्रियाशील रहने के कारण मनुष्य कभी अकर्मकृत नहीं रह सकता है। इसी प्रकार बुद्धि भी मन के द्वारा विचारित विषयों को स्वीकार या अस्वीकार करने के कारण अकर्मकृत नहीं रह पाती। इस प्रकार मन तथा बुद्धि से भी निरन्तर क्रियाएं हुआ करती हैं। स्वप्नावस्था में तथा जागृत अवस्था में क्रियाएं स्वतः ही की जाती हैं और निद्राकाल में सोने की क्रिया होने के कारण कार्य होना कहा जाता है।

(झ) विषयों का चिंतन मन से त्यागें :—

प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषय हैं और उन विषयों को इन्द्रिय मन के सहारे उपभोग करती है। विषयों के उपभोग में मन का पूर्ण सहयोग रहता है। कोई भी इन्द्रिय बिना मन के किसी भी विषय का चिंतन नहीं कर सकती है। जैसे हम आंख से किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो मन वहां पर तत्काल पहुंच जाता है और उस सुन्दर वस्तु को देखने में आंख का सहयोग करता है। सुन्दर वस्तु को आंख देख सकती है, परन्तु उस व्यक्ति के गुण दोष के सम्बंध में विचार नहीं कर सकती। सुन्दर वस्तुओं को देखकर उसकी सुन्दरता से मुग्ध होकर हम उसे प्राप्त करने की कामना करते हैं। यह कामना आंख नहीं कर सकती है। यह कार्य मन का है। मन उस वस्तु की प्राप्ति पर विचार करता है और बुद्धि उसका विनिश्चय कर डालती है। यह प्रत्येक प्रक्रिया इन्द्रिय विषय के बारे में चलती रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय विषय अपने विषय को मन के आसरे से भोगता है। जीभ सुस्वाद भोजन को ग्रहण करती है और उस सुस्वाद भोजन के रस को जानने के लिए मन का आश्रय लिया जाता है। इस कारण विषय भोग में मन का विशिष्ट योगदान है।

मन एक विशिष्ट शक्ति वाला तत्त्व है। वह इन्द्रियों के आश्रय के बिना भी विषयों का उपभोग मानसिक रूप से कर सकता है। मन को यह विशिष्ट शक्ति प्रकृति के द्वारा प्राप्त हुई है। मन भोगे गए विषयों को तथा काल्पनिक विषयों को भी मानसिक रूप से भोग सकता है। अर्थात् उस पर विचार कर सकता है। यह उसकी विशेष शक्ति है। हम जब कहीं अकेले अथवा एकान्त में होते हैं तो अतीत के विषय में अधिकांश मन का विचार चला करता है। अर्थात् मन विचार किया करता है। कुछ साधक इन्द्रियों को उनके विषयों से हठपूर्वक रोकते हैं। जैसे वह सुन्दर वस्तु को देखना नहीं चाहते हैं। सुस्वादु भोजन तो ग्रहण भी नहीं करना चाहते। मधुर शब्दों को सुनने की इच्छा नहीं रखतें आदि आदि। परन्तु मन से उसके बारे में विचार करते रहते हैं। इसका कारण एक ही है कि विषयों के बारे में वे संवेदनशील रहते हैं। इन्द्रियों को तो प्रतिबंधित कर लेते हैं परन्तु मन को मन से भोगे गए विषयों के चिंतन से रोक नहीं पातें। यह स्थिति उचित नहीं है।

साधक यदि मन से इन्द्रिय विषयों का चिंतन समाप्त कर दे तो इन्द्रियां स्वतः ही अपने विषयों से निवृत हो जाती हैं। मन के सहयोग न करने से उनकी विषयों में स्थिति उदासीनवत् हो जाती है। इस कारण मन से इन्द्रिय विषयों के चिंतन को रोकना चाहिए। मन किसी भी इन्द्रिय विषय के चिंतन का जब प्रयास करता है तो बुद्धि इस प्रयास को जान लेती है और बुद्धि उस प्रयास को समाप्त कर सकती है परन्तु यदि प्राथमिक स्तर पर

मन ही विषयों का विचारण न करें तो इन्द्रिय विषयों का विचारण समूल नष्ट हो जाता है। यह स्थिति अत्यंत श्रेष्ठ है। अति उत्तम है। इस कारण साधक को मन से इन्द्रिय विषयों को त्याग कर इन्द्रियों विषयों से निवृत हो जाना चाहिए।

(ञ) मनुष्य का अधिकार कर्मों में है कर्मों के परिणाम में नहीं है :–

परमात्मा ने मनुष्य को कर्मों का अधिकार प्रदान किया है। अर्थात् मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। वह इस कारण शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संपादन कर सकता है। क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए? उसका ज्ञान मनुष्य को आवश्यक तथा अनिवार्य रूप से होना चाहिए, क्योंकि यदि मनुष्य को उसका ज्ञान नहीं होगा तो शुभ और अशुभ में विभेद नहीं स्थापित कर सकेगा तथा ऐसी स्थिति में स्वेच्छाचारी आचरण करेगा। यह स्थिति आज सामान्य रूप से सर्वत्र व्याप्त है। आज मनुष्य अशुभ तथा शुभ कर्मों में अंतर को भूल गया है तथा स्वेच्छाचारिता से अर्थात् मनमाने ढंग से कार्य कर रहा है। यह परमात्मा द्वारा प्रदत्त कर्म के अधिकार का दुरुपयोग है।

परमात्मा ने मनुष्य को जो कर्म करने का अधिकार दिया है उस अधिकार से मनुष्य यदि चाहें तो देवता के समान हो सकता है और उस कर्म के अधिकार का दुरुपयोग करके असुर के समान भी हो सकता है। आपने देखा होगा कि जगत में अनेक व्यक्तियों की पूजा–उपासना और सम्मान होता है तथा अनेक घृणा के पात्र हो जाते हैं। जिनकी पूजा तथा सम्मान होता है उन्होंने परमात्मा द्वारा प्रदत्त कर्म के अधिकार का सदुपयोग किया और जिन लोगों को घृणा के भाव से देखा जाता है उन लोगों ने परमात्मा द्वारा प्रदान किए गए कर्म के अधिकार का दुरुपयोग किया है। इस प्रकार मनुष्य के लिए कर्मों के दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही परिस्थितियां उपलब्ध हैं।

मनुष्य जो भी कर्म करता है उसका अंकन होता जाता है। मनुष्य का यह प्रयास रहता है कि वह कर्म करके उसका उचित परिणाम स्वतः ही प्राप्त कर ले, परंतु उसे अपने कर्मों का उचित परिणाम प्राप्त नहीं होता है, जैसे कि वह अपेक्षा करता है। इसका एक ही कारण है कि मनुष्य का कर्मफल में कोई अधिकार नहीं है। मात्र कर्मों में अधिकार है। हम जो भी कर रहे हैं, कर चुके हैं उसके परिणाम पर अवश्य ही पूर्व में विचार कर लेते हैं परंतु जैसा विचार करते हैं वैसा परिणाम हमें प्राप्त नहीं होता है। इसका एक ही कारण है कि मनुष्य को कर्मफल का अधिकार नहीं है। कर्मफल का अधिकार परमात्मा ने अपने पास रख लिया है। इस कारण मनुष्य को वांछित फल प्राप्त नहीं हो पाता है। यदि मनुष्य को कर्मों के फल का अधिकार होता तो वह अपने कर्मों के फल को स्वतः प्राप्त कर लेता। जो

शक्तिशाली तथा सत्ता संपन्न लोग होते हैं वे निर्बल और असहाय लोगों को अवश्य पीड़ित करते हैं परंतु शक्तिशाली मनुष्यों द्वारा जो उत्पीड़न का अवैधानिक कर्म किया जाता है उसका फल परमात्मा के द्वारा उन्हें अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य का अधिकार कर्मों में है। कर्मों के परिणाम में उसका अधिकार नहीं है। कर्मों के परिणाम का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है।

(ट) कर्मों में संकल्प, कामना तथा फलासक्ति का त्याग करें–

मन की वृत्ति संकल्प कही जाती है। मन निरंतर किसी न किसी कार्य के विषय में विचार करता रहता है। यह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। प्रातः सोकर जागने के पश्चात् और सोने के पूर्व मन के विचार का कार्य समाप्त नहीं होता है। निरंतर चलता रहता है। यहां तक कि स्वप्नावस्था में भी मन का विचार चलता है। मन यह विचार करता है कि हमें यह कार्य करना है। यह कार्य नहीं करना है। इस प्रकार समस्त प्रकार के कर्म करने के विचार को ही संकल्प कहते हैं। यह संकल्प रूपी क्रिया सदैव चलती रहती है। मन में शुभ तथा अशुभ, करने योग्य, न करने योग्य विचारों का निरंतर आवागमन रहता है। इसी को संकल्प कहते हैं। जिसके अधीन रहकर ही मनुष्य कार्य करता है। मन जैसा विचार करता है शरीर के द्वारा वैसी ही क्रियाएं होती हैं। यह स्वाभाविक वृत्ति है। अर्थात हम मन के संकल्प के सहारे ही अनेक प्रकार के कर्म करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कामनाऐं ही कामनाएं होती हैं। अधिकांश मनुष्य कामनाओं में ही जीते हैं। जो मनुष्य जिस स्तर का होता है उसकी कामनाऐं भी उसी स्तर की होती हैं। कामनाओं का विचारण स्तर आवश्यकताओं पर आधारित होता है। एक छोटा बालक भी अनेक प्रकार की कामनाऐं करता है। उसे भांति–भांति के खिलौने आवश्यक लगते हैं। इस कारण वह जिस किसी खिलौने को देखता है उसे प्राप्त करना चाहता है। बालक की यह इच्छा उन खिलौने के प्रति आसक्ति के कारण होती है। बालक को खिलौनों में अच्छापन लगता है, प्रतीत होता है। इसी कारण वह खिलौनों की मांग करता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था से मनुष्य जैसे जैसे आगे बढ़ता हैं उसे अपनी आयु की आवश्यकताओं के अनुसार ही वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति होती है। इस कारण वह भांति–भांति की कामनाऐं करता है। समाज में उसे जो वस्तुऐं प्रतीत होती हैं और उनमें उसे प्रियता की प्रतीति होती है तो वह उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए भांति–भांति की कामनाऐं करता है। यदि प्रतीत होने वाली वस्तुओं में प्रियता का आभास न हो तो उन वस्तुओं की प्राप्ति की कामना भी समाप्त हो जाए। इसलिए कामनाओं का आधार उन

वस्तुओं के प्रति प्रियता के आधार पर होता है। प्रियता से आवश्यकता की अनुभूति होती है और यह अनुभूति ही अनेक प्रकार की कामनाओं में परिवर्तित हो जाती है।

हम सब कर्म करते हैं और कर्म करने के पूर्व ही उसके परिणाम के विषय में विचार कर लेते हैं। यह विचार लगभग सभी सामान्य व्यक्ति करते हैं। जैसे हम जब कोई व्यवसाय करते हैं तो व्यवसाय करने के पूर्व उसमें धन के निवेश, निवेश के प्रकार, प्रक्रिया के साथ लाभ पर भी पहले ही विचार कर लेते हैं। व्यवसाय आरंभ करने के पूर्व लाभ पर विचार करना ही फल पर विचार करना है। यह विचार साधारणतयः रहता है। प्रत्येक व्यक्ति इस लाभ के विचार से अवमुक्त नहीं हो पाता है। इसी को आध्यात्म की भाषा में फल की आसक्ति कहते हैं। कार्य करें और उसके लाभ पर विचार न करें यह कार्य कठिन प्रतीत होता है। अर्थात् फलासक्ति का अभाव अत्यंत दुस्तर है।

हमें कर्तव्य कर्मों का आचरण करना चाहिए। उसके लिए विचार करना पड़े तो अवश्य करें, परंतु अकर्तव्य कर्मों के बारे में विचार न करें। अकर्तव्य कर्मों के बारे में विचार करना ही संकल्प का विकृत स्वरूप है। इसका त्याग करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अकर्तव्य कर्मों के विचार से अर्थात् विकृत संकल्पों से वैसी ही क्रियाऐं स्वतः ही संपादित होती है, इस कारण विकृत संकल्पों का परित्याग आवश्यक है। समाज में जो कुछ है वह अधिकांश लुभावना है। उस लुभावने में हमें अच्छापन का आभास दिखता है, इस कारण हम अनेक प्रकार की कामनाऐं करते हैं। यह कामनाऐं हमें अपना लुभावना पक्ष दिखाकर अपने में फंसाती हैं। यदि हम अनावश्यक कामनाओं का त्याग कर दें तो जो आसक्ति है जिसमें मनुष्य फंसता है वह समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार कर्म के आचरण से फल की प्राप्ति अवश्य होती है। यह दृढ़ तथा निश्चित नियम है। फल की आसक्ति से कदापि नहीं होती है। इस कारण फल की इच्छा का त्याग अर्थात् फलासक्ति का त्याग आवश्यक है। इसलिए हमें कर्मों के संकल्प का, कामनाओं का, फलासक्ति का त्याग कर देना चाहिए।

32– कार्य की सिद्धि के पांच कारण–

संसार में मनुष्य शुभ, अशुभ, शुभाशुभ कर्म करता है। प्रत्येक मनुष्य इन तीन प्रकार के कर्मों में एक प्रकार का कर्म अवश्य करता है, परंतु अधिकांश मनुष्य यह नहीं जानते कि कर्मों की सिद्धि के हेतु क्या हैं? अर्थात् वे क्या कारण हैं? जिनसे कार्य की सफलता होती है अथवा असफलता होती है। इस तथ्य को भगवद्गीता ने स्पष्ट किया है और कार्य सिद्धि के पांच कारण बताए हैं। अर्थात् कोई भी कार्य तब तक सफल नहीं होता जब तक निम्न पांच कारण नहीं होते हैं। कर्म की सिद्धि के इन पांच हेतुओं को सहजतापूर्वक समझिए–

(क) अधिष्ठान– इस संपूर्ण शरीर को जो हमें प्रतीत होता है उसे स्थूल कहते हैं। इस शरीर को अधिष्ठान कहते हैं। जैसे किसी अधिष्ठान के अनेक भाग होते हैं और प्रत्येक भाग मिलकर उस अधिष्ठान का रूप ले लेते हैं। इसी प्रकार इस शरीर के अनेक भाग हैं। जैसे हाथ–पैर, उदर, वक्षस्थल, मस्तक आदि। ये समस्त भाग ही अधिष्ठान के रूप में कहा जाता है। इस प्रकार ये समस्त शरीर प्रत्येक कार्य में लगा रहता है। इसलिए प्रत्येक कार्य में शरीर की भूमिका सक्रिय रहती है। इस तथ्य को सहजतापूर्वक इस प्रकार भी समझ सकते हैं यदि शरीर ही न होता तो अनेक प्रकार के कर्मों का संपादन किस प्रकार हो सकता था? अर्थात् नहीं हो सकता था। इसलिए कर्मों के संपादन और उनकी सिद्धि और असिद्धि में यह शरीर ही अधिष्ठान के रूप में है जिसके द्वारा नाना प्रकार के संसारिक कर्मों का क्रियान्वयन किया जाता है। इसलिए कर्म की सिद्धि के पांच कारणों में पहला कारण अधिष्ठान अर्थात् यह मानव शरीर है।

(ख) कर्ता– प्रत्येक संसारिक क्रिया का संपादन कर्ता के द्वारा ही होता है। अर्थात् कर्ता पहले है और क्रिया पश्चात में है। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए कर्ता भी एक कारण माना जाता है। यदि कर्ता कोई क्रिया नहीं करेगा तो कार्य का संपादन ही नहीं होगा। इसलिए कार्य की सिद्धि में कर्ता को भी एक कारण माना जाता है। मनुष्य प्रत्येक क्रिया का कर्ता है। यदि मनुष्य क्रियाओं का संपादन न करे तो कार्य नहीं होगा। जैसे हम सब यह कहते हैं कि मैने अमुक कार्य किया है। यदि मैने अमुक कार्य न किया होता तो यह भाव मन में कदापि नहीं आ सकता है कि मैने अमुक कार्य किया है। इस भाव के आ जाने से प्रत्येक कार्य में यह विचार प्रकट हो जाने से ही कर्ता का अस्तित्त्व प्रतीत होता है। वैसे इस भाव का कारण अहंकार है परंतु उस विषय पर इस प्रकरण में विचार नहीं हो रहा है। हम मात्र कार्य के हेतुओं पर विचार कर रहे हैं। इस प्रकार किसी भी कार्य की सिद्धि के पांच कारणों में दूसरा कारण कर्ता भी है।

(ग) करण– अंग्रेजी भाषा में एक शब्द है Device। जिसका अर्थ है किसी विशिष्ट कार्य के प्रयोजन हेतु निमित्त वस्तु अथवा यंत्र। परमात्मा ने हमारे शरीर में तेरह करण उपलब्ध कराए हैं जिनके माध्यम से मनुष्य कर्मों का संपादन करता है। इन तेरह करणों का उल्लेख पूर्व में भी हो चुका है। मनुष्य के समस्त कर्म इन्हीं तेरह करणों के माध्यम से संपन्न होते हैं। यह तेरह करण हैं 1–वाक् 2–हस्त, 3–पाद्, 4–उपस्थ, 5–पायु, 6–कर्ण, 7–नेत्र, 8–जिह्वा, 9–त्वचा, 10–नासिका, 11–मन, 12–बुद्धि, 13–अहंकार। इनमें पहले दस करण व्यक्त रहते हैं अर्थात् प्रतीत होते हैं। इसलिए इन्हें बाह्यकरण कहा जाता है। और शेष

तीन करण मन, बुद्धि और अहंकार अव्यक्त रहकर भी व्यक्त की तरह से ही कार्य करते हैं, इसलिए इनको अंतःकरण कहा जाता है। मनुष्य जितने भी प्रकार के कार्य करता है वे सब इन्हीं करणों के द्वारा ही संपादित होते हैं। यह तेरह करण किसी भी कार्य की सिद्धि के पांच करणों में एक करण माने जाते हैं। इसलिए कार्य की सिद्धि में तीसरा कारण करण है।

(घ) पृथक् चेष्टा– प्रत्येक करण में गति होने से कार्य होता है। जैसे पैरों में गति होने से पैररूपी करण कार्य करता है। यह पैरों की चेष्टा है। इसी प्रकार प्रत्येक करण चेष्टा करता है। पृथक्–पृथक् चेष्टा का यही अर्थ है। वाक्रूपी करण से बोलने का कार्य होता है। यह वाक् की चेष्टा है। हाथरूपी करण से वस्तुओं को ग्रहण किया जाता है। यह हाथ की चेष्टा है। पादरूपी करण से चलने की क्रिया होती है। यह पाद की चेष्टा है। इसी प्रकार नेत्र, कर्ण, जिह्वा, त्वचा, नासिका से भी पृथक्–पृथक् प्रकार की चेष्टाऐं होती हैं जिन्हें सुनना, देखना, रस लेना, स्पर्श का बोध होना तथा गंध लेना कहा जाता है। यह बाह्य करण की चेष्टाऐं हैं। इसी प्रकार अंतःकरण की भी चेष्टाऐं होती हैं। मन से अनेक प्रकार के संकल्प किए जाते हैं तो यह संकल्प रूपी चेष्टा है। बुद्धि से अनेक प्रकार के विनिश्चय किए जाते हैं इसलिए यह विकल्परूपी चेष्टा है तथा अहंकार से मिथ्याभास होता है इसलिए यह मिथ्याभासरूपी चेष्टा है। इस प्रकार तेरह करणों से जो पृथक्–पृथक् प्रकार के कर्मों का संपादन होता है, उन्हें चेष्टा का ही स्वरूप समझना चाहिए। कार्य की सिद्धि के पांच कारणों में चौथा कारण पृथक्–पृथक् प्रकार की चेष्टाऐं हैं।

(ङ) दैव– किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए पांचवा हेतु दैव कहा जाता है। मनीषियों ने अपने–अपने विचारों से दैव शब्द की अनेक प्रकार की शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्याऐं की हैं। यहां पर दैव शब्द समझने के लिए हम अत्यंत सरल भाव प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रत्येक कार्य चाहें वह शास्त्रसम्मत हो अथवा शास्त्र के प्रतिकूल हो, वह सिद्ध होगा अथवा नहीं। यह परमात्मा की कर्म व्यवस्था में विनिश्चित किया जाता है। विशेषतया कर्म दो ही प्रकार के होते हैं। एक शास्त्रसम्मत कर्म और दूसरे शास्त्र के प्रतिकूल कर्म। जैसे एक चोर चोरी करना चाहता है। वह रात्रि के समय अपने साथियों के साथ चोरी के लिए आवश्यक उपकरण लेकर निकलता है। जिस स्थान पर चोरी होनी है उस स्थान तक जाता है परंतु उस घर के लोग जग जाते हैं और चोर बिना चोरी किए हुए लौट आते हैं तो सभी प्रयास हुए पर दैव शब्द ने उस कार्य को नहीं होने दिया। इसके प्रतिकूल कोई चोरी वाले घर में सब लोग सो रहे हैं और यह वातावरण भी चोरी के अनुकूल है। उस घर में चोरों ने आराम से घर में चोरी की तब उस कार्य में दैव का अर्थात् पूर्व विनिश्चिय का तथ्य था

इस प्रकार कार्य की सिद्धि में यह एक सामान्य उदाहरण है परंतु दैव बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है। हम कभी–कभी प्रयास करते हैं और कार्य नहीं होता है और कभी प्रयास न करने पर भी कार्य हो जाता है। यह सब का सब दैव ही है। इस कारण कार्य की सिद्धि में जो पांचवा कारण है वह दैव है, जिसे परमात्मा की व्यवस्था का रूप समझना चाहिए जिसके कारण ही कार्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार कार्य की सिद्धि के उक्त पांच कारण हैं जिसमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, पृथक् चेष्टा तथा दैव कहा जाता है।

33– परमात्मा पांच कार्य नहीं करता है :–

मनुष्य जो भी कार्य करता है उसकी सिद्धि के पांच हेतु पूर्व में कहे गए हैं। इसी प्रकार परमात्मा पांच तथ्यों को ग्रहण नहीं करता है और उदासीनवत् भाव से उपस्थित रहता है। मनुष्य शरीर में तथा प्राणिमात्र के शरीर में उसकी नित्य उपस्थिति रहती है। परंतु परमात्मा मानव शरीर में नित्य शरीर में उपस्थित रहते हुए भी पूर्ण उदासीनवत् भाव से स्थित रहकर मानव द्वारा संपादित किए गए कर्मों को देखता रहता है। यह एक अत्यंत आश्चर्यजनक तथ्य है। शास्त्रों ने यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा की उदासीनता अत्यंत विशिष्ट है। इसलिए वह पांच तथ्यों को ग्रहण नहीं करता है। यह विशेष बात है कि हम किसी स्थान पर यदि उपस्थित रहे तो वहां के वातावरण, परिस्थिति, घटना आदि का हम पर प्रभाव अवश्य पड़ता है परंतु परमात्मा की मानव शरीर में नित्य उपस्थिति होने के बावजूद वह असंख्य मानव की असंख्य क्रियाओं को उदासीनवत् भाव से देखता है जैसा कि एक मनुष्य के लिए कर पाना असंभव है। वे क्या कार्य हैं जिनका ग्रहण परमात्मा नहीं करता है। उसे समझना हमारे लिए अत्यावश्यक और अनिवार्य है–

(क) किसी के शुभ कर्म को ग्रहण नहीं करता–

मनुष्य जो भी शुभ कर्म करता है वह मनुष्य के पक्ष में रहता है। परमात्मा की मानव शरीर में उपस्थित होने पर भी मानव के द्वारा संपादित किए जाने वाले शुभ कर्मों का उससे कोई लेना–देना नहीं होता है। मानव जो कुछ भी शुभ कर्म करता है वह मानव के पक्ष में ही रहते हैं। जैसे खेल में निर्णय करने वाला मनुष्य संपूर्ण खेल को उदासीनवत् भाव से देखता है। चाहें किसी पक्ष की हार हो अथवा जीत हो, उसे हार–जीत से कोई मतलब नहीं होता है। इसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत में संपूर्ण मनुष्यों के कार्यकलापों को उदासीनवत् भाव से देखता है और मनुष्य के द्वारा जो भी शुभ कर्म किए जाते हैं, वे उस मनुष्य के पुण्यरूपी खाते में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा मनुष्य के द्वारा संपादित किए जाने वाले शुभ कर्मों को ग्रहण नहीं करता।

(ख) किसी के पाप कर्म को भी ग्रहण नहीं करता है–

समाज में आपने अनेक मनुष्य को अनेक प्रकार के अवैधानिक, असमाजिक दुष्कर्मों का संपादन करते हुए देखा होगा। अनेक मनुष्य तमोगुण से आवृत होकर अनेक प्रकार के दुष्कर्म करते रहते हैं जिन्हें पापकर्म भी कहा जाता है। जो मनुष्य जिन पापकर्मों का संपादन करता है वे उसी मनुष्य के खाते में संचित हो जाते हैं। परमात्मा दुष्कर्मी मनुष्य के द्वारा संपादित किए जाने वाले दुष्कर्मों को भी उदासीनवत् भाव से देखता रहता है तथा वह उन पापकर्मों को ग्रहण नहीं करता है जो दुष्कर्मी मनुष्य के द्वार किए जाते हैं। उन दुष्कर्मों का परिणाम भी पाप करने वाले मनुष्यों को ही भुगतना पड़ता है परंतु यदि दुष्कर्मी मनुष्य यह निश्चित कर ले कि भविष्य में हम दुष्कर्मों का संपादन नहीं करेंगे और इसी भाव से परमात्मा के समक्ष अपने दुष्कर्मो का प्रायश्चित कर ले तो उसे पापकर्मों के परिणाम से परमात्मा मुक्त भी कर देता है, परंतु यह स्थिति अत्यंत विलक्षण है और सहजता से प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार परमात्मा किसी भी दुष्कर्मी मनुष्य के द्वारा संपादित किए गए दुष्कर्मों को भी ग्रहण नहीं करता है।

(ग) मनुष्य के कर्तापन को ग्रहण नहीं करता है–

परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धिरूपी तत्त्व प्रदान किया है। परमात्मा की जो अपरा प्रकृति है उसका एक विशिष्ट तत्त्व बुद्धि है। इस बुद्धिरूपी तत्त्व की शक्ति को विवेक कहते हैं। बुद्धि की शक्ति को कार्य के विनिश्चय का अधिकार है। जैसे मनुष्य जब चलता है तो बुद्धि उसके चलने की क्रिया का विनिश्चय करती है। इसी प्रकार मानव शरीर के द्वारा जो भी कार्य होते हैं उन सभी का विनिश्चिय बुद्धि के द्वारा ही होता है। हम यदि कहीं जा रहे हों तो हमें अभीष्ट स्थान तक पहुंचाने में बुद्धि ही सहयोग करती है, परंतु वस्तुतः मनुष्य कोई कार्य नहीं करता है। कार्य प्रकृतिजन्य गुण करते हैं। वैसे मनुष्य कार्य करते हुए प्रतीत होता है, इसलिए वह प्रत्येक क्रिया का कर्ता भी है। मनुष्य जो कुछ भी अच्छे–बुरे कार्य करता है इसलिए उसमें कर्तापन का भाव आ जाता है। वस्तुतः परमात्मा मानव शरीर में स्थित रहता है, इसलिए मनुष्य नाना प्रकार की क्रियाओं को करने में सक्षम हो पाता है, परंतु वह मानव शरीर में स्थित होते हुए भी अपने को कर्ता नहीं मानता। इसलिए परमात्मा कर्तापन के भाव से सदैव मुक्त रहता है। इसी भाव से यह कहा जाता है कि परमात्मा मनुष्य के कर्तापन को ग्रहण नहीं करता है।

(घ) कर्तापन के कार्य की रचना भी नहीं करता :–

कर्तापन के भाव से प्रत्येक मनुष्य जो कुछ भी शुभ और अशुभ कर्म करता है वह अपने विवेक से ही करता है। अपने विवेक से कर्मो का सम्पादन किये जाने के कारण मनुष्य अपने को उन कर्मो का कर्ता मानता है। इस प्रकार विवेक से मनुष्य अनेक प्रकार की सांसारिक चेष्टाऐं किया करता है। उन चेष्टाओं को परमात्मा न तो ग्रहण करता है और न ही उनकी रचना करता है जैसे हम कभी यह विचार करते हैं कि हमारे प्रत्येक कार्य में परमात्मा की प्रेरणा होती है। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त भ्रमपूर्ण है। परमात्मा ने हमें बुद्धि प्रदान की है जिससे हम कर्मो का सम्पादन स्वयं ही करते हैं। शुभ अशुभ जो भी कर्म हम रचते हैं और उनका सम्पादन करते हैं। उनमें परमात्मा की प्रेरणा नहीं होती है वरन् हमारी बुद्धि की प्रेरणा से अनेक प्रकार की चेष्टाऐं मूर्तरूप ले लेती हैं। साधना के उच्च स्तर पर जाकर मनुष्य को परमात्मा की ओर से कुछ विशिष्ट संदेश अवश्य प्राप्त होते हैं। यह स्थिति पृथक् है और विशिष्ट है। इस प्रकार परमात्मा कर्तापन के कार्य की रचना भी नहीं करता है।

(ङ) परमात्मा कर्मफल के संयोग की रचना भी नहीं करता :–

मनुष्य जो भी कर्म करता है उसका परिणाम उसे अवश्यमेव प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि हमारे किसी कर्म का परिणाम हमें प्राप्त न हो। हम जो भी कर्म करते हैं उसका एक निश्चित परिणाम होता है। वह परिणाम क्या होगा ? इसको जाना नहीं जा सकता है। वस्तुतः कर्मो के फल का प्रकटीकरण परमात्मा की व्यवस्था में होता है परन्तु हम जो कर्म करते हैं उसके फल की रचना वह परमात्मा नहीं करता है। यह एक विशिष्ट बात है, विलक्षण तथ्य है कि हमें कर्मफल प्राप्त भी होते हैं और कर्मफल के संयोग परमात्मा के द्वारा रचे नहीं जाते हैं। हमें कर्मो का फल मिलता है परन्तु उनका आधार हमारे कर्म ही हैं। इस कारण यह कहा जाता है कि परमात्मा कर्मफल के संयोग की रचना नहीं करता है। कर्मफल परमात्मा की ओर से आते हैं। वे हमारे कर्मो के आधार पर बनाये जाते है। इसलिए यह कहा जाता है कि कर्मफलों का संयोग है वह परमात्मा के द्वारा रचित नहीं है।

(34) तीन अनिवार्य कर्म–यज्ञ, दान, तपः–

प्रत्येक मनुष्य वह चाहें किसी भी वर्ण और आश्रम में सम्बंधित हो उसके लिए तीन कर्म अनिवार्य हैं, जिनका सम्पादन किया जाना उसका कर्तव्य कर्म है। इन तीन कर्मो को यज्ञ, दान और तप कर्म कहा जाता है। यज्ञरूपी कर्म के दो पृथक् अर्थ हैं। यज्ञ का एक

अर्थ है कर्तव्य कर्म का आचरण करना तथा दूसरा अर्थ है नाना प्रकार के वैदिक और पौराणिक यज्ञों का अनुष्ठान करना। इस कारण मनुष्य अपनी जीविका के उर्पाजन हेतु जो भी शास्त्रसंगत कर्म करता है, व्रत आदि करता है वह सबके सब भी यज्ञ के रूप में ही होते हैं। दान कर्म में मनुष्य अपने शास्त्रसम्मत उपार्जित धन में कुछ अंश को मानव समाज के कल्याणार्थ लगाता है जिससे उसे पुण्यलाभ प्राप्त होता है तथा उसका संकट भी निवारित हो जाता है। तीसरा तप कर्म कहा गया है जो भी मनुष्य के लिए अनिवार्य है। तपरूपी कर्म में विशेष प्रकार से परमात्मा की भक्ति, देवताओं की उपासना तथा स्वयं की शुद्धि के लिए किये जाने वाले कर्म हैं। मनुष्य में अनेक प्रकार के अवगुण स्वतः ही आ जाते हैं, इसलिए उसे अवगुणों के समापन हेतु कुछ क्रियाऐं करनी पड़ती है। इन क्रियाओं को ही तप के रूप में समझना चाहिए। भगवद्गीता में यज्ञ, दान तथा तप कर्मो को विधिवत् रूप से व्याख्यापित किया गया है। यज्ञ के तीन रूप सात्त्विक, राजस और तामस। इसी प्रकार दान और तप के भी तीन रूपों का पृथक्—पृथक् रूप से उल्लेख हुआ है। श्री गीताजी के आधार पर ही यज्ञ, दान, तप के स्वरूप का अवलोकन कीजिए—

(क) यज्ञ तथा यज्ञ के तीन प्रकार :—

जो यज्ञ इस भाव से होता है कि यज्ञ करना हमारे लिए कर्तव्य है जब यह भाव मन में दृढ़ हो जाता है तो इस भाव के क्रियान्वयन के लिए मनुष्य कर्तव्य कर्मो का आचरण भी करता है और शास्त्रीय और वैदिक यज्ञों का सम्पादन भी करता है। कर्तव्य कर्मो के आचरण में तथा शास्त्रीय और वैदिक यज्ञों के सम्पादन में जब फल की इच्छा का परित्याग रहता है तो उन यज्ञों को हमें सात्त्विक यज्ञ समझना चाहिए। सात्त्विक यज्ञ में फल की इच्छा के पूर्ण परित्याग का भाव ही प्रमुख है। जब मनुष्य कर्तव्य कर्म का आचरण अथवा शास्त्रीय और वैदिक यज्ञों का सम्पादन फल की इच्छा को ध्यान में रखकर तथा कामनाओं की पूर्ति के लिए करता है तब उस यज्ञ को राजसी यज्ञ मानना चाहिए। राजसी यज्ञों के सम्पादन में अर्थात् कर्तव्य कर्मो के आचरण और शास्त्रीय तथा वैदिक यज्ञों के सम्पादन में जब कर्म के फल का भाव आ जाता है तो उसका परिणाम भी दंभ के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार कर्मफल के भाव का परिवर्तन दंभाचरण के भाव को प्रकट करता है। यदि हम किसी भी कर्म का सम्पादन अथवा किसी भी यज्ञ का सम्पादन इस भाव से करते हैं कि दूसरों का अहित हो तो इस यज्ञ को तामसी यज्ञ कहा जाता है। इसमें मंत्र, दक्षिणा, प्रक्रिया अर्थात् शास्त्रसम्मत विधि का अभाव रहता है। अनेक प्रकार के तांत्रिक अनुष्ठानों को तामसी यज्ञ के स्वरूप में समझना चाहिए।

(ख) दान तथा दान के तीन प्रकार :–

मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह अन्य असहाय दीन–हीन, निर्बल और निर्धन वर्ग के लोगों की सहायता करे। वर्तमान में अधिकांश मनुष्य स्वयं के लिए अनेक प्रकार की सांसारिक चेष्टाओं से धन का उर्पाजन कर लेते हैं और उनमें यह भाव प्रबल रहता है कि बड़े परिश्रम से हमने धन का उर्पाजन किया है। इस कारण वह धन अपने तथा अपने लोगों के लिए है, अन्य लोगों या समाज के लिए नहीं है। इस कारण उनका विश्वास दान में नहीं रहता है। सात्त्विक गुण के प्रबल हो जाने पर मनुष्य अपने द्वारा शास्त्रसम्मत विधि से उपार्जित किये गए धन के कुछ भाग को लोगों की सहायता के लिए देता है। इसमें पात्र, स्थिति, काल, का ध्यान अवश्य रखा जाता है तथा फल इच्छा के भाव का भी अभाव रहता है। इस प्रकार मनुष्य के द्वारा जो सहायता की जाती है वह सात्त्विक दान के रूप में परिवर्तित हो जाती है और उसका विशिष्ट परिणाम उसे उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे एक बीज बोने पर पृथ्वी उसे कई गुना करके वापस करती है। जो सहायता मनुष्य कष्ट के साथ करता है अर्थात् मनुष्य में यह भाव रहता है कि हमारे पास वह धन है वह मेरे लिए ही है और आवश्यकता पड़ने पर वह किसी की सहायता प्रतिकार की भावना से करता है तथा उस सहायता में उसे आंतरिक कष्ट का आभास रहता है तो इस प्रकार की सहायता रूपी दान को राजसी दान का स्वरूप समझना चाहिए। इससे एक स्थिति और भी निम्न कही जाती है जिसे तामसी दान के स्वरूप में समझना चाहिए। तामस दान बिना मान सम्मान के अपात्र व्यक्ति को समय और स्थान का विचार किये बिना दिया जाता है। इसलिए यह सहायता का प्रकार तामसी हो जाता है।

(ग) तप और उसके तीन स्वरूप :–

तप प्रमुखता से तीन प्रकार का होता है जिसे शारीरिक तप, वाचिक तप तथा मानसिक तप कहते हैं। शरीर सम्बंधी तप में देवताओं, ब्राह्मणों, तत्त्वदर्शी महापुरूषों, आचार्यो का सम्मान सहित पूजन सम्मिलित है। यदि उक्त पूज्य महानुभावों का मान सम्मान फल की इच्छा का परित्याग करके किया जाए तो इस तप को शारीरिक सात्त्विक तप कहा जाता है। इसी प्रकार तप में बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, सरल भाव का रहना, ब्रह्मचर्य का यथा योग्य पालन करना और अहिंसा का आचरण भी शरीर सम्बंधी तप कहे जाते हैं। वाणी सम्बंधी तप बहुत विशिष्ट प्रकार की स्थिति है जो मनुष्य किसी को भी परेशान न करने वाले वचनों को बोलता है। जैसा सुना देखा है वैसा ही वाणी से प्रकट करता है तथा प्रिय और कल्याणकारक वचन कहता है तो इसे वाचिक अर्थात् वाणी सम्बंधी

तप कहा जाता है। शास्त्रों का निरन्तर पठन–पाठन और उसका वाणी से प्रचार प्रसार भी यदि निस्वार्थ भाव से किया जाए तो यह भी वाणी सम्बंधी तप हो जाता है। वाणी सम्बंधी तप के अनुष्ठान से मनुष्य की वाणी मृदु हो जाती है और उसके विचार दूसरों के हित के लिए प्रकट होते हैं। यदि मनुष्य का मन अनेक प्रकार की तपश्चर्या से सभी प्रकार से प्रसन्न रहे, शान्तिपूर्वक परमात्मा के विषय में चिंतन करे, मन को सांसारिक विषयों से हटाये तथा अपने आंतरिक भावों को अच्छी प्रकार से शुद्ध कर ले तो इस प्रकार के तप को मानसिक तप कहा जाता है। मानसिक तप के सम्पादन से मनुष्य में अशान्ति के भाव का अभाव हो जाता है और प्रसन्नता का स्वतः ही प्रकटीकरण होता है।

उपरोक्त तीन प्रकार के तप के तीन भेद हैं, जिन्हें सात्त्विक, राजस तथा तामस कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों प्रकारों के तप का अनुष्ठान यदि अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर, फल की इच्छा का परित्याग करके किया जाता है तो वह तप सात्त्विक कहा जाता है। यदि मनुष्य अपने मान सम्मान सत्कार, पूजा उपासना के भाव को दृष्टिगत रखकर दंभाचरण के भाव से जो तप करता है उसे राजसी तप मानना चाहिए। जब अनेक प्रकार के अशास्त्रीय तपों का अनुष्ठान होता है जिससे मनुष्य शरीर में स्थित परमात्मा को भी कष्ट हो तो उस तप को तामसी तप मानना चाहिए और इस प्रकार के तपो से मूढ़ता के भाव अपने शरीर में पीड़ा तथा दूसरों के कष्ट देने का उद्देश्य होता है। तामसी तपों में मनुष्य दिखावें के लिए ही तपों का आयोजन करते हैं।

(35) कर्मबंधन चार स्थितियों में नहीं होता है :–

प्रत्येक मनुष्य अनेक प्रकार के सांसारिक कर्म करता है जो भी सांसारिक कर्मफल की आसक्ति को ध्यान में रखकर किये जाते है उनसे ही मनुष्य को बंधन होता है। बंधन होने का भी प्रायः यह है कि वह नाना प्रकार की योनियों में घूमा करता है आज तक हमारे असंख्य जन्म हो चुके हैं उनका कारण हमारे कर्म ही हैं, जो हमें बंधन में रखे हुए हैं और मुक्त नहीं होने देते। हम आज तक मुक्त नहीं हो पाए इसलिए क्योंकि हम पर कर्मबंधन का विषय लागू हैं। श्रीगीताजी में कर्म बंधन किन स्थितियों में नहीं होता है इसकी बहुत विषद् व्याख्या की, उनमें से चार स्थितियों का वर्णन इस स्थल पर प्रसंगवश किया जा रहा है।

(क) यदृच्छालाभसन्तुष्टः :–

मनुष्य यदि शास्त्रसम्मत कर्तव्य कर्मो के आचरण से प्राप्त धन से संतुष्ट रहता है तो उसे **यदृच्छालाभसन्तुष्ट**ः की स्थिति में होना कहा जाता है। इस कथन का अर्थ है कि हमें

जो कुछ प्राप्त है उसमें हम संतुष्ट रहें। मनुष्य को जो कुछ भी प्राप्त है उसमें यदि वह संतुष्ट हो जाए तो उसे कर्म बंधन कदापि नही होता है। अधिकांश मनुष्य ऐसी स्थिति प्राप्त नही कर पाते हैं कि हमें जो कुछ मिला हुआ है वह हमारी स्थिति के अनुकूल नहीं है यह भावना प्रबल रहती है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्य अपनी स्थिति से तथा प्राप्त वस्तुओं से संतुष्ट नही रहते हैं।

इस तथ्य में एक तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि हम जो भी कुछ कर्म करते हैं उसका परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार परिणाम अवश्य ही प्राप्त होता है। इस कारण हमारी जो स्थिति है हमारी अपनी बनायी हुई है। किसी अन्य की बनाई हुई नहीं है। परमात्मा किसी की स्थिति नहीं बनाता है मनुष्य अपनी स्थिति स्वयं बनाता है। इसलिए अपनी स्थिति के लिए हमें स्वयं को उत्तरदायी समझ कर जो कुछ भी प्राप्त है उससे सदैव संतुष्ट रहना चाहिए। हम जब प्राप्त वस्तुओं और स्थितियों में संतुष्ट नहीं होते हैं तो अपनी स्थितियों को अनुकूल करने के लिए और आप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की अवैधानिक सांसारिक चेष्टाएं करने का प्रयास करते हैं, जिससे मनुष्य को कर्मबंधन हो जाता है। इसलिए हमें हमारी स्थिति के अनुसार जो कुछ भी प्राप्त हो गया है उसे परमात्मा की व्यवस्था मानकर उसमें संतुष्ट रहने का प्रयास करना चाहिए तथा अपनी स्थिति के सुधार के लिए नैतिक और शास्त्रसम्मत आचरण करने हेतु उद्वत होना चाहिए। जब हम अपनी स्थिति से संतुष्ट हो जायेंगे तब हमें कर्म बंधन नहीं होगा।

(ख) द्वन्द्वातीतः :—

यह सामान्य बात है कि दुःखों के आने पर हमें शोक का आभास होता है। यह शोक का आभास प्रतिकूलताओं के कारण होता है। इस तथ्य के विपरीत जब हमें सुख प्राप्त होता है तो हम अपनी स्थिति को अनुकूल मान लेते हैं और प्रसन्न रहते हैं। सुख में हमें संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए क्रिया करनी पड़ती है और दुख में उन परिस्थितियों को परिवर्तित करने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाओं का सम्पादन हमें करना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य के मन में सुख और दुःख दोनों के कारण एक द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में हम एकसमान भाव से रहें तथा अनुकूल स्थितियों के आने पर हममें प्रसन्नता का भाव प्रकट न हो तो ऐसी स्थिति को द्वंद्व से अतीत स्थिति कहा जाता है। यह स्थिति अत्यंत कठिनता से प्राप्त होती है तथा यदि प्राप्त हो जाती है तो कर्मबंधन नहीं होता है। यह एक निश्चित नियम है कि प्रत्येक मनुष्य को सुख और दुःख उसके कर्मो के फल स्वरूप प्राप्त होता है। कोई भी मनुष्य न तो हमें सुखी कर

सकता है न ही हमें दुःखी कर सकता है। हमारे अपने स्वयं के कर्म ही हमारे सुख दुःख का प्रमुख हेतु है। इसलिए मनुष्य को सुख दुःखादिक द्वंद्वों से मुक्त हो जाना चाहिए। यह स्थिति प्राप्त हो जाने पर हम कर्मबंधन से मुक्त हो जाते हैं।

(ग) विमत्सरः :—

मनुष्य के द्वारा अधिकांश अवैधानिक कर्म ईर्ष्या के भाव से होते हैं। हम जब कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष करते हैं तो उसके अहित का विचार रखते हैं। यह विचार हमें उस व्यक्ति के अहित के लिए प्रेरित करता है। जब यह प्रेरणा बहुत दृढ़ हो जाती है तो मनुष्य दूसरों के अहित के विचार को क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। अर्थात् ईर्ष्यावश बहुत से ऐसे कार्य हो जाते हैं जिन्हें पाप कर्मो की श्रेणी में रख सकते हैं। वस्तुतः ईर्ष्यारूपी जो दोष है वह मनुष्य के लिए बहुत घातक है, क्योंकि ईष्यारूपी दोष से मनुष्य के अंतःकरण में एक प्रकार की अग्नि प्रकट हो जाती है जो स्वयं को ही जलाती है। ईर्ष्या द्वेष रूपी अग्नि प्रकट हो जाने पर मनुष्य अपने कल्याण के मार्ग से स्वतः ही गिर जाता है तथा वह दूसरों के अहित के बारे में अधिक विचार करता है जिससे उसे कर्मबंधन हो जाता है। इसलिए हमें कर्मबंधन न हो इसके लिए हमें ईर्ष्या और द्वेष का पूरी तरह से परित्याग कर देना चाहिए।

(घ) समः सिद्धावसिद्धौ :— जो मनुष्य सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखता है वह भी कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है हम जो भी कार्य करते हैं उसके परिणाम के दो ही पक्ष हैं एक परिणाम जिसे सकारात्मक परिणाम कहा जाता है, उसी को सिद्धि के रूप में कहते हैं। दूसरे जो नकारात्मक परिणाम हैं वह असिद्धि के रूप में है। हम जो भी कर्म करते हैं या तो वह सिद्ध होगा अर्थात् फलीभूत होगा अथवा वह सिद्ध नहीं होगा अर्थात् उसका परिणाम हमें प्राप्त नही होगा। हम दैनिक जीवन में इस तथ्य का अनुभव करते हैं कि हमारे द्वारा जो अनेक प्रकार के कर्म होते हैं, उनमें से कुछ सफल होते हैं और अधिकांश असफल रहते हैं।

हमें इस तथ्य पर गहनतापूर्वक विचार करना चाहिए कि परिणाम में सफलता और असफलता क्यों होती है? जबकि हम सभी सफलता की आशा करते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सफलता और असफलता हमारी शक्ति के बाहर की स्थितियां हैं, जिन्हें हम निश्चित रूप से प्राप्त करने में असमर्थ हैं। वस्तुतः सफलता और असफलता हमारे अपने कर्मो के आधार पर ही प्रकट होती है, परन्तु सफल होने पर अर्थात् सिद्ध होने पर हमें प्रसन्नता का आभास होता है और असफल होने पर हमें दुःख का आभास होता है।

यदि हम सफल होने पर सुख का आभास न करें और असफल होने पर दुःख का आभास न करें तो इसे **समःसिद्धावसिद्धौ** की स्थिति माना जाता है। इस स्थिति में मनुष्य को कर्म बंधन नहीं होता, अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार उक्त चार स्थितियों में कर्मबंधन नहीं होता और उक्त चार स्थितियों के प्रतिकूल स्थितियों में कर्मबंधन निश्चित रूप से होता है।

(36) विभिन्न प्रकार के यज्ञ :—

गीता के चौथे अध्याय में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन है जिससे अनेक साधकों द्वारा पृथक्—पृथक् प्रकार की उपासनाओं का तथ्य सहजता से समझ में आ जाता है। वस्तुतः हमारे प्राचीन महार्षियों ने परमात्मा की अनुभूति के अनेक प्रकार के साधनों का उल्लेख अपनी पुस्तकों में किया है। परमात्मा की अनुभूति के अनेक उपाय हैं। सभी शास्त्रों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। जो साधक जिस प्रक्रिया का अनुपालन करता है वह उसी प्रक्रिया की पूर्णतः में परमात्मा की अनुभूति कर लेता है। आज हमारे समक्ष जो अनेक प्रकार के मत सम्प्रदाय आदि प्रतीत हो रहे हैं वे सभी विशिष्ट महापुरूषों के सिद्धान्तों के आधार पर ही बनाये गए हैं। हम वस्तुतः जिस प्रक्रिया का पालन करते हैं उसी प्रक्रिया की विशेषता को स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु परमात्मा की अनुभूति की अनेक प्रक्रियाऐं हैं जिनको समग्रता से वर्णित किया जा पाना असंभव है। श्रीगीताजी में कुछ विशिष्ट प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया हैं उनका अवलोकन कीजिए—

(क) ब्रह्मोपासनारूपी विशिष्ट यज्ञ :—

किसी भी यज्ञ में जो वस्तुऐं विशेषता प्रयुक्त होती है उन्हें अग्नि, आहुति, पात्र, हवि कहा जाता है। हवि अर्थात् यज्ञ के पदार्थ अग्नि को समर्पित किये जाते हैं। वह पात्र भी यज्ञ में सम्मिलित हो जाता है। जब समस्त वस्तुऐं विशिष्ट साधक ब्रह्म के रूप में समझता है अर्थात् अग्नि भी ब्रह्म के रूप में है जिसमें आहुति समर्पित की जाती है। पात्र भी ब्रह्म है जिसके लिए यज्ञ होता है। पदार्थ भी ब्रह्म जो अग्नि को समर्पित किया जाता है और आहुति रूपी क्रिया भी ब्रह्म है। इस प्रकार की अवधारणा कर लेने पर जो यज्ञ होता है उसे ब्रह्मोपासनारूपी यज्ञ कहते है। इस यज्ञ में ब्रह्म की ही सर्वत्र प्रतीत होती है और उसका उद्देश्य भी ब्रह्म की ही प्राप्ति होता है।

यह जगत सम्पूर्णतः से परमात्मा के स्वरूप में है। इस जगत में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। इस समग्र ब्रह्मांड में परमात्मा उसी प्रकार पिरोया हुआ

है जैसे एक धागे में मणियां पिरोयी हुई होती हैं। उसी प्रकार यह समग्र जगत परमात्मा में पिरोया हुआ है। अथवा परमात्मा समग्र जगत में पिरोया हुआ है। इस भाव से जगत की वस्तुएं ब्रह्म के स्वरूप में हैं। जब समस्त वस्तुएं जो ब्रह्म के स्वरूप में हैं तो यज्ञ में जो चार वस्तुएं प्रयुक्त होती हैं वे सबकी सब ब्रह्ममय ही हैं। यज्ञ का पात्र, हवि, अर्पण करने वाला पात्र अग्नि, आहुति रूपी क्रिया सब कुछ ब्रह्म ही है। यह भाव उत्कृष्ट हैं इस भाव से ब्रह्म की उपासना में ब्रह्म ही प्राप्त होता है, क्योंकि उसका अभीष्ट भी ब्रह्म ही है। यह उत्कृष्ट साधक की दृष्टि है। इसे भावना से क्रियान्वित करना पड़ता है और यह भावना अस्तित्त्व में आने पर सर्वत्र ब्रह्म प्रतीत होता है, ऐसे साधक की दृष्टि में ब्रह्म रहता है।

(ख) देवोपासनारूपी यज्ञ :—

परमात्मा ने सृष्टि के समय विभिन्न प्रकार के देवताओं को पृथक्—पृथक् कार्य के लिए नियुक्त किया था। जब सृष्टि रचना आरम्भ हुई तो प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञों सहित सम्पूर्ण प्रजा की रचना की और यह आदेश दिया कि यज्ञरूपी कर्म से मनुष्य मात्र देवताओं को पुष्ट करें और देवता लोग मनुष्यों को बिना याचना के समस्त वांछित वस्तुऐं प्रदान करें। इस सृष्टि क्रम में यह देवयोनि समस्त सृष्टि के लिए सम्मानीय है, क्योंकि वह हमें हमारी वांछित वस्तुऐं प्रदान करती है। इस कारण हम अनेक साधक देवताओं की उपासना करते है। देवपूजन की विधि को समझ कर उसके विधिवत् अनुष्ठान में व्यस्त रहते हैं। देवोपासना का यह कार्य आज विशेष रूप से प्रतीत होता है पर वह अधिकांशतः सकाम भाव लिए हुए है। इसी सकामभाव के कारण ही उसमें विशिष्टता का अभाव है। भगवद् गीता में देवोपासना को निष्काम भाव से अर्थात् फल की इच्छा का परित्याग करके सम्पादित किये जाने का निर्देश हुआ है। जब हम निष्काम भाव से देवताओं की उपासना करते हैं तो यह उपासना हमें परमात्मा की अनुभूति में सहायक होती है और इस प्रकार की देवोपासना को देवोपासना रूपी यज्ञ कहा जाता है।

(ग) ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन :—

इस समग्र जगत में जो भी क्रियाऐं हो रही हैं वह ब्रह्म के निर्देश पर ही हो रही हैं क्योंकि ब्रह्म इस जगत की विशेष सत्ता है। अनेक जीवों की उत्पत्ति, मनुष्य मात्र की उत्पत्ति, वनस्पतियों का प्रकट हो जाना, मौसम का परिवर्तन, वर्षा का होना, जल का बरसना, सूर्य, चन्द्र का गतिमान रहना आदि आदि जो क्रियाऐं हो रही हैं, वह सभी ब्रह्म के निर्देश पर ही होती हैं। जहां जहां तक हम दृष्टि डालते हैं, चारों ओर ब्रह्मस्वरूप अग्नि ही प्रज्ज्वलित हो रही है। जैसे कोई—कोई योगी इस समस्त क्रियाओं को ब्रह्मरूपी अग्नि में

यज्ञ का होना समझते हैं। जो ब्रह्मरूपी अग्नि में क्रियाएं हो रही हैं उन क्रियाओं में जो प्रकृति जैसा कर रही है वे वैसा ही आचरण करने लगते हैं। प्रकृति रूपी यज्ञ ब्रह्म के निर्देश पर होता है। प्रकृति समस्त जीवों के हितार्थ अनेक प्रकार के यज्ञों का सम्पादन करती है। वस्तुतः प्रकृति तो एक साधन रूप में है परन्तु ब्रह्म ही वस्तुतः क्रियाओं का सम्पादन कर रहा है। यह ब्रह्मरूप अग्नि में वृहद् यज्ञ हो रहा है। इसमें कोई कोई योगी अपनी संलिप्तता कर लेता है और ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करता है।

(घ) श्रोत्रादिक समस्त इन्द्रियों का संयमरूप अग्नि में हवन :–

श्रोत्र नामक इन्द्रिय कर्ण अर्थात् कान को कहते हैं। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द है। इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, गंध, क्रमशः नेत्र, जिह्वा और नासिका के विषय हैं। यह समस्त पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और उपरोक्त प्रकार से इनके पांच विषय हैं। समस्त इन्द्रियां अपने विषयों में असंयमित रहती हैं। यह बंधन तथा पाप का कारण है। अर्थात् असंयमन ही पाप का हेतु है और संयमरूपी अग्नि में साधक इन्द्रियों को जब हवन करता है तो उसकी इन्द्रियां संयमित हो जाती हैं। अर्थात् असंयमित नहीं रहती है। संयमरूपी अग्नि प्रतीत तो नहीं होती है परन्तु प्रज्ज्वलित अवश्य होती है। संयमरूपी अग्नि का प्रज्ज्वलित होना प्रतीत नहीं होता, परन्तु इन्द्रियां उस अग्नि के तेज से स्वतः ही संयमित हो जाती हैं। इस प्रकार संयमरूपी अग्नि से समस्त इन्द्रियों का संयमन योगी कर लेते हैं। असंयमित इन्द्रियों से नाना प्रकार के दुष्कर्म होते रहते हैं, जबकि कोई कोई योगी संयमरूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित करके अपनी इन्द्रियों को संयमित करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

(ङ.) शब्दादिक विषयों का इन्द्रिय रूप अग्नि में हवन :–

समस्त विषयों का तथा इन्द्रियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस यज्ञ की विधि में इन्द्रियों को अग्नि रूप माना गया है तथा उनके विषयों को उसमें हवन करने की विधि का वर्णन है। जैसे शब्द विषय कर्ण का है। कर्ण अर्थात् कान नामक इन्द्रिय शब्दरूपी विषय को ग्रहण तो करती है पर उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है और न ही शब्दों के भाव से उसमें आसक्ति प्रकट होती है। इन्द्रिय जिस अपने विषय को ग्रहण करती है उस विषय में आसक्त हो जाती है और आसक्ति से अनेक प्रकार के विचार प्रकट होकर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर देते हैं। जैसे नेत्ररूपी इन्द्रिय अपने विषय रूप को ग्रहण तो करती है पर उस ग्रहण किये गए विषय में विकार उत्पन्न नहीं होता है और न ही दृश्य में आसक्ति होती है। साधरणतयः हम सभी अनेक प्रकार के मनमोहक दृश्यों में आसक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे इन्द्रियां यदि अपने

विषयों को ग्रहण करना ही समाप्त कर दें तो उन उन विषयों से स्वतः निवृत्ति हो जाती है। कई योगी इंद्रियों से विषय ग्रहण नहीं करते हैं और जब इन्द्रियों से विषय ग्रहण नहीं होते हैं, तो उनमें आसक्ति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। ऐसे समस्त इन्द्रियों तथा उनके विषयों के बारे में हमें समझ लेना चाहिए। यही तथ्य शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नि में हवन करना है।

(च) इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को आत्मसंयमरूप अग्नि में हवन करना :–

इन्द्रियों का वर्णन प्रसंगानुसार पूर्व में भी हो चुका है। इस स्थल पर इन्द्रियों तथा उनकी क्रियाओं को पुनः समझ ले ताकि इस प्रकरण को समझने में सहजता हो सकें। पांच कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं में वाक् की क्रिया बोलना है जो मौन रहने पर नहीं होती। हस्त की क्रिया लेना देना है। हाथों को एक स्थान पर एक मुद्रा में रोकने पर रूक जाती हैं। पाद की क्रिया चलना है जो गति के रोकने पर समाप्त हो जाती है। उपस्थ और पायु की क्रियाएं एक समय के पश्चात् होती है और काल के अनुसार रूकी रहती हैं। नेत्र की क्रिया देखना है, जो आंखों के मींच लेने अर्थात् बंद कर लेने पर समाप्त हो जाती है। आंख मन के आश्रय से जो दृश्य देखता है वह भी मन को संयमित कर देने से समाप्त हो जाते हैं। त्वचा की क्रिया स्पर्श को सांसारिक वस्तुओं के संसर्ग से पृथक् कर देने पर त्वचा की क्रिया विराम हो जाता है। नासिका की क्रिया गंध तथा जिह्वा की क्रिया स्वाद को उससे सम्बंधित पदार्थो के संसर्ग से पृथक् कर देने पर उनकी क्रियाएं भी रूक सकती हैं। कर्ण की क्रिया शब्द को शान्ति स्थान में जाकर रोका जा सकता है। इस प्रकार समस्त इन्द्रियों की क्रियाओं का संयमन होता है। प्राणों की क्रियाओं को पूरी तरह से सदैव के लिए संयमित नहीं किया जा सकता है, परन्तु कुछ काल तक रोका जा पाना संभव होता है। साधन काल में इस प्रकार कुछ योगी इन्द्रियों की क्रियाओं को तथा प्राणों की क्रियाओं को रोकते हैं तथा उन्हें संयमरूप अग्नि में हवन करके सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। प्राणों की क्रियाओं को पूरी तरह से रोके जाने पर मृत्यु निश्चित रूप से आ जाती है परन्तु यदि प्राणों की गति को परमात्मा में समर्पित कर दिया जाए तो इसे भी एक प्रकार से प्राणों की क्रियाओं का रोका जाना ही कहा जाएगा। इस कारण इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को संयमित करके, नियंत्रित करके कुछ साधक सिद्ध हो जाते हैं। यह भी यज्ञ का एक प्रकार है जिसमें ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। संयमरूप अग्नि के साधक को विशेष प्रकाश की अनुभूति होती है।

(छ) तीक्ष्णव्रतरूपी यज्ञ :–

पितामह भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा की थी और उन्होने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन भी किया। यह एक प्रकार तीक्ष्णव्रतरूपी यज्ञ है। यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है तीक्ष्णव्रत उसे कहा जाता है, जिसे साधारणतया अनुपालित किया जा पाना संभव नहीं होता है। जैसे कोई साधक क्रोध न करने का व्रत ले लेता है। क्रोध न करना, क्रोध का न आना, अंतःकरण में क्रोध का कदापि प्रादुर्भाव न होना एक तीक्ष्णव्रत का स्वरूप है। तीक्ष्णव्रत के साधक में अन्य अनेक प्रकार के गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते है, ऐसे ही अहिंसा का पालन करना। अपरिग्रह, आस्तेय आदि व्रतों का पालन भी विशिष्ट प्रकार का पालन है। स्पृहारहित होना, ममतारहित होना, अहंकाररहित होना यह सबके सब तीक्ष्णव्रत हैं जो सामान्य रूप से अनुपालित नही किये जा सकते। जिस व्रत का अनुष्ठान योगी करता है तो उस व्रत के विषय में बहुत गहनता से विचार करना पड़ता है और विचार के पश्चात् उसे अपने आचरण में उतारना पड़ता है। यदि साधक क्रोध न करने का संकल्प करे तो उसे क्रोध क्यों आता है? इस विषय पर विचार करना पड़ेगा तथा उसकी पूर्ण निवृत्ति कैसे होगी? इस पर भी विचार करना पड़ेगा। तत्पश्चात् उसे आचरण में लाना पड़ेगा। इस प्रकार मौनव्रत आदि भी तीक्ष्णव्रत हैं। श्रीगीताजी ने तीक्ष्णव्रतरूपी यज्ञ को भी एक विशिष्ट यज्ञ माना है।

(ज) द्रव्य यज्ञ :–

संसार में जितनी वस्तुऐं परमात्मा के द्वारा निर्मित है वे अधिकांशतः मनुष्य के उपयोग के लिए बनायी गई हैं। मनुष्य उनका किसी न किसी प्रकार किसी न किसी रूप में उपयोग अवश्य करता है। मनुष्य की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वह अपने तथा अपने सम्पर्कित लोगों के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाऐं करता है। उसका एक ही कारण और उद्देश्य होता है कि हमें तथा हमारे सम्पर्कित व्यक्तियों को सुख प्राप्त हो। सामान्य लोग अपने लिए ही भोजन, मकान, वस्त्र, आरामदायक वस्तुओं की व्यवस्था किया करते हैं। यह एक सामान्य प्रक्रिया है जो हमें नित्य प्रति व्यवहार में देखने को मिलती है। वस्तुतः यह एक संकुचित विचार है, जिस पर हमें गहनता से विचार करना चाहिए।

हमारे मन में क्या कभी यह विचार आता है? कि हम जो भोजन, वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था अपने लिए करते हैं क्या वह समाज के अन्य लोगों के लिए भी कर सकते हैं? गरीबों, असहायो को भोजन मिले, वस्त्र प्राप्त हो उनके आवास की व्यवस्था हो ऐसा विचार रखना और विशिष्ट कर्म करना ही द्रव्ययज्ञ कहलाता है। प्राचीनकाल में राजा महराजा धनी

लोग समाज के लिए ऐसी व्यवस्था करते थे, जिससे समाज का हित होता था वैसी ही व्यवस्था समाज के लिए करना हम सभी का कर्तव्य है। बहुत से साधक निस्वार्थ भाव से समाज के सभी लोगों के लिए विशेष कर जिन्हें आवश्यकता है उनकी भलाई के लिए अपना जीवन अर्पित किये रहते हैं। उनके पास जो भी होता है अथवा उन्हें जो भी परमात्मा की व्यवस्था में प्राप्त हो जाता है वह सबका सब समाज के लिए समर्पित कर देते हैं। एक उत्कृष्ट भाव है जो द्रव्ययज्ञ के रूप में प्रकट होता है। इसी को द्रव्ययज्ञ का स्वरूप समझना चाहिए।

(झ) तपोयज्ञ :—तप के तीन प्रकारों का वर्णन पूर्व में हो चुका है। इन तपों को मानसिक तप, वाचिक तप और कायिक तप के रूप में जाना जाता है। इन तपों के सम्बंध में हम जब विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि तप का अभिप्राय परमात्मा के संदर्भ में मानसिक रूप से चिंतन, वाचिक रूप से स्मरण और शरीर से परमात्मा के लिए ही कार्य करने का विशिष्ट भाव है। हम जब मन से परमात्मा के बारे में विचार करते हैं तथा वाणी से उसके गुणों की व्याख्या करते हैं अथवा जप और कीर्तन आदि करते हैं तो इसे वाचिक तप का रूप समझना चाहिए। इसी प्रकार शरीर समाज की सेवा में परमात्मा की तरह से समर्पित हो जाए तो इसे शारीरिक तप कहा जाता है। यही तप की विशिष्टता है।

तप के अनेक प्रकारों का वर्णन भांति भांति के शास्त्रों में उल्लिखित किया गया है। इस कारण अनेक साधक परमात्मा के विषय में अनेक प्रकार से विचार करते रहते हैं। इस क्रिया को विशिष्ट तप की संज्ञा दी जाती है। तप का वास्तविक स्वरूप यही है कि हम अनेक प्रकार से जैसे भी हो सके परमात्मा के सम्बंध में चिंतन करें इसी तथ्य को तप का उत्कृष्ट स्वरूप समझना चाहिए। प्राचीनकाल में अनेक साधुजन जंगलों में परमात्मा के नाम स्मरण हेतु जाते थे। उनका एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति करना होता था। इसे भी हम तप के स्वरूप में ही समझते हैं। अमुक व्यक्ति जंगल क्यों गया? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जाता था वह तपश्चर्या करने गया। संसार की अनेक क्रियाओं का परित्याग करके परमात्मा के प्रति समर्पित भाव से क्रियाऐं करना ही तप कहा जाता है। इसमें स्मरण, चिंतन, कीर्तन, जप तथा मानव सेवा के कार्य सम्मिलित हैं। इस प्रकार कुछ साधुजन तपोयज्ञ के माध्यम से परमात्मा की अनुभूति करने का प्रयास करते हैं।

(ञ) योगयज्ञ :—

दुःखों के संयोग के वियोग को योग कहते हैं, अर्थात् जहां पर दुःखों का संयोग ही न उपस्थित हो तो यह स्थिति योग कही जाती है। दुःखों का संयोग पाप के भर जाने पर

उपस्थित होता है और हमें अनेक प्रकार से प्रतिकूलताओं की अनुभूति होती है। दुःख आने पर सामान्य व्यक्ति दुःखों का अनुभव करता है, परन्तु जो साधक योगरूपी यज्ञ का आचरण करते हैं वे अपने संचित कर्मो को ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म कर देते हैं, जिससे दुःखों का संयोग ही नहीं होता। कतिपय कारणों से प्रतिकूलताओं के उपस्थित होने पर योगी उन प्रतिकूलताओं का आभास ही नहीं करता। यह भी दुःखों के संयोग के वियोग की विशिष्ट स्थिति है। हम जब दुःखों के आने पर उनको उपेक्षित भाव से लेते हैं, अनुभव करते हैं तो भी हमें दुःखों के संयोग का वियोग रहता है। जैसे शरीर में पीडा होने पर हम दर्द निवारक औषधि लेते हैं तो हमें पीड़ा का आभास नहीं होता है। ऐसी ही स्थिति योगी अपने में प्रकट कर लेता है कि प्रतिकूलताओं के आने पर वह प्रतिकूलताओं का आभास नहीं करता है। इसलिए जब साधक दुःखों के संयोग का वियोगी हो जाता है तो भी वह योगी हो जाता है और यह स्थिति प्राप्त करने के लिए उसे एक मात्र परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण करना पडता है। इस प्रकार अनेक साधक ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अन्य प्रकार के परमात्मा की अनुभूति के साधन को भी योग कहा जाता है। इसलिए परमात्मा की अनुभूति करने की क्रिया को योगयज्ञ कहते हैं।

(ट) स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ :—

वैदिक सनातन धर्म में अध्यात्मिक ग्रंथों का एक विशाल संग्रह है। वैसा विश्व के किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय में नहीं है। हमारे मनीषियों ने अनेक प्रकार के ग्रंथों की रचना की है। पवित्र वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, षड़दर्शन, महाभारत, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथ, अनेक स्मृतियां और संहिताये तथा उन पर लिखे गए भाष्य के रूप में असंख्य अध्यात्मिक ग्रंथ हमारे समक्ष आज उपलब्ध हैं। कोई कोई साधक उक्त आध्यात्मिक ग्रंथों का बहुत परिश्रम से अध्ययन करता है और परमात्मा की अनुभूति के साधन की खोज करता है। अध्यात्मिक ग्रंथों का विशेष प्रकार से अध्ययन करना तथा उसमें परमात्मा की अनुभूति के साधन को खोजना ही स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ है। यह स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ अनेक साधक करते हैं। वर्तमान में जो शिक्षा हम ग्रहण कर रहे हैं वह सांसारिक स्वाध्याय का एक स्वरूप है। इससे संसार की वस्तुऐं और सांसारिक सुखद स्थितियां तो प्राप्त होती हैं परन्तु उससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता है। आज समाज में जो अव्यवस्था और भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है वह इसी कारण हो गया है, क्योंकि हमारी शिक्षा में आध्यात्मिक ग्रंथों का स्वाध्याय समाप्त कर दिया गया है। इसलिए अनेक साधक उक्त आध्यात्मिक ग्रंथों का मनन चिंतन और विधिवत् अध्ययन करते हैं। इसी को स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ कहा जाता है, जिसके परिणाम में हमें परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो जाती है

तथा परमात्मा के बोध का सैद्धान्तिक ज्ञान हो जाता है। यह स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ बहुत ही विशिष्ट प्रकार का यज्ञ है जिसे प्रत्येक साधक को करना चाहिए।

(ठ) प्राणायम रूपी यज्ञ :—

शास्त्रों में प्राणायाम का अर्थात् प्राणों के आयाम का बड़ा महत्व बताया गया है। प्राणायम के अनेक प्रकार हैं। यौगिक व्यायाम में प्राणायाम को विस्तार से क्रियान्वित कराया जाता है। हम सभी का प्राण स्थित नहीं रहता है। सदैव गति करता रहता है। वस्तुतः प्राणवायु के साथ संलग्न होकर निरन्तर गति करता है। उसकी गति को ही जीवन कहा जाता है। यदि प्राण की गति रूक जाए तो जीवन का समापन समझना चाहिए। इस प्रकार प्राण की वृत्ति गति करना है। शरीर चाहें जाग्रत अवस्था में हो, स्वप्नावस्था में हो, अथवा सुषुप्ति काल में हो प्राण सदैव गति करता रहता है, रूकता नहीं है। इसलिए उसका धर्म चलना ही कहा जाता है। प्राण चलता है नासिका से बाहर आता है और पुनः हृदय देश में जाता है। प्राण के बाहर निकलने में प्राणवायु का आश्रय रहता है और प्रवेश करने में अपानवायु का आश्रय रहता है। इसी प्रकार उसकी निरन्तर गति होती रहती है।

प्राणों को रोकने को प्राणों का आयाम होना कहते हैं। अर्थात् प्राणों की गति कुछ समय के लिए रोकने की क्रिया को प्राणों का आयाम कहा जाता है। साधारणतया मनुष्य एक मिनट तक या कुछ अधिक समय तक प्राणों का आयाम कर सकता है। अर्थात् प्राणों की गति को विराम दे सकता है। प्राणों की गति को विराम देने का समय बढ़ाया भी जा सकता है। अभ्यास से इसे लम्बा खींच सकते हैं। प्राणायाम के योगी साधक घंटों तक प्राणों की गति को रोक लेते हैं विराम दे देते हैं। इस दीर्घकालीन प्राणों के आयाम हेतु प्रयास करना पड़ता है। स्वाध्याय से यह संभव हो जाता है। प्राणायाम के तीन प्रकार का वर्णन शास्त्रों में आता है। श्वास को अंदर ले जाना **पूरक** कहा जाता है तथा उसे रोकने को **कुम्भक** कहा जाता है और बाहर निकालने को **रेचक** कहा जाता है। कुम्भक अर्थात् प्राणों की गति को स्थिर कर देने को प्राणायाम की मुख्य क्रिया मानना चाहिए। इसी प्रकार प्राणों के आयाम को प्राणायाम रूपी यज्ञ कहा जाता है। अनेक साधक तत्त्वदर्शन के लिए प्राणायाम का आश्रय लेते हैं। वस्तुतः प्राणों के आयाम से चित्त में स्थिरता आती है। यह व्यवहारिक तथ्य हैं इसे प्रत्येक साधक को करना चाहिए।

प्राणों का सम्बंध मन तथा बुद्धि से विशेष है श्वास की गति के साथ मन और बुद्धि को संलग्न कर देने से शीघ्र ही निंद्रा आ जाती है। जिन महानुभावों को शीघ्र नींद न आती हो वह इस क्रिया को कर सकते हैं। अर्थात् रात्रि में निद्रा न आये तो इसके लिए

प्राणों की गति के साथ मन को संलग्न करने का प्रयास करना चाहिए। इस क्रिया में श्वांस के प्रवाह पर ध्यान लगा दें तथा यह आभास करें कि श्वास में गति हो रही है। नासिका में श्वासों का आवागमन हो रहा है। मन को श्वास की गति पर लगाये रहने से यदि मन सांसारिक विषयों में भागने का प्रयास करता है तो पुनः उसे खींचकर श्वास की स्वाभाविक गति पर स्थापित कर दें। यह क्रिया पुनः पुनः करें। इस स्थिति में सांसारिक विषयों के विस्मरण का प्रयास करें तथा श्वास की गति पर मन को संलग्न करने का अभ्यास करें। इससे कुछ समय के उपरान्त ही गहन निद्रा आ जाती है। इस क्रिया से चंचल मन भी स्थिर हो जाता है।

इस प्रकार भगवद्गीता में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है तथा यह कहा गया है कि ऐसे ही अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन शास्त्रों में विस्तार से हुआ है। वस्तुतः यज्ञ का उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति ही होना चाहिए। सांसारिक पदार्थो की प्राप्ति नहीं होना चाहिए। जिन यज्ञों का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से किया गया है वे अनेक प्रकार के साधकों के द्वारा क्रियान्वित किये जाते हैं और साधक उनसे परमात्मा की अनुभूति का प्रयास करते हैं।

(37) तीन कर्म : संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध :–

शास्त्रों में, कर्मो की व्याख्या में, फल की दृष्टि से तीन प्रकार के कर्मो का उल्लेख किया गया है, जिन्हें संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध कहा जाता है। वस्तुतः हम वर्तमान में जो प्रतीत हो रहे हैं उससे पहले भी अर्थात् जन्म से पूर्व भी हमारे असंख्य जन्म व्यतीत हो चुके हैं। उन असंख्य जन्मों में हमने असंख्य कर्म किये हैं। उन समस्त जन्मों के कर्मो का लेखा जोखा रहता है। यह परमात्मा की विशिष्ट व्यवस्था है। हम जो भी कर्म कर चुके हैं उन सबको अंकित किया जाता है। यह प्रक्रिया किसी बैंक में जमा किये गए धन के विवरण की तरह से है। जैसे हमारा किसी बैंक में दस वर्षो से कोई खाता है तो हमने विगत दस वर्षो में जो कुछ भी जमा किया है अथवा निकाला है वह सब बैंक के खातों में लिखा जाता है। हमे उस धन पर कितना ब्याज प्राप्त हुआ है यह भी उन खातों पर अंकित किया जाता है। उसी प्रकार हमारे जो जन्म पूर्व में हो चुके हैं उनका भी उल्लेख तथा विवरण परमात्मा की व्यवस्था मे उपस्थित है और उसी के अनुसार हमें वर्तमान जन्म प्राप्त होता है, जिससे हमारी वर्तमान स्थिति, कुल, वातावरण, सुख और दुःख की स्थिति मिल जाती है। इस प्रकार आज से अर्थात् वर्तमान से पूर्व जो भी कर्म किये गए हैं उन्हें संचित कर्म कहा जाता है।

इन संचित कर्मों के आधार पर ही हमें परिस्थितियों का संयोग प्राप्त हो जाता है। अर्थात् संचित कर्म परिणाम देने को उन्मुख होते हैं, तो उसे ही प्रारब्ध कर्म करते हैं। हमारे समक्ष आज जो कुछ भी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां हैं वह सब प्रारब्ध के ही कारण हैं। आपने जीवन में अनुभव किया होगा कि कभी हमारी परिस्थितियां अनुकूल हो जाती है और कभी प्रतिकूलता प्रकट करती हैं। यह सब हमारे संचित कर्मों के परिणाम के कारण ही है। इसी को सामान्य भाषा में प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। हम जो भी वर्तमान में कर रहे है अर्थात् हमारे द्वारा जो भी क्रियाऐं सम्पादित हो रही हैं उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्म ही संचित कर्म का रूप लेते जाते हैं और संचित कर्म अपना परिणाम प्रकट करते हैं जिससे हमारा प्रारब्ध बनता है। यह क्रिया लाखों वर्षो से हमारे जन्मों से निरन्तर चल रही है और जब तक हम मुक्त नहीं होंगे, जन्म लेते रहेंगे तब तक यह क्रिया निरन्तर चलती रहेगी।

(38) संचित कर्मों के परिणाम (प्रारब्ध) को सम्यक्रूपेण नहीं जाना जा सकताः–

संचित कर्मों के परिणाम को सम्यक्रूपेण अर्थात् ठीक–ठीक प्रकार से जाना जा पाना असंभव है। यह परमात्मा की विषद्, गूढ़, रहस्यप्रद कर्म व्यवस्था है। जैसे किसान खेत में फसल बोता है तो यह नहीं जानता है कि फसल पैदा होगी, कितनी पैदा होगी? अथवा नहीं होगी। उसी प्रकार हम जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म करते हैं तो उसके परिणाम को जाना जा पाना असंभव है। कौन सा शुभ कर्म हमें कब क्या अनुकूल परिणाम उपस्थित कर देगा यह नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार कौन सा दुष्कर्म हमारे लिए कब और कितनी प्रतिकूलताएं उपस्थित कर देगा? इसको भी जाना जा पाना असंभव है। इसी को परमात्मा की गूढ़ और रहस्यप्रद व्यवस्था कहा जाता है। यह समग्र व्यवस्था परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति के द्वारा सम्पादित की जाती है। यह निश्चित है कि शुभ कर्म का अनुकूल परिणाम अवश्य उत्पन्न होगा और वैसे ही अशुभ कर्म का प्रतिकूल परिणाम निश्चितरूपेण हमें प्राप्त होता है। इस नियम में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इस कारण यदि कोई यह विचार करें कि हम किसी अवैधानिक कर्म को करके उसके परिणाम से बच पायेंगे तो यह असंभव है। नितान्त मिथ्या विचार है।

हम सब जब अनुकूल परिस्थितियों में होते हैं तो यह अनुमान करते हैं कि यह अनुकूल परिस्थितियां हमारे शुभ कर्मो के परिणाम में स्वरूप में हमारे समक्ष प्रकट हुई हैं। वैसे ही जब अनेक प्रकार की प्रतिकूलताऐं हमारे समक्ष प्रकट होती हैं तब यह अनुमान लगाया जाता है कि यह सब हमारे दुष्कर्मो का ही परिणाम है। कभी–कभी अनुकूलता तथा

प्रतिकूलता का मिश्रित स्वरूप भी हमारे समक्ष प्रकट होता है। तब वह हमारे मिश्रित अर्थात् शुभाशुभ कर्मो का परिणाम होता है। परन्तु निश्चितरूपेण यह जाना जा पाना असंभव है कि अमुक प्रतिकूलता या अनुकूलता किन कर्मो के कारण से उपस्थित हुई है। इसीलिए कर्म के परिणाम की व्यवस्था को रहस्यप्रद कहा जाता है। इस कारण यदि हमें अनुकूलता की चाहना हो तो हमें कर्मो के स्वरूप को सही सही जानकर शास्त्रसम्मत कर्मो के क्रियान्वयन का प्रयास करना चाहिए।

इस संसार में जितने भी मनुष्य हैं उन सबके कर्मो का खाता निश्चितरूपेण परमात्मा की व्यवस्था में उपलब्ध है। उस परमात्मा ने हमें बुद्धिरूपी तत्त्व प्रदान किया है जिसकी शक्ति को साधारण भाषा में विवेक कहा जाता है। हम विवेक से शुभ और अशुभ कर्मो में अंतर कर सकते हैं। शुभ का आचरण और अशुभ का परित्याग ही हमारे लिए भविष्य में अनुकूलताऐं उपस्थित करने का एक मात्र साधन है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे समक्ष प्रतिकूलताऐं उपस्थित न हों तो इसका एक ही विकल्प है कि हम पूरी तरह से सजग रहकर शुभ कर्मो का क्रियान्वयन करें और स्वयं को शुद्ध कर लें। शुभ कर्मो के आचरण से हमारे जीवन पथ पर अनेक प्रकार की अनुकूलताऐं उपस्थित हो जाती हैं, इसके लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

जिस प्रकार हमारे राष्ट्र की व्यवस्था के संचालन हेतु संविधान का निर्माण हुआ है उसी प्रकार परमात्मा ने मनुष्यों के आचरण हेतु कर्म व्यवस्था का निर्माण किया है। जैसे संविधान प्रत्येक नागरिक पर लागू होता है। अर्थात् संविधान की धाराओं को मानने के लिए हम सभी बाध्य हैं वैसे ही परमात्मा की कर्म व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य पर लागू होती है। इस व्यवस्था के अनुसार हमारी गतिविधि को सृष्टिकाल से अंकित किया जाता रहा है और इसी अंकन के आधार पर आज तक हमारे असंख्य जन्म हो चुके हैं आज जो वर्तमान स्थिति है वह स्थिति हमारे अपने कर्मो के परिणाम से प्रकट हुई है किसी अन्य के कर्मो के परिणाम से प्रकट नहीं हुई है। जन्म होने के पश्चात् मनुष्य की पूर्व जन्मों की स्मृति नष्ट कर दी जाती है। उसे इस जन्म का ही ज्ञान रहता है। यदि उसे पूर्व जन्मों का ज्ञान रहे तो वह उन्हें देखकर अपनी स्थिति का सहज अनुमान लगा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है। हम जो इस जन्म में वर्तमान को देख रहे हैं तथा पूर्व में व्यतीत हुए को देख रहे हैं उससे ही हम अपनी स्थिति का आंकलन कर लेते हैं, परन्तु इससे भी पूर्व बहुत कुछ है जिसका हमको कोई ज्ञान नहीं है। इस कारण हमारे समक्ष एक ही विकल्प अवशेष रहता है कि हम शुभ कर्मो के आचरण की ओर उन्मुख हो जाऐ।

(39) आत्मरत, आत्मसंतुष्ट, आत्मतृप्त हेतु कर्तव्य कर्म नहीं है :–

मनुष्य साधना से उत्कृष्ट स्थिति जब प्राप्त कर लेता है तो वह तत्त्वदर्शी हो जाता है। तत्त्वदर्शी पुरूष ही आत्मरत होता है। स्वयं में संतुष्ट रहता है और उसमें स्वतृप्ति रहती है। यह स्थिति कैसी है ? जिससे मनुष्य को कर्म के आचरण से अवकाश प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति को समझना अतिआवश्यक है। हम सभी सामान्य मनुष्य संसार में तथा सांसारिक भोगों में अनेक प्रकार की चेष्टाओं में लगे रहते हैं। प्रातः से रात्रि तक सांसारिक चेष्टाएं रहती हैं। मनुष्य सांसारिक चेष्टाओं में इतना रत हो जाता है कि वह समय के चक्र को भूल जाता है। संसार की संलग्नता में ही हम आप सभी बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था का समापन कर देते हैं। यह संसार में रत होने की स्थिति है। संसार में हम रत क्यों रहते हैं? क्योंकि संसार में संसारिक भोगों में हमें तृप्ति और संतुष्टि प्रतीत होती है और उसका आभास होता है। इस कारण ऐसा होता है कि हम संसार में रत हो जाते हैं और सांसारिक विषय भोगों में तृप्ति और संतुष्टि का क्षणिक आभास करते हैं। हम संसार में रत होते हैं और सांसारिक तृप्ति और संतुष्टि का जो आभास करते हैं। वह क्षणिक होता है तथा इस क्षणिकता को नियमित करने के लिए हम प्रयत्नशील होते हैं। क्षणिकता कभी भी नियमित नहीं हो सकती है। ऐसा सिद्धान्त है परन्तु मनुष्य क्षणिकता को निरन्तरता में बदलता चाहता है। यही उसकी भूल है। इस क्रिया में उसके असंख्य जन्म समाप्त हो गए और आज भी वह जीवन मरण के चक्र में घूम रहा है।

उपरोक्त तथ्य के प्रतिकूल अथवा उससे अलग हटकर जब मनुष्य परमात्मा में रत हो जाता है तो उसे परमात्मा की ही सर्वत्र प्रतीत होती है और परमात्मा का आभास होता है। इस आभास में साधक को पृथक् प्रकार की अनुभूति होती है। यह विशिष्ट अनुभूति है जो सांसारिक संलग्नता से पृथक् प्रकार की है। हम जब परमात्मा में रत हो जाते हैं तो परमात्मा के स्वरूप की तृप्ति हमें पृथक् प्रकार का दिव्य आनन्द प्रदान करती है। तृप्ति के पश्चात् ही संतुष्टि आती है। इस मानव जीवन का उद्देश्य ही परमात्मा में रत हो जाना है। उस उद्देश्य को जब हम भूल जाते हैं तो हम संसार में रत हो जाते हैं जैसे भूख की प्रतीति होना क्षणिक है और उसकी तृप्ति भी क्षणिक है तथा उसमें संतुष्टि का भाव भी क्षणिक है। परन्तु परमात्मा की अनुभूति क्षणिक नहीं है वह जीवन का परम उद्देश्य है। इस कारण आत्मसंतुष्टि और आत्मतृप्ति का आभास होता है।

जो विशिष्ट साधक संसार से पृथक् होकर परमात्मा के चिंतन में रत हो जाते हैं उसमें निरन्तर लगे रहते हैं तथा परमात्मा में ही तृप्ति और संतुष्टि का आभास करते हैं वे

विशिष्ट लोग होते हैं। उनके लिए जो भी सांसारिक कर्म हैं वे अनिवार्य नहीं होते। उनका संसार स्वप्न के समान हो जाता है। जिस मनुष्य के लिए संसार में स्वप्नवतता का आभास हो जाता है उसके लिए कर्तव्य कर्मो के आचरण का कोई महत्व नहीं है। इस कारण जो मनुष्य परमात्मा के चिंतन में रत हों, तृप्त हों और तृप्त होने के उपरान्त संतुष्ट हो जाऐं उसके लिए कोई भी सांसारिक कर्तव्य कर्म अवशेष ही नहीं रहता, क्योंकि उसका किसी भी मनुष्य से कोई स्वार्थ का सम्बंध नहीं होता है। स्वार्थ ही हमारी तृप्ति में बाधा है।

(40) कर्म प्रेरणा के तीन आधार –ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता :–

कर्म प्रेरणा कैसे होती है अर्थात् मनुष्य कर्म हेतु कैसे प्रेरित हो जाता है? इस सम्बंध में विचार करना भी अति आवश्यक है। शास्त्रों ने कर्म प्रेरणा के तीन कारण बताये हैं जिसे 1–ज्ञान 2– ज्ञेय तथा 3–परिज्ञाता कहा जाता है। जैसे कोई साधक परमात्मा की उपासना करता है यह परमात्मा की उपासनारूपी कर्म की प्रेरणा कैसे होती है? तो शास्त्र इस तथ्य का समाधान करते हैं और कहते हैं कि यह कर्मप्रेरणा तीन कारणों से होती है ? पहले तो मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि परमात्मा का अस्तित्त्व है। यदि मनुष्य को परमात्मा के होने का अर्थात् उसके अस्तित्त्व का ज्ञान ही न हो तो परमात्मा के उपासनारूपी कर्म की ओर अग्रसरता ही नहीं होगी। अर्थात् उसमें कर्मप्रेरणा नहीं होगी। इस कारण कर्मप्रेरणा हेतु प्रथम तथ्य परमात्मा के अस्तित्त्व का ज्ञान है। यही तथ्य प्रत्येक सांसारिक वस्तु के लिए समझना चाहिए। परमात्मा के अस्तित्त्व का ज्ञान हो जाने पर साधक परमात्मा को जानना चाहता है। यही ज्ञेय कहा जाता है। ज्ञेय का अर्थ होता है जानने योग्य। ज्ञान और ज्ञेय में जानने की आवश्यकता तथा विषय का अंतर रहता है। किसी वस्तु की आवश्यकता न होने पर उसके विषय में जानने का अथवा उसकी प्राप्ति का प्रयास नहीं हो सकता है। ज्ञान तथा ज्ञेय के पश्चात् जो मनुष्य परमात्मा की आवश्यकता का आभास करके उसके बारे में जानना चाहता है उसी को परिज्ञाता कहा जाता है। इसीलिए परिज्ञाता भी विशिष्ट है। परिज्ञाता ही ज्ञान और ज्ञेय का आधार है। इस कारण कर्म की प्रेरणा के तीन हेतु ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता कहे जाते हैं। तीन हेतु के मिलने से ही कर्म के सम्पादन की प्रेरणा होती है। तीनों में से एक हेतु भी न हो तो कर्म की प्रेरणा नहीं हो सकेगी अर्थात् कर्म नही होगा।

(41) कर्म संग्रह के तीन हेतु –करण, कर्म तथा कर्ता :–

मनुष्य कोई भी कर्म करता है तो उसमें वह अपने को उस कर्म का कर्ता मान लेता है। यह कर्ता मानने की भावना से कर्म संग्रह हो जाता है अर्थात् कर्म संचित हो जाता है। मनुष्य 13 करणों से अनेक प्रकार की चेष्टाऐं करता है अर्थात् 13 करणों से ही कर्म का सम्पादन होता है। 13 करण जो क्रियाऐं करते हैं उसे कर्म कहा जाता है और जिनके माध्यम से क्रियाऐं सम्पादित होती हैं उसे कर्म कहते हैं तथा जो क्रियाओं का सम्पादन करता है उसे कर्ता कहा जाता है। शुभकर्म करने से शुभकर्म संग्रह बन जाता है और अशुभ कर्म करने से अशुभ कर्म संग्रह स्वतः ही बनता है। शुभाशुभ कर्म करने से शुभाशुभ कर्म संग्रह बनता है। कर्ता जब अपने 13 करणों में से किसी एक अथवा अधिक से कार्य करता है और उस कार्य को अपने द्वारा किया जाना मान लेता है तो इससे कर्मसंग्रह हो जाता है। यदि मनुष्य अपने को अकर्ता मान ले तथा समस्त क्रियाओं को प्रकृति के द्वारा किया जाना मानने लगे तो वह ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और वह ज्ञानी हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसका कर्मसंग्रह नहीं हो सकता। वस्तुतः समस्त क्रियाऐं प्रकृति जन्य गुणों के द्वारा ही की जाती हैं इस कारण मनुष्य को स्वयं को कर्ता मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार कर्मसंग्रह के तीन हेतु हैं, अर्थात् कर्मसंग्रह तीन कारणों से होता है, जिन्हें करण, कर्म तथा कर्ता कहा जाता है।

(42) अपरा प्रकृति का आठवां तत्त्व अहंकार :–

(क) अहंकार से मैं तथा मेरेपन का आभास होता है:–

ये मैं हूँ यह मेरा है, ये तुम हो, ये तेरा है। इस प्रकार जो आभास है वह अहंकार के कारण ही होता है। ये प्रत्येक मनुष्य में रहता है। मैं हूँ, ये मेरा है को ही अहंकार का स्वरूप समझने पर इससे निवृत होने का प्रयास साधक करता है। मैं और मेरेपन का आभास जब नहीं रह जाता है तो अहंकार से साधक को अपने को निवृत समझ लेना चाहिए। इस कारण अहंकाररूपी दोष की निवृत्ति का, परख का, साधन मैं और मेरापन ही है। यदि साधक में यह दोष है तो वह अंहकार से निवृत नहीं हुआ है यह निश्चित मानना चहिए। इसका एक सरल उपाय यह है कि जो वस्तुऐं हमारी हैं वे वस्तुतः हमारी नहीं हैं। यह प्रतीत होना अहंकार की निवृत्ति का लक्षण है। जब तक उनमें ममता और आसक्ति रहती है तब तक साधक को अहंकार से निवृत नहीं समझना चाहिए।

(ख) अहंकार सत् रज तम तीनों गुणों में रहता है :–

प्रत्येक मनुष्य में तीन गुण होते हैं जिन्हे हैं सत् रज तम कहा जाता है। इस प्रकार अहंकार भी तीन प्रकार का हो जाता है। इसे सात्विक अहंकार, राजसी अहंकार ,तामसी अहंकार कहते हैं। सात्विक मनुष्यों में सात्विक अहंकार की प्रधानता रहती है। अध्यात्मिक क्षेत्र के शास्त्रज्ञ महापुरूष इस अहंकार से आवृत रहते हैं। राजसी अहंकार सांसारिक वस्तुओं के संचय करने तथा सांसारिक भोगों की उपलब्धता हेतु प्रयास करने वाले लोगों में होता है। तामसी अहंकार असामाजिक अधर्मी और दुष्कर्मी मनुष्यों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सात्विक मिश्रित राजस, राजस मिश्रित तामस, तामस मिश्रित सात्विक अहंकार भी पाये जाते हैं। कभी–कभी पुरूषों में दो प्रकार के अहंकारों की प्रतीति होती है। जैसे सात्विक व्यक्ति सत्विक भोग वस्तुओं का संग्रह करना चाहता है यह मिश्रित अहंकार का परिणाम है।

(ग) अहंकार के धर्म हैं सुख और दुख की प्रतीति :–

अहंकार के कारण ही हमें सुख और दुख की प्रतीति होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में दुख की अनुभूति होना और अनुकूल परिस्थितयों में सुख का आभास होना ये आभास अहंकार के कारण ही होता है। अहंकार से निवृत उत्कुष्ट साधक को इस कारण सुख और दुख की समानता की अनुभूति होती है। वह अनुकूलता में सुख का आभास कदापि नहीं करता और प्रतिकूलता में दुखों की प्रतीति नहीं देखता। अहंकार के धर्म के रूप में ही हमें सुख और दुख की प्रतीति होती है। इस कारण सुख और दुख अहंकार के धर्म कहे जाते हैं। सुख और दुख की प्रतीति यदि व्यक्ति में समाप्त हो जाए तो समझना चाहिए अहंकार निवृत हो गया और वह मुक्ति की ओर जा चुका है। ये अहंकार की निवृत्ति की परख है।

(घ) अहंकार के कारण दृश्य जगत की मिथ्या प्रतीति होती हैः –

यह जगत सत्य नहीं है मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है। यह उक्ति प्रसिद्ध है। जगत सत्य क्यों नहीं है? मिथ्या क्यों है? इस पर प्रत्येक साधक को विचार करना चाहिए। ये जगत धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है। विगत लाखों वर्षों का जगत धीरे–धीरे समाप्त हो गया है। ये जगत जो हम आप देख रहे हैं वह भी समय के साथ समाप्त हो जाएगा। रहेगा नहीं, क्योंकि कल वाला जगत आज नहीं है। परन्तु हमें जो जगत प्रतीत हो रहा है, वह मिथ्या होकर भासता है। जो वस्तु है नहीं और भासती है प्रतीत होती है वह मिथ्या कही जाती है। इसी को मृगमरीचिका कहते हैं। जब तक अहंकार है तब तक जगत सत्य प्रतीत

होता है और जब अहंकार समाप्त हो जाएगा तो जगत मिथ्या प्रतीत होने लगेगा। आपको जगत को मिथ्या दिखने वाली दृष्टि मिल जायेगी।

(ङ) अहंकार विकार है इस कारण अविकारी इसे जान जाता हैः–

अहंकार वास्तव में शरीर में एक विकार के रूप में है। जिस प्रकार शरीर में जब ज्वर होता है तब भोजन अच्छा नहीं लगता है और शरीर में मलिनता रहती है। ये भोजन का अच्छा न लगना और शरीर में मलिनता का रहना ज्वररूपी विकार के ही कारण है। वैसे ही शरीर में अहंकार एक विकार रूप है और यह अहंकार जब तक रहता है तब तक हम विकार रहित नहीं हो सकते हैं। इसकी प्रतीति तो हम कुछ समय के लिए कर सकते हैं, परन्तु इस अहंकार रूपी विकार को यदि समग्रता से प्रतीति करनी है तो हमें स्वयं को अविकारी होना पड़ेगा। अविकारी पुरूष अहंकार को देखता है और वह इसे परख कर इस विकार से मुक्त होने का प्रयास करता है। जैसे हमारे नेत्र जब शरीर में कार्य करते हैं तब हम मार्ग को देखकर चलते हैं और यह जान लेते हैं कि ये मार्ग उचित है अथवा अनुचित है।

(च) अहंकार संसार बंधन का मूल कारण हैः–

अहंकार को हमारे बंधन का हेतु कहा जाता है। हम अहंकार के वशीभूत होकर नाना प्रकार के असामाजिक कार्य और दुष्कर्म करते हैं। स्पर्हायुक्त होकर अनेक प्रकार की भोग सामग्री के संचय में ही अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं। यह आज हमने प्राप्त कर लिया है और कल हम प्राप्त कर लेंगे। आज हमारे पास इतना धन है और कल इतना हो जाएगा, ये वृत्ति रहती है। इस वृत्ति के अधीन हम कार्य करते हैं। जब तक इस कार्य का विचार रहता है तब तक बंधन रहता है। हम अनेक आशाओं में बंधें हुए घूमा करते हैं। ये बंधन ही है। यह सब अहंकार के कारण ही होता है, इस कारण अहंकार को बंधन का हेतु कहा गया हैं।

(छ) अहंकार रूपी विष के शरीर में रहते मुक्ति की आशा व्यर्थ है :–

मुक्ति अर्थात् मोक्ष में अहंकार ही मूल बाधा है। अहंकार से आवृत साधक मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। क्यों नहीं कर सकता है? ये भी विचारणीय है। अहंकार से आवृत मनुष्य में मैं और मेरे पन का भाव रहता है। यह भाव जगत से, जगत की वस्तुओं के सम्पर्क से तथा जगत के स्वामित्व के आभास से हमे आवृत रखता है। जब तक जगत का आभास है, उससे सम्पर्कता है ,संलिग्नता और सानिध्यता है तब तक हमें मुक्ति की

आशा कैसे हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती है। इस कारण अहंकार के रहते मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती है।

(ज) अहंकार मल के कारण निर्मल आत्मा मलाक्षादित हो जाती है :–

अहंकार को शास्त्रों में मल कहा गया है। जब तक यह मल रहता है तब तक आत्मा निर्मल होकर भी निर्मल नहीं रह सकती है। ऐसा माना गया है। जैसे दर्पण में धूल जम जाने से दर्पण का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता है दर्पण की स्पष्ट प्रतिबिम्ब के प्रदर्शन के लिए धूल के आक्षादन को हमें स्वच्छ करना पड़ता है। वैसे ही अहंकार रूपी दोष आत्मा को आक्षादित कर लेता है। इसे अहंकार की तीव्रता और प्रबलता ही समझना चाहिए और अहंकार रूपी मल को त्यागने का प्रयास करना चाहिए।

(झ) अहंकार के पूर्ण विनाश से संकल्पों–विकल्पों का अभाव हो जाता है:–

मन की वृत्ति संकल्प है और बुद्धि की वृत्ति विकल्प है। अहंकार से युक्त मनुष्य नाना प्रकार के संकल्पों और विकल्पों में खोया रहता है। जैसे किसी ने कुछ कटु शब्दों से हमारा अपमान कर दिया। हम सक्षम होने पर उस अपमान को तत्काल प्रतिकार रूप में लेते हैं और हम भी अपने मन और बुद्धि का प्रयोग करके अर्थात् नाना प्रकार के संकल्प–विकल्प करके इसका प्रतिकार करते हैं। ये संकल्प और विकल्प घटना के उपरान्त भी चलता रहता है। ये अहंकार ही है जो हमें नाना प्रकार के संकल्प–विकल्प करने को बाध्य करता हैं। यदि हम सक्षम नहीं हैं तो उचित समय की प्रतीक्षा करते हैं और मन बुद्धि से ये विचार करते हैं कि हमें ऐसा करना है ,वैसा करना है। यह उचित है यह अनुचित है आदि आदि तथ्यों पर विचार कर संकल्प और विकल्प खोजते हैं। ये सबका सब अहंकार का ही रूप है। इस कारण जब तक अहंकार रहता है तब तक संकल्प और विकल्प समाप्त नहीं होते और अहंकार का समूल नाश नहीं हो सकता।

(ञ) अहंकार के कारण ही कर्तापन का आभास रहता है:–

कर्म मनुष्य नहीं करता है। गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, इस कारण समस्त कर्म स्वतः ही होते रहते हैं। मनुष्य प्रकृति के अधीन रहकर कर्म करने को विवश है। ये सब तथ्य ये स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य कर्म नहीं करता है। यदि मनुष्य ये मान ले कि हम कर्म नहीं करते हैं तो कर्तापन के अहंकार से वह स्वतः ही निवृत हो जाता है। साधारणतया मनुष्य ये कहता है कि हमने ये कर्म किया है। सत् कर्मों को, निश्चित कर्मों को और असामाजिक कर्मों को करता है और अपने द्वारा किया हुआ मानता है। ये सामान्य तथ्य है।

स्वार्थपरता का त्याग करके यदि हम कर्म करते हैं तो हम कर्मो के कर्तापन के अहंकार से निवृत हो जाते हैं। हम जो भी कार्य करते हैं, उसमें स्वार्थपरता का भाव रहता है और यह कर्तव्य और अकर्तव्य का भाव उत्पन्न कर देता है। अहंकार से निवृत होने पर हम किसी भी क्रिया का कर्ता अपने को नही मानते हैं, कर्तापन के भाव से निवृत हो जाते हैं।

(ट)निवृत अहंकार चित्त के सम्पर्क से पुनः प्रस्फुटित हो जाता हैः–

अहंकार से निवृत होना इतना सहज नहीं है, फिर भी प्रयास से निरंतर दृष्टि रखने से हम अहंकार से निवृत हो सकते हैं। अहंकार से निवृत मनुष्य यदि पुनः सांसारिक संसर्ग में आ जाता है तो वह पुनः अहंकार से आवृत होने लगता है। चित्त एक ऐसा तत्त्व है जो अहंकार रहित मनुष्य को पुनः विचलित कर देता है। चित्त में पूर्व कर्मो की स्मृतियां संचित रहती हैं। इस कारण अहंकार जब भी चित्त के संयोग में आ जाता है तो वह पुनः प्रस्फुटित होकर अनेक प्रकार की विसंगतियां उत्पन्न का सकता है। इस कारण उत्कृष्ट साधक चित्त का प्रयोग नहीं करता है। अहंकार को चित्त के संसर्ग में नहीं आने देता है।

(ठ)अहंकार निवृत्ति के विशेष साधन :

अहंकार निवृत्ति के कुछ विशेष साधनों को प्रस्तुत किया जा रहा हैं कृपया आप इन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें–

(एक) यह मानव शरीर हमें प्राप्त हुआ है, वह निरंतर मृत्यु की ओर अग्रसर है। पल प्रतिपल, क्षण प्रतिक्षण इसकी गति मृत्यु की ओर हो रही है इस कारण यह तुच्छ है, विनिष्ट होने वाला है। इसलिए इस शरीर पर अहंकार करना तुच्छता है।

(दो) जो धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, सम्मान हमें प्राप्त हुआ है वह समय के साथ समाप्त होने वाला है। बहुत विचार करने पर इसका क्षणिक अस्तित्त्व हमें प्रतीत होगा। इस कारण हमें जो भी कुछ प्राप्त हुआ है, वह तुच्छ है। स्वतः न त्यागने पर इसका विनाश अवश्यसम्भावी है। इस कारण इसका त्याग करना यथेष्ट है।

(तीन) हमारे मन और बुद्धि में जो ज्ञान उपलब्ध है वह अत्यंत ही तुच्छ है। परमात्मा के ज्ञान के समक्ष उसकी कोई गणना नहीं हैं। इस कारण अपने ज्ञान का अहंकार हमें कदापि नहीं करना चाहिए। ज्ञान के तुच्छ अहंकार से हमें निवृत्त रहना चाहिए।

(चार) हमारे परिवारीजन, सम्पर्कित और संबंधी लोग जो हमारे सम्पर्क में हैं वे सबके सब संयोग वश हमें प्राप्त हैं। संबंध में हैं। इस कारण इनसे ममता और आसक्ति का परित्याग

करके हमें अपने कर्तव्य कर्मो का निर्वहन करना चाहिए। इससे अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती।

(पांच) सांसारिक वस्तुओं का, भोग पदार्थो के संचय का एकत्र करना अहंकार का प्रमुख हेतु है। परिश्रमपूर्वक हमें वस्तुऐं स्वतः ही उपलब्ध हो जाती हैं। इस कारण संचय वृत्ति के त्याग से अहंकार की निवृत्ति हो जाती है।

(छः) हममें जिस–जिस कारण से अहंकार है जिस–जिस वस्तु पर है। उस कारण और वस्तु की क्षण भंगुरता को समझना चाहिए और उसके विनाशशील धर्म का स्मरण करना चाहिए। इससे भी अहंकार की निवृत्ति हो जाती है।

(सात) सांसारिक वस्तुओं के त्याग से शांति की उपलब्धी स्वतः हो जाती है। शांति प्राप्त होने पर अहंकार भी निवृत हो जाता है। इस कारण सांसारिक वस्तुओं के त्याग से शांति को प्राप्त करके हमें अहंकार से निवृत हो जाना चाहिए।

(आठ) परमात्मा के निरंतर स्मरण से, उसके नाम जप से अहंकार अवशेष नहीं रहा जाता हैं क्योंकि नित्य स्मरण से और नाम जप से हमें परमात्मा की सानिध्यता प्राप्त हो जाती है। परमात्मा की सान्निध्यता से अहंकार रूपी दोष स्वतः भाग जाता है। इसका एक कारण है कि शरीर में जो भी दोष हैं वह परमात्मा की निकटता से स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। इस कारण हमें परमात्मा का नित्य निरंतर स्मरण और जप करके अहंकार से निवृत हो जाना चाहिए। ये अहंकार की निवृत्ति के विशेष साधन है।

(43) परमात्मा का पृथ्वी पर अवतरण कैसे होता है ?

मनुष्य पृथ्वीलोक पर उत्पन्न होता है। मनुष्य के जन्म को हम सभी जानते हैं उसकी उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है। जिसका ज्ञान हम सभी को है। परमात्मा की पृथ्वी पर उत्पत्ति नहीं होती है वरन् उसका अवतरण होता है। यह अवतरण कैसे होता है, इस तथ्य को हमें जानना चाहिए ? क्योंकि मनुष्य के जन्म लेने की क्रिया में और परमात्मा के अवतरण की क्रिया में अंतर है। हम जब परमात्मा को भी जन्म लेने वाला मान लेते हैं तो भारी भूल करते हैं। परमात्मा की दो विशिष्ट शक्तियां हैं जिन्हें प्रकृति और माया कहा जाता है। परमात्मा प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट हो जाता है। प्रकृति वह शक्ति है जिससे समस्त जगत की रचना होती है इसलिए इसे रचनात्मक शक्ति भी कहा जा सकता है और परमात्मा अपनी दूसरी शक्ति माया को अधीन करके प्रकट हो जाता है। माया वह शक्ति है जिससे यह समग्र जगत

मोहित रहता है। माया के द्वारा ही अनेक प्रकार की लुभावनी और आकर्षक वस्तुऐं इस जगत में उत्पन्न कर दी गई हैं। मनुष्य उन्हीं में उलझा रहता है। प्रकृति रचनात्मक स्वरूप में है उसकी रचना देखकर उसकी शक्ति का अनुमान होता है। माया मोहनात्मक शक्ति है और उसके द्वारा उपार्जित वस्तुओं को देखकर भी उसकी शक्ति का अनुमान होता हैं वस्तुतः यह दोनों शक्तियां अत्यंत विलक्षण है। एक समग्र ब्रह्मांड को रचती है और दूसरी समग्र ब्रह्मांड के जीवों को मोहित करती रहती है। अनेक साधुजन मनीषी इस मायारूपी शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं। अनेक मनीषी प्रकृति को ही माया और माया को प्रकृति कहते हैं। यह सिद्धान्त बहुत विलक्षण है। जिसका निर्धारण सामान्य रूप से नहीं हो सकता है। परमात्मा प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता है।

इस सर्वत्र पृथ्वीलोक में प्रकृति का वर्चस्व है और माया मनुष्य को परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं होने देती। मनुष्य का निर्माण प्रकृति ने किया है और उसने अपने आठ भागों भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार के द्वारा समस्त प्राणियों के शरीर का निर्माण किया है। इस प्रकार मनुष्य पूरी तरह से प्रकृति के अधीन है, परन्तु परमात्मा जब अवतरित होता है, तब उसी प्रकृति को अपने अधीन कर लेता है। इस तथ्य को स्पष्ट समझना चाहिए कि हम सभी प्रकृति के अधीन रहते है, और प्रकृति परमात्मा के अधीन रहती है। इस प्रकार मनुष्य में और परमात्मा में विशिष्ट अंतर रहता है। दूसरा तथ्य यह है कि माया समग्र जगत को भ्रमित करती है, नचाती रहती है। इस कारण हम सभी माया के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कर्म करते रहते है, उसी माया से परमात्मा अवतरित होता है वह अपनी योगमाया से भी नाना प्रकार की क्रियाऐं दिखाता है। इस प्रकार यहां स्पष्ट रूप से यह समझना चाहिए कि हम जिस माया से भ्रमित हुआ करते हैं उस माया के माध्यम से परमात्मा का प्रकटीकरण होता है।

मनुष्य जन्म लेता है और परमात्मा प्रकट होता है क्योंकि उसके अधीन प्रकृति है जो समस्त जीवों की उत्पत्ति का मूल कारण है। इस परमात्मा के प्रकटीकरण को बहुत लोग नहीं मानते हैं तथा परमात्मा को व्यक्ति भाव का मानते हैं। अर्थात् परमात्मा को सामान्य मनुष्य समझते हैं। ऐसे महानुभाव हेतु श्रीगीताजी में **मूढ़ और अबुद्धया** पदों का प्रयोग हुआ है। मूढ़ का अर्थ मूख होता है अबुद्धया का अर्थ जिसके बुद्धि नहीं है, ऐसा होता है। जो मनुष्य परमात्मा को सामान्य मनुष्यों की तरह समझते हैं वे श्रीगीताजी के सिद्धान्त के अनुसार मूर्ख और बुद्धिहीन हैं। यह श्रीभगवान का स्पष्ट कथन है। इस प्रकार परमात्मा का अवतरण पृथ्वी पर प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से होता है।

(44) परमात्मा का अवतरण क्यों होता है ?

इस ब्रह्मांड में परमात्मा की व्यवस्था लागू है इस पृथ्वीलोक पर भी उसी सर्वशक्तिमान परमात्मा की व्यवस्था है तथा उसका नियंत्रण भी है जिससे समग्र कार्य चल रहे है। कोई भी कार्य उसके निर्देशों के अतिरिक्त नहीं हो सकता। सम्पूर्ण व्यवस्था रहते हुए भी जब पृथ्वी पर पाप का आचरण बढ़ जाता है तो समग्र व्यवस्था के सुधार हेतु परमात्मा को पृथ्वी पर अवतरित होना पड़ता है। पापाचरण में अतिशय वृद्धि होने पर जगत की व्यवस्था को संतुलित करने के लिए परमात्मा का अवतरण होता है। यद्यपि जगत की व्यवस्था को परमात्मा बिना अवतरित किये हुए भी सही कर सकता है तथा पापाचारियों का विनाश कर सकता है परन्तु जब वह जगत में उपस्थित होकर, प्रत्यक्ष होकर अपने प्रिय पात्रों को अपनी शक्ति का स्पष्ट आभास कराता है और पापाचारियों का विनाश करता है तो यह तथ्य अन्य लोगों के लिए प्रेरणा के रूप में है, क्योंकि हम सभी श्रेष्ठजनों के द्वारा आश्रित कर्मो का ही क्रियान्वयन करते हैं।

विशेष तथ्य :–

परमात्मा के अवतरण को बहुत से सम्प्रदाय के लोग मान्यता प्रदान नहीं करते हैं। इसका एक कारण है कि उनके धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं हुआ है। प्रत्येक सम्प्रदाय की व्यवस्था उसके अपने धर्मशास्त्र के आधार पर चलती है। इस कारण परमात्मा के अवतरण के सिद्धान्त को कई सम्प्रदाय के लोग इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं है। परमात्मा वैसे अव्यक्त हैं व्यक्त नहीं है और अव्यक्त रहकर ही समस्त कर्मो का सम्पादन करता है। इस कारण यह मान्यता दृढ़ है कि उसका कोई आकार नहीं है, परन्तु अवतरण के समय वह आकार ग्रहण कर लेता है और संसार में सामान्य मनुष्य की तरह से अनेक क्रियाऐं करता है, जिसे परमात्मा की लीला करना कहा जाता है। जिस प्रकार एक सामान्य मनुष्य संघर्ष करता है सुख दुःख का आभास करता है वैसे ही परमात्मा भी अपनी लीला में सुख दुःख का आभास करता है इस कारण भी ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि परमात्मा सामान्य मनुष्य की तरह ही है। जब हम यह कहते हैं कि परमात्मा अवतरित नहीं हो सकता तो हम परमात्मा की शक्ति और सामर्थ्य को बंधित करने का प्रयास करते हैं। जिस परमात्मा ने समस्त ब्रह्मांड की रचना की है, वह परमात्मा क्या नहीं कर सकता? अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है। वह अव्यक्त रहकर व्यक्त की तरह से कार्य कर सकता है और व्यक्त होकर अव्यक्त की तरह से क्रियाशील होने में सक्षम है। हमें परमात्मा की शक्ति और उसके सामर्थ्य के सम्बंध में

कभी संशय नहीं करना चाहिए। हम जब परमात्मा की शक्ति और सामर्थ्य के विषय में अपनी जड़ बुद्धि से कुछ संशय प्रकट करते हैं तो इसे मूर्खतापूर्ण कार्य ही कहा जाएगा। वस्तुतः परमात्मा की स्थिति, ज्ञान, शक्ति, सामर्थ्य आदि की तुलना में मनुष्य अत्यंत तुच्छ है। फिर भी न जाने मनुष्य परमात्मा के विषय में अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न किया करता है। यह उसकी अत्यंत लघुबुद्धि की निकृष्टता है। हमें कभी भी परमात्मा की शक्ति और उसके सामर्थ्य के सम्बंध में अपने विचार नहीं प्रकट करने चाहिए, क्योंकि हमारी वहां तक पहुंच नहीं है। वह एक होकर अनेक हो सकता है तथा अनेक होकर एक हो सकता है वह दूर रहकर अत्यंत समीप आ सकता है, समीप रहकर अत्यंत दूर जा सकता है।

परमात्मा के अवतरण की क्रिया का पूर्व में उल्लेख हो चुका है कि उसका अवतरण प्रकृति को अधीन करके होता हैं। जब साधु संत, सज्जन, तथा भगवान के प्रेमी भक्त पर राक्षस, दुष्ट स्वभाव के लोग अत्याचार करते हैं तो दुष्ट राक्षसों के अत्याचार से सज्जन और साधु पुरूष पीड़ित हो जाते हैं और वे परमात्मा को कातर भाव से पुकारते हैं। परमात्मा ऐसे साधु संतों की पुकार सुनकर पृथ्वी लोक पर अवतरित हो जाता है और अवतरित होकर दुष्टों का संहार कर देता है और साधु संतों की रक्षा करता है। इस तथ्य का उल्लेख भगवद्गीता के चौथे अध्याय में हुआ है। इस कारण हमें भी यह तथ्य स्वीकार करना पड़ता है कि परमात्मा का अवतरण होता हैं वह परमात्मा अवतरित होकर भक्तों को अभय प्रदान करते हैं।

परमात्मा प्रत्येक कार्य में समर्थ है तथा वह दो प्रकार से सहायता करता है। एक अपरोक्ष रूप से तथा दूसरे परोक्ष रूप से। अपरोक्ष रूप से सहायता करने में उसका प्रत्यक्ष प्रकटीकरण होता है और परोक्ष रूप में वह किसी माध्यम से स्वयं अव्यक्त रहकर सहायता करता है। अधिकांश सहायता परमात्मा के द्वारा परोक्ष रूप से होती है, क्योंकि परमात्मा भी परोक्ष है। अर्थात् अव्यक्त है और वह अपनी व्यवस्था को जगत में परोक्ष रूप से स्थापित किए हुए है। उसके जो भी कार्य हैं एवं कार्य के जो प्रकार हैं साधन आदि हैं वह सबके सब अव्यक्त ही हैं। इस कारण उसके अनेक कर्म अव्यक्त स्वरूप में ही होते हैं। वह विशेष परिस्थितियों में व्यक्त होकर, अव्यक्त होकर हमारी सहायता करता है। इस प्रकार परमात्मा का अवतरण दुष्ट पुरूषों के संहार के लिए तथा साधु पुरूषों की रक्षा के लिए होता है।

(45) परमात्मा की स्थिति :—

परमात्मा जगत का उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता तथा प्रलयकर्ता है। उससे ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है। परमात्मा की जगत में स्थिति की विवेचना हेतु भगवद्

गीता में स्पष्ट कहा गया है कि उस परमात्मा के अतिरिक्त इस जगत में अन्य कुछ भी नहीं है। वह परमात्मा ही इस जगत के कण–कण में पिरोया हुआ है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि हम जगत में जो कुछ भी आभास करते हैं और देखते सुनते हैं तथा जहां तक हमारी दृष्टि जाती है वह सबका सब परमात्मा प्रदत्त है। परमात्मा द्वारा ही निर्मित है और उसकी सत्ता में है। उसकी सत्ता एवं स्वरूप से पृथक् इस जगत में अन्य कुछ भी नहीं है इस कारण परमात्मा की प्रत्येक तत्त्व में विद्यमानता है। इसी विद्यमानता के लिए उस परमात्मा ने अपनी स्थिति को अत्यंत स्पष्ट किया है।

जल में रस रहता है, जिससे प्यास में तृप्ति होती है तथा विभिन्न वनस्पतियों में पृथक् रस उपस्थित हो जाता है। जल में जो रस है जिससे रस का अस्तित्त्व है वह परमात्मा है। चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश होता है, जिससे समस्त जगत प्रकाशित होता है। यदि सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश न हो तो सूर्य एवं चन्द्रमा का अस्तित्त्व प्रतीत नहीं होगा। चन्द्रमा एवं सूर्य में जो प्रकाश है वह परमात्मा का है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद परमात्मा का नाम ओंकार के रूप में है। वेदों का सार ओंकार है। इस कारण परमात्मा ओंकार स्वरूप है। आकाश की तन्मात्रा शब्द है तथा आकाश में जो शब्द हैं वह परमात्मा है। परमात्मा शब्द स्वरूप है। मनुष्यों में जो पुरूषार्थ है अर्थात् पुरूषत्व का जो अस्तित्त्व हैं वह परमात्मा के रूप में है। यदि पुरूषों में पुरूषत्व न हो तो पुरूष शब्द का अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। वह पुरूषत्व भी परमात्मा ही है।

पृथ्वी की तन्मात्रा गंध है। अर्थात् पृथ्वी का गुण गंध है। गंध के गुण के बिना पृथ्वी अस्तित्त्वविहीन है। पृथ्वी में जो गंध है वह परमात्मा के ही स्वरूप में है। अर्थात् पृथ्वी का गंध गुण परमात्मा के कारण ही है। अग्नि में जो तेज है वह भी परमात्मा के कारण है। अग्नि के तेज से ही समस्त कार्य होते हैं, इसलिए तेज अग्नि की शक्ति है और तेज से प्रकाश हो जाता है। अग्नि के तेज में परमात्मा का अंश हैं परमात्मा अग्नि को तेज प्रदान करता है। समस्त प्राणी जिससे जीवित रहते हैं वह जीवन भी एक शक्ति है। इसी शक्ति से जीवों में चैतन्यता रहती है। वह भी परमात्मा के स्वरूप में है। तपस्वी तपश्चर्या करते हैं यह तपस्वियों की तपश्चर्या परमात्मा के स्वरूप के कारण ही है।

इस जगत में जितने भी प्राणी होते हैं उनमें पृथकता है। जैसे वनस्पतियों में पृथकता प्रतीत होती है। अर्थात् प्रत्येक वनस्पति पृथक् आकार प्रकार की है। वैसे ही अनेक प्रकार के प्राणी भी हैं जो पृथक् प्रकार के हैं। यह पृथकता पृथक्–पृथक् बीजों के कारण है और वह परमात्मा ही बीजों के स्वरूप में है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को आपने बुद्धिमान

के स्वरूप में देखा होगा तथा वह बुद्धिमता विशिष्ट बुद्धिवालों को प्राप्त होती है। विशिष्ट बुद्धिवालो ंको जो बुद्धि प्राप्त होती है उसे परमात्मा का ही स्वरूप मानना चाहिए। तपश्चर्या से मनुष्य में विशिष्ट प्रकार का तेज प्रकट हो जाता है वह तेज भी परमात्मा का स्वरूप है।

मनुष्य में जो शारीरिक बल उत्पन्न हो जाता है। शारीरिक बल उत्पन्न होने से अनेक प्रकार के दोष और अवगुण स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। इनमें दो दोष विशिष्ट हैं इन्हें कामना और राग कहा जाता हैं। कामना और राग रूपी द्वेष से ही अनेक प्रकार के अन्य अवगुण स्वतः उत्पन्न होते हैं। जो राग नामक दोष मनुष्यों में पाया जाता है उससे ही मनुष्य को संसार में अच्छेपन की प्रतीत होती है और जो कामना पायी जाती है वह राग के कारण ही होती है। कुछ मनुष्यों में कामना और राग से रहित बल होता है। उस बल में कामना और राग का अभाव हो जाता है, ऐसे बल को परमात्मा का स्वरूप मानना चाहिए।

(46) परमात्मा के गुण :–

किसी भी वस्तु, व्यक्ति को उसके गुणों के आधार पर ही जाना जाता है। इसी प्रकार परमात्मा को भी उसके गुणों के आधार पर ही हम जानते हैं। अधिकांश मनुष्यों में कुछ न कुछ अवगुण अवश्य होते हैं, पर परमात्मा में गुण ही गुण होते हैं। यही मनुष्यों और परमात्मा में विशिष्ट अंतर है। परमात्मा में गुण विशेष हैं, इस कारण वह विशिष्ट है और मनुष्यों में अवगुण विशेष हैं इस कारण वह निकृष्ट है। जो मनुष्य अपने में स्थित अवगुणों का समापन कर लेता है वह भी विशिष्ट हो जाता है। परमात्मा के कुछ गुणों का अवलोकन कीजिए।

(एक) परम अविनाशी : परमात्मा परम अविनाशी है। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की उपस्थिति तथा अस्तित्त्व प्रलय के पश्चात् भी रहता है। यह मानव शरीर विनाशी है और समय के साथ विनिष्ट हो जाता है। इसमें जो जीव है वह अविनाशी गुण से सम्पन्न है क्योंकि वह परमात्मा का अंश है जो परम अविनाशी है। इसके अतिरिक्त इस सृष्टि में जो कुछ भी है वह सबका सब विनाशी स्वभाव वाला ही है। यह विशिष्ट गुण परमात्मा में ही है, अन्य किसी में नहीं है।

(दो) सर्वव्यापक : वह परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्मांड में नित्य निरन्तर उपस्थित रहता है। प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक स्थिति में, प्रत्येक तत्त्व में उसकी नित्य उपस्थिति रहती है। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि वह एक होकर भी सर्वत्र व्याप्त है। एक वस्तु अथवा एक व्यक्ति एक काल में एक स्थान में ही रह सकता है। वह एक काल में दो स्थानों पर कदापि नहीं

रह सकता, परन्तु परमात्मा एक होकर भी प्रत्येक स्थान में प्रत्येक काल में उपस्थिति रहता है। यह सर्वव्यापकता का गुण है जो परमात्मा में ही निहित है। इस ब्रह्मांड की अन्य कोई वस्तु परमात्मा की तरह सर्वव्यापक नहीं है।

(तीन) हृदयस्थ : वह परमात्मा एक होकर भी समस्त जीवों के हृदय में विभक्त–विभक्त रूप से रहता है तथा विराजमान है। मनुष्यों की संख्या अरबों में है तथा समस्त जीवों की संख्या का अनुमान लगा पाना असंभव है। असंख्य जीवों के हृदय में वह एक परमात्मा निवास करता है। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। हृदय में परमात्मा का वास है और वह हृदय में उपस्थित रहकर सम्पूर्ण शरीर की गतिविधि को संचालित करता है। कथन का अभिप्राय यह है कि उस परमात्मा की समग्र जीवों के हृदय में नित्य उपस्थिति है। इस उपस्थित का आभास हम कर सकते हैं।

परमात्मा के गुण और उसके कार्य अनन्त हैं। कुछ गुण प्रतिकूल धर्म वाले भी हैं। परमात्मा सत भी नहीं है, असत भी नहीं है। सत का अभाव नहीं है और असत की सत्ता नहीं है। परमात्मा की सत्ता है। इस कारण वह असत नहीं है। वह हमें प्रतीत नहीं होता इस कारण उसका अभाव सा है। इस भाव से वह सत नहीं है। वह परमातमा सर्वत्र हाथ पैरों वाला है। जैसे मनुष्य के हाथ पैरों से उसकी पहुंच रहती है। जहां तक मनुष्य के हाथ पैर पहुंचते है वहां तक वह पहुंच सकता है। परमात्मा की सर्वत्र ब्रह्मांड में पहुंच है। इस कारण उसके हाथ पैर सर्वत्र हैं। तथा वह उन हाथ पैरों से ही समस्त कार्यो को करता है। तथा सर्वत्र उपस्थित रहता है। इस कारण उसे सर्वत्र हाथ पैर वाला कहा जाता है।

उस परमात्मा के सर्वत्र नेत्र हैं, सर्वत्र सिर है तथा वह सब ओर मुख वाला है। परमात्मा के नेत्र सब ओर हैं जिससे परमात्मा जगत के समस्त प्राणियों पर जगत की समस्त घटनाओं पर अपनी दृष्टि रखे हुए है। रात्रि दिवस तथा प्रत्येक स्थिति में दृष्टि रखकर वह जगत को नियंत्रित करता है। उसका सिर समस्त ओर है इस कारण भक्त जहां भी उसको नमन करते हैं वह उसके प्रणाम को स्वीकार कर लेता है। वह परमात्मा सब ओर मुख वाला है इसलिए उसके भक्त जो भी उसे अर्पित कर देते हैं वह परमात्मा उसे स्वीकार करके ग्रहण कर लेता है। वह परमात्मा समस्त यज्ञों का भोक्ता है। समस्त यज्ञ उसी के निमित्त किये जाते हैं। परमात्मा के नेत्र सब ओर हैं तथा उसके कर्ण भी सब ओर हैं। इसलिए वह प्रत्येक शब्द को सुन लेता है। भक्तों की प्रार्थनाएं सुनकर उसे स्वीकार कर लेता है। वह परमात्मा सबका आवृत करके स्थिति है। समस्त जीवों में वह परमात्मा व्याप्त है और जीवों की गति, व चेष्टा इसी कारण है।

परमात्मा इन्द्रियविहीन है परन्तु समस्त इन्द्रियो के विषयों को अनुभव करता है। जैसे हम सभी इन्द्रियों को रखकर इन्द्रिय विषयों का अनुभव करते हैं। वैसे ही परमात्मा इन्द्रियविहीन रहकर समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानता है तथा उसका अनुभव करता है। इन्द्रियविहीन होकर इन्द्रियों विषयों को जानना सामान्य बात नहीं है। यह गुण उस परमात्मा में है। जैसे जम सब जगत तथा जगत की वस्तुओं मे आसक्त हो जाते हैं परन्तु परमात्मा जगत में रहकर जगत की वस्तुओं में आसक्त नहीं होता है। यह परमात्मा द्वारा रक्षित संसांर है। परमात्मा इस संसार की सृष्टि करता है और उसका प्रलय भी कर देता है परन्तु सृष्टि करके वह उसमें आसक्त नहीं होता है। जैसे हम भोजन बनाते हैं और उसको खाने को उद्वत हो जाते हैं, परन्तु परमात्मा सृष्टि करके उसमें आसक्त नही होता है।

वह परमात्मा समग्र जगत की सृष्टि करता है। समस्त जगत को पालता पोषता है इस कारण उसे सर्वभृत कहा जाता है। मनुष्य अपने गुणों का भोक्ता होता है परन्तु परमात्मा निर्गुण होकर भी समस्त गुणों का भोक्ता है। यह उसकी विशिष्टता है। परमात्मा समस्त प्राणियों के बाहर तथा भीतर भी स्थित है। प्राणियों के हृदय में आंतरिक रूप से स्थित है तथा बाहर प्राणियों की व्यवस्था करने हेतु बाहर भी उपस्थित है। वह परमात्मा चल तथा अचल समस्त जीवों में विद्यमान है। चर में भी वैसी ही स्थिति है जैसी अचर में है। वह हमारे अत्यंत निकट है और वह हमसे अत्यंत दूर भी है। जहां पर हमारी स्थिति नहीं है, वह वहां भी है। जहां पर हमारी पहुंच नहीं होती है, वहां पर वह उपस्थित रहता है और सामान्य रूप से पहुंचता है। वह परमात्मा अत्यंत सूक्ष्म है तथा जगत की सूक्ष्म वस्तुओं से भी अति सूक्ष्म है। इस कारण वह हमारी दृष्टि में नहीं आता है। सूक्ष्म होने के कारण कि हमारे द्वारा देखा जाना संभव नहीं हो पाता है।

वह परमात्मा एक है परन्तु एक रहकर भी अनेक भागों में बॅटा हुआ है। अनेक भागों में बटकर प्रत्येक जीव में समाया हुआ है। एक होकर असंख्य भागों में बॅट जाना भी उसकी विशिष्टता है। परमात्मा विशेषकर अपने तीन गुणों उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण भी जाना जाता है। अर्थात् वह उत्पत्ति करता हैं, स्थिति रखता है तथा जगत को बनाये भी रखता है। इसके साथ ही अंत में उसका विनाश भी कर देता है। इस ब्रह्मांड में जितनी भी ज्योतियां हैं अर्थात् जो प्रकाशमान वस्तुऐं हैं उन सबसे अधिक प्रकाशमान वह परमात्मा है। इस कारण उसे ज्योति का भी ज्योति कहा जाता है। ज्ञान का स्वरूप होने के कारण समस्त ज्योतियों की ज्योति होने के कारण उसे अज्ञान से अत्यंत परे कहा जाता है। जगत में यदि कोई जानने योग्य वस्तु है तो वह परमात्मा ही है। वह जानने योग्य होकर ही सभी के हृदय में रहता है।

परमात्मा के गुणों की व्याख्या सम्पूर्णता से किया जा पाना सभव नहीं है, क्योंकि मनुष्य जो भी करता है वह अपनी मनबुद्धि के आधार पर ही करता है। मन मनुष्य में विचार उत्पन्न करता हैं और बुद्धि उन विचारों का विनिश्चय कर लेती है। हम यह अनुमान लगाते हैं कि शास्त्रो में जैसा लिखा है वैसा पढ़कर उसकी व्याख्या कर देते हैं, परन्तु परमात्मा तो अनिर्वचनीय है। उसकी व्याख्या वाणी के द्वारा किया जा पाना संभव नहीं है। परमात्मा के कुछ गुणों की व्याख्या यहां पर की गई है परन्तु यह गुण उसकी व्याख्या के एक अंश भी नहीं हैं। परमात्मा के गुण तो असंख्य हैं। अनन्त है, जिनको सम्पूर्णता से वर्णित किया जा पाना किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

(47) परमात्मा की उत्पत्ति :–

परमात्मा के लिए अज शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होता है कि वह परमात्मा अजन्मा है। अर्थात् उसका जन्म नहीं होता हैं वह सदा सर्वदा रहता है। उसकी उपस्थिति नित्य रहती है। कभी समाप्त नहीं होती है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी हो जाती है। मृत्यु हो जाने के उपरान्त वह इस जगत से गायब हो जाता है। विलुप्त हो जाता है, परन्तु परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होने से वह कभी भी विलुप्त नहीं होता है। परमात्मा की उत्पत्ति को देवगण भी नहीं जानते हैं तथा सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले महर्षि जन भी नहीं जानते है, क्योंकि वह देवताओं तथा महर्षियों का भी उत्पत्ति कारण है। इसके अतिरिक्त प्रजापति ब्रह्मा की भी उत्पत्ति का कारण है। इसलिए उसकी उत्पत्ति के विषय को कोई नहीं जानता है। जितने भी देवगण हैं वे परमात्मा के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इसलिए परमात्मा की उत्पत्ति को तो वह नहीं जानते परन्तु उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जिससे वे विशेष प्रकार के कार्य करते हैं। सर्ग, महासर्ग, प्रलय, महाप्रलय, सभी स्थितियों को करने वाला परमात्मा है। ऐसा शास्त्रों में वर्णन आता है। इस कारण परमात्मा की उत्पत्ति को कोई नहीं जानता। परमात्मा प्रत्येक स्थिति में रहने के कारण ही उत्पत्ति विहीन माना जाता है। परमात्मा समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का कारण होने से उसकी उत्पत्ति के सम्बंध में सभी अनभिज्ञ हैं।

(48) परमात्मा से उत्पन्न होने वाले बीस भाव :–

प्रत्येक मनुष्य में अनेक प्रकार के भाव होते हैं। प्रत्येक भाव कभी न कभी प्रकट अवश्य होता है तथा उसके प्रकटीकरण का लक्षण मुख तथा वाणी से प्रतीत होता है। यह समस्त भाव परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य को प्रदान किये जाते हैं। मनुष्य के पास अपना

स्वयं का कुछ नहीं है। हम अपने शरीर में जो शक्ति है उसे अपना मानकर व्यवहार करते हैं वह शक्ति चाहे मानसिक वाचिक अथवा शारीरिक हो। वह सबकी सब परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य को प्रदान की गई है। यदि परमात्मा मनुष्य को अनेक प्रकार के भाव न प्रदान करता तो मनुष्य पृथक्–पृथक् भावों से कार्य नहीं कर सकता था और न ही उसमें पृथक्–पृथक् प्रवृत्ति का प्रकटीकरण होता। इसलिए मनुष्य में जितने भी भाव हैं वह सब परमात्मा द्वारा प्रदत्त हैं। 20 विशिष्ट भावों का उल्लेख इस स्थल पर किया जा रहा है।

(एक) बुद्धि : बुद्धि परमात्मा की अपरा प्रकृति का सातवां अंग है, जिसके सम्बंध में पूर्व में भी वर्णन हो चुका है। मन के द्वारा संकल्पित विचारों का विनिश्चय करने वाली शक्ति का बुद्धि कहा जाता है। बुद्धि ही उचित अनुचित का विनिश्चय कर सकती है। वह मनुष्य को उचित पथ पर भी ले जा सकती है और अनुचित पथ पर जाने के लिए भी बाध्य कर सकती है। अनुचित पथ पर जाने के लिए जब बुद्धि बाध्य करती है तो वह रज और तम गुणों से आच्छादित हो जाती है अर्थात् रज और तम के प्रभाव से जो बुद्धि आवृत हो जाती है वह मनुष्य को अनेक प्रकार के सांसारिक तथा अवैधानिक पथों पर जाने हेतु आदेशित करती है। मनुष्य शरीर में जो बुद्धि नामक शक्ति है और उससे जो विनिश्चय नामक भाव उत्पन्न होता है वह परमात्मा के द्वारा ही प्रदान किया जाता है।

(दो) ज्ञान : जिस शक्ति के द्वारा मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं, पदार्थो, विषयों, क्रियाओं का ज्ञान होता है और उनके प्रति संवेदनशीलता रहती है वह ज्ञान परमात्मा के द्वारा मनुष्य को प्रदान किया जाता है। इस सांसारिक ज्ञान से भी पृथक् एक आध्यात्मिक ज्ञान है जो मनुष्य के अंतःकरण में प्रकट होता है। इस अध्यात्मिक ज्ञान के प्रकटीकरण का आधार सम्यक् साधना है। अध्यात्मिक ज्ञान से ही मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति के विशिष्ट पथ का ज्ञान होता है। इसलिए सांसारिक ज्ञान तथा अध्यात्मिक ज्ञान जो मनुष्य के अंतःकरण में रहता है वह परमात्मा के द्वारा ही दिया जाना मानना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानरूपी भाव भी परमात्मा द्वारा ही प्रदत्त है। यदि ज्ञानरूपी भाव न होता तो हमें संसारिक वस्तुओं, पदार्थो, विषयों, क्रियाओं का ज्ञान ही न हो पाता। उस परमात्मा ने असीम कृपा करके ज्ञानरूपी भाव हमारे अंतःकरण में उपस्थित कर दिया है जिससे हमें यह समग्र बोध होता है।

(तीन) असम्मोह : संसार में जिन सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों से हमारा सम्पर्क रहता है उनसे हमें सुख की उपलब्धि होती है और सुख की उपलब्धि होने से उनके प्रति हमारा लगाव बढ़ता है। इसी लगाव को मोह कहते हैं। सांसारिक व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति मनुष्य में अध्यात्मिक ज्ञान के कारण जब लगाव समाप्त हो जाता है तो इसे ही वैराग्य का

उत्पन्न होना कहा जाता है। इस स्थल पर इसे असम्मोहरूपी भाव कहा गया है। यह असम्मोहरूपी भाव परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य में उत्पन्न किया जाता है।

(चार) क्षमा : जब उत्कृष्ट साधक के अंतःकरण में किसी के द्वारा किये गए अपराध के प्रति कोई विरोधी भाव प्रकट नहीं होता है तो उस भाव के न प्रकट होने को क्षमा कहते हैं। क्षमा स्वयं में एक भाव है जो दूसरों के अहित के भाव को समाप्त करता है। क्षमा की स्थिति सहज स्थिति नहीं है। हमारा अहित कोई मनुष्य करे और हमें उसके प्रति कोई दुर्भावना उत्पन्न न हो तो यह विशिष्ट स्थिति ही कही जाएगी। इसी को क्षमा कहते हैं। यह क्षमारूपी भाव भी परमात्मा की असीम कृपा से उत्पन्न होता है।

(पांच) सत्य : सांसारिक विषयों के ज्ञान को जानकारी कहा जाता है तथा हमें सांसारिक विषयों का आभास होता है उसे अनुभव कहा जाता है। इस प्रकार यह दो साधन हैं, जिनसे मनुष्य में संसार के प्रति संज्ञानता आती है। इन दोनों प्रकार की संज्ञानताओं से जैसी जानकारी प्राप्त हो तथा जैसा अनुभव प्राप्त हो बिना किसी परिवर्तन के वैसा प्रकट करना और आचरण करना सत्य कहा जाता है। वैसे सत्य की व्याख्या को प्रस्तुत करना अत्यंत कठिन कार्य है तथा सत्य की खोज में मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है। यह प्रकटीकरण का जो भाव है वह परमात्मा की ओर से मनुष्य को प्राप्त हुआ है।

(छः) दम : सांसारिक विषयों का सेवन सामान्य रूप से इन्द्रियां करती रहती हैं। एक सामान्य व्यक्ति शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध रूपी विषयों में ही फंसा रहता है। प्रत्येक इन्द्रिय से उसके विषय की अनुभूति होती है और उस अनुभूति में ही हम आसक्त रहते हैं। जब मनुष्य परमात्मा की ओर उन्मुख होता है तो वह इन्द्रिय विषयों की आसक्ति को समाप्त करने लगता है। इसी को दम कहा जाता है। दम का अभिप्राय इन्द्रियों विषयों के दमन से है। यह दमरूपी भाव भी परमात्मा के द्वारा मनुष्य में उत्पन्न किया जाता है।

(सात) शम : मनुष्य की समस्त इन्द्रियां अपने विषयों को मन के आश्रय से भोगती हैं। अर्थात् चंचल मन ही इन्द्रियों को विषयों में फंसाये रखता है और उन्हें इस कार्य में सहयोग देता है। मन को इन्द्रियों के विषयों की ओर उन्मुख न होने देना और इसे शान्त रखना ही शम कहा जाता है। जब मनुष्य इन्द्रिय विषयों का सेवन करता है तो वह अशान्त रहता है। यह सिद्धान्त है। मन के शान्त होने पर ही उसमें शान्ति का भाव प्रकट हो जाता है। इसे शम कहते हैं। यह शमरूपी भाव भी परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य में प्रकट किया जाता है।

(आठ) सुख : हम जिस समाज में रहते हैं वहां पर परिस्थितियां यदि अनुकूल रहती हैं तो उन अनुकूल परिस्थितियों के कारण हमें अनुकूलता का आभास होता है और प्रसन्नता स्वतः ही प्रकट रहती है। इस प्रसन्नता रूपी तथ्य से हमारे अंतःकरण में शान्ति रहती है। व्यवहार में अच्छा लगता है तो उसे साधारणतया सुख कहा जाता है। यह अच्छापन, शान्ति का अनुभव, प्रसन्नता की अनुभूति ही सुख के रूप में परिवर्तित हुआ करती है। यह सांसारिक सुख है जो परमात्मा के द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमें हमारे कर्म ही आधार हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकटीकरण के उपरान्त मनुष्य को जब परमात्मा की अनुभूति हो जाती है तो उसे एक विशिष्ट प्रकार के सुख की अनुभूति होती है। यह विशिष्ट प्रकार का सुख भी परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य को प्रदान किया जाता है।

(नौ) दुःख : जब मनुष्य अपनी परिस्थितियों में प्रतिकूलता का आभास करता है तो उसके मन में अशान्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है और उसे अप्रसन्नता की अनुभूति होती है। मनुष्य की प्रतिकूलताओं का कारण उसके अपने कर्म ही हैं। यह जो दुख का भाव है वह वस्तुतः परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर मनुष्य को प्राप्त होता है। इसलिए ऐसा माना जाता है और कहा जाता है कि दुःखरूपी भाव परमात्मा के द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

(दस) भव : परमात्मा इस जगत की उत्पत्ति करता है समस्त चर अचर जगत की उत्पत्ति का वह निमित्त, उपादान कारण है। यह समग्र जगत की समस्त वस्तुयें उसी एक परमात्मा के द्वारा उपार्जित की जाती हैं। इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं जो परमात्मा के द्वारा उपार्जित न की गई हो। इसी भाव को भव कहा जाता है। यह भव भाव भी परमात्मा के द्वारा उत्पन्न होता है।

(ग्यारह) अभाव : परमात्मा चर और अचर जगत की रचना करता है और समय के साथ उसे समाप्त भी कर देता है। भव से उत्पत्ति होती है अभाव से समापन हो जाता है। इस जगत में मनुष्यों का प्रकट होना चलता रहता है और साथ ही समय से उनकी मृत्यु भी चलती रहती है। अर्थात् उनका भव भी होता है और अभाव भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार समस्त जीवों तथा सृष्टि की अन्य वस्तुओं को भी समझना चाहिए। यह जो अभाव रूपी भाव है यह भी परमात्मा के द्वारा प्रदान किया जाता है।

(बारह) भय : जगत में हमारे सम्पर्क में जो कुछ भी वस्तुऐं हैं, जो कोई व्यक्ति हैं उनके अहित और विनाश की आशंका मन में रहती है तथा उसके साथ हमें हमारे शरीर में कुछ विकार उत्पन्न न हो जाऐ यह भी आशंका रहती है। इस प्रकार अपने स्वयं के शरीर, सम्पर्कित व्यक्तियों और वस्तुओं के अहित की आशंका का नाम भय है। यह साधारणतया

सभी मनुष्यों में रहता है। यहां तक कि पशु पक्षी कीट आदि भी अपने विनाश की आशंका से भयभीत रहते हैं। मनुष्यों में ये जो भय का अभाव है यह भी परमात्मा के द्वारा ही उपार्जित किया गया भाव है।

(तेरह) अभय : जगत की समग्र वस्तुएं विनाशशील स्वभाव की हैं। इनका समापन एक न एक दिन अवश्य हो जाएगा। यह मानव शरीर हमको जो प्राप्त हुआ है यह भी धीरे–धीरे विनाश की ओर अग्रसर है। अर्थात् समय के साथ इसका क्षय हो रहा है। उसी प्रकार हमारे सम्पर्कित मनुष्य तथा वस्तुऐं भी धीरे–धीरे विनाश की ओर बढ़ रही हैं। यह तथ्य जब मनुष्य में दृढता से बैठ जाता है तब मनुष्य एक मात्र परम्अविनाशी परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है और उसके अंदर अभय उत्पन्न हो जाता है। यह अभय का भाव बहुत विशिष्ट भाव जो परमात्मा के द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

(चौदह) अहिंसा : अहिंसा का भाव हिंसा के भाव के प्रतिकूल है। किसी भी प्राणी के अहित का विचार रखना मानसिक हिंसा है और उसी भाव को क्रियान्वित करना व्यवहारिक हिंसा है। व्यवहारिक हिंसा में मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की हिंसा आती है। जब मनुष्य साधना की ओर उन्मुख हो जाता है तो उसमें किसी के प्रति अहित की भावना उदय ही नहीं होती है, इसलिए वह क्रियान्वित भी नहीं होती है। मनुष्य में जो यह हिंसा का भाव है यह भी परमात्मा के द्वारा ही उपार्जित किया जाता है।

(पंद्रह) समता : शास्त्रों का कथन है कि समग्र जीवों में परमात्मा का अंश है, इसलिए समस्त प्राणी मात्र में एक समानता है। यह समानता का भाव मनुष्य में सामान्य रूप से नहीं रहता। जब वह साधना की ओर बढ़ जाता है तो मनुष्य में समानता अर्थात् समता का भाव स्वतः ही प्रकट होता है। यह स्थिति विलक्षण है जो साधारण रूप से नहीं आती है। इस मनुष्य में समता का भाव प्रकट हो जाता है वह मनुष्य परमात्मा की अनुभूति के निकट पहुंच जाता है। यह जो समतारूपी विशिष्ट भाव है। यह भी साधक मनुष्य के अंदर परमात्मा के द्वारा ही उपार्जित किया जाता है।

(सोलह) तुष्टि : सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य में असंतुष्टि का भाव रहता है। यह असंतुष्टि का भाव व्यवहार में, आचरण में, बातचीत में स्वतः ही प्रतीत होता है। संसार में प्रत्येक मनुष्य की असंतुष्टि पृथक्–पृथक् प्रकार की है जिसके कारण ही अनेक प्रकार की समस्याऐं स्वतः ही दृष्टिगोचर होती है। जब मनुष्य में समस्त प्रकार की असंतुष्टि का भाव समाप्त हो जाता है तो उसके शरीर में तुष्टी का भाव आ जाता है और उसे सर्वत्र संतुष्टि

प्रतीत होती है। यह तुष्टि का भाव भी साधना की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए मनुष्य के अंदर प्रकट होता है जो परमात्मा द्वारा उपार्जित किया जाता है।

(सत्रह) तप : तप के तीन प्रकारों का उल्लेख पूर्व में भी किया गया था। इन तपों को मानसिक तप, वाचिक तप, शारीरिक तप कहा जाता है। जो कोई साधक मानसिक तप करता है वह भी विशिष्ट है तथा वाचिक और शारीरिक तप करने वाले मनुष्य भी विशेष ही होते हैं। सामान्य मनुष्य तपश्चर्या के भाव का प्रकटीकरण ही नहीं कर पाता है, इसलिए वह तप भी नहीं करता है। तप से मनुष्य में जो अनेक प्रकार के दोष हैं वह स्वतः ही समाप्त होने लगते हैं और वह निर्मल हो जाता है। यह जो तपरूपी भाव है यह भी मनुष्य के अन्दर परमात्मा के द्वारा ही और उसकी कृपा से उत्पन्न हो जाता है।

(अट्ठारह) दान : परमात्मा तो सभी की सहायता करते हैं और यह सहायता निस्वार्थ भाव से होती है। इसी प्रकार प्रकृति के कार्य रूप, पंच महाभूत भी निःस्वार्थ भाव से समस्त प्राणियों की सहायता करते हैं। आकाश, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी सब के सब प्राणी मात्र की सेवा में लगे रहते हैं। परमात्मा और प्रकृति की तरह से मनुष्य में भी यदि समस्त प्राणियों की सहायता का भाव उत्पन्न हो जाए तो इस भाव को दान कहा जाता है जो विशिष्ट प्रकार का होता है और दान के अन्य स्वरूपों से विलक्षण होता है। इस प्रकार के दान रूपी भाव का उदय परमात्मा के द्वारा किया जाता है। उनकी विशिष्ट कृपा से मनुष्य ऐसे दानरूपी भाव से ओत प्रोत हो जाता है।

(उन्नीस) यश : मनुष्य के दो प्रकार के उत्तरदायित्व हैं। एक प्रकार का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत है और दूसरे प्रकार का उत्तरदायित्व सामाजिक है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व ही पश्चात् में सामाजिक उत्तरदायित्व का रूप ले लेता है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व में मनुष्य यदि परमात्मा की, देवताओं की उपासना करता है तो भी उसके शरीर में विशिष्ट प्रकार का तेज उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार जब मनुष्य समाज के उन वर्गो की सहायता करता है जिनको सहायता की आवश्यकता है और इस सहायता रूपी क्रिया में प्रतिकार की भावना का परित्याग रखता है तो इस प्रकार के व्यक्तिगत और सामूहिक उत्तरदायित्व के निर्वहन से परमात्मा की व्यवस्था के अधीन उसे समाज में यश प्राप्त हो जाता है। वह यश का आभास करता है। इस प्रकार यशरूपी भाव भी परमात्मा के द्वारा ही उपार्जित किया जाता है।

(बीस) अपयश : आसामाजिक कर्मो के आचरण से, अवैधानिक कर्मो के व्यवहार से जब मनुष्य ग्रसित हो जाता है तो उसके खाते में पापों का अंकन होता है और उक्त कृत्यों से

उसकी अपकीर्ति फैलती है। समाज में सभी लोग उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते हैं। समाज के लोगों का हमारे असमाजिक, अंवैधानिक कर्मो के पश्चात् अच्छी दृष्टि से न देखना ही अपयश का रूप होता है। यह अपयश का भाव हमारे अपने कर्मो के द्वारा ही उपार्जित होता है तथा परमात्मा के द्वारा प्रदान किया जाता है, इसलिए इसे परमात्मा के द्वारा उपार्जित मानते है।

परमात्मा इस प्रकार उपर्युक्त बीस भावों का उत्पादक है। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य में जो पृथक्–पृथक् भाव उत्पन्न हो जाते हैं वे सब परमात्मा के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनका कारण मनुष्य है। जैसे मनुष्य को यश उसके आचरण ओर व्यवहार से प्राप्त होता है। जैसे सूर्य प्रकाश देता है उसका सही ढंग से उपयोग करने पर हमें लाभ होता है और उसके दुरूपयोग से हमें हानि होती है। सूर्य की गर्मी का सर्दी में सेवन करने से लाभ होता है और गर्मी में सेवन करने से हानि होती है। यह हमारा अपना व्यवहार है कि हम स्वस्थ रहे अथवा अस्वस्थ रहें। गर्मी के उत्पादन का कारण सूर्य है। इसी प्रकार भावों की उत्पत्ति तो परमात्मा करता है परन्तु हम अपने आचरण से प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं।

(49) परमात्मा की विभूतियां : –

परमात्मा ने इस जगत में चर और अचर जगत की रचना की है अपनी विशिष्टता एवं विलक्षणता प्रकट करने के लिए उसने अनेक विशिष्ट एव विलक्षण वस्तुओं का निर्माण भी किया है। सामान्य लोगों में विलक्षणता, विशिष्टता, दिव्यता, अलौकिकता प्रतीत नहीं होती है, परन्तु कुछ विशिष्ट वस्तुओं में, जीवों में विलक्षणता प्रतीत होती है जैसे आप ने देखा होगा किसी मनुष्य का मस्तिष्क बहुत तेज होता है और वह सामान्य लोगों की अपेक्षा बहुत तेजी से काम करता है। यह मस्तिष्क की विलक्षणता कहां से आती है? इस पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्त विलक्षणता,अलौकिकता परमात्मा की ओर से ही आती है और उसी के द्वारा प्रदान की जाती है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्री भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है। श्री भगवान की यह विभूतियां विशिष्ट हैं और उन विभूतियों के चिंतन करने से श्रीभगवान का ही चिंतन होता है, ऐसा समझना चाहिए। परमात्मा की विभूतियों का अवलोकन कीजिए।

परमात्मा समस्त जीवों की उत्पत्ति का कारण है। उत्पत्ति का कारण होने से ही समस्त जगत उसमें प्रवर्तित हो रहा है। परमात्मा समस्त जगत की उत्पत्ति अर्थात् आदि अंत और मध्य है। परमात्मा समस्त जीव मात्र में स्थित आत्मा है। वह परमात्मा अदिति के

पुत्रों में विष्णु है। परमात्मा समस्त ज्योतियों में ज्योति स्वरूप सूर्य है। परमात्मा मरूतों में मरीचि तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा है। परमात्मा समस्त वेदों में सामवेद है। देवताओं में देवराज इन्द्र है। समस्त इन्द्रियों में मन है तथा समस्त भूतप्राणियों में उनकी चेतना है।

परमात्मा समस्त रूद्रों में भगवान शंकर है। यक्ष और राक्षसों में धनपति कुबेर है। वसुओं में अग्नि है। ऊंचे शिखर वाले पर्वतों में सुमेरू पर्वत है। पुरोहितों में देवगुरू बृहस्पति है। सेनापतियों में भगवान शंकर के पुत्र कार्तिकेय है। जलाशयों में सब ओर से परिपूर्ण समुद्र है। समस्त महर्षियों में तेजवान महर्षि भृगु है। समस्त प्रकार की वाणियों में एक अक्षर अर्थात् प्रणव है। समस्त प्रकार के यज्ञों में परमात्मा के नाम स्मरण वाला जप यज्ञ है। स्थिर रहने वाली वस्तुओं में हिमालय पर्वत है।

समस्त प्रकार के वृक्षों में पूजन के निमित्त प्रयुक्त होने वाला पीपल वृक्ष है। समस्त देवऋषियों में भगवान के परम भक्त ब्रह्मर्षि नारद है। समस्त गंधर्वो में चित्तरथ नामक गंधर्व है। समस्त प्रकार के सिद्धजनों में भगवान कपिल है। समस्त प्रकार के घोड़ों में समुद्र मंथन के समय निकलने वाला उच्चैश्रवा नामक घोड़ा है। समस्त प्रकार के हाथियों में ऐरावत हाथी है। समस्त प्रकार के अस्त्र शस्त्रों में वज्र नामक आयुध है। गायों में कामधेनु है। प्रजनन हेतु प्राणियों की उत्पत्ति का कारण कामदेव है। समस्त प्रकार के सर्पो में वासुकी नाम का नाग है। समस्त प्रकार के नागों में शेषनाग है। समस्त प्रकार के जलचरों में वरूण देव है। पितरों में अर्यमा नामक पितर है। संयमित करने वालों में यमराज है जो दंड व्यवस्था का संचालन करते हैं। परमात्मा दैत्यों में हिरण्यकश्यप का पुत्र प्रहलाद है जो समय की गणना करते हैं उनमें काल है। पशुओं में जंगल का राजा सिंह है। पक्षियों में गरूण है जो समस्त वस्तुओं को पवित्र करता है वह वायु है। शस्त्र को धारण करने वालों में भगवान श्री राम है। जलचरों में सागर है। समस्त नदियों में मोक्षदायिनी गंगाजी है।

परमात्मा से ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होता है। इस कारण वह इस सृष्टि का आदि, अंत और मध्य है। समस्त विद्याओं में जो अध्यात्मविद्या है। उसे परमात्मा का स्वरूप ही समझना चाहिए। समस्त प्रकार के वादों में यथार्थ की अनुभूति कराने वाला वाद है। समस्त अक्षरों में अकार है। समासों में द्वंद्व समास है। जो समस्त प्राणियों को नष्ट करता है उस काल का भी परमात्मा काल है तथा विराट स्वरूप से सबका धारण पोषण करने वाला है। मृत्यु के पश्चात् सबको हर लेता है और उन्हें अपनी ही शक्ति से उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही है। समस्त नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, है। सामवेद के गीतों में वृहत्साम है। समस्त प्रकार के छंदों में गायत्री नामक छंद है। समस्त

महीनों में मार्गशीर्ष का महीना है। समस्त ऋतुओं में बसंत ऋतु और छल करने वालों में जुंआ है।

परमात्मा तेजस्वियों में उनका तेज है और विजय के रूप में प्रतिष्ठित है तथा सत्य का विनिश्चय करता है। सात्त्विक लोगों का सात्त्विकभाव भी है। वृष्णिवंशियों में वासुदेव है। पाण्डवों में अर्जुन है। समस्त मुनियों में वेदव्यास है। कवियों में दैत्यों के गुरू शुक्राचार्य है। दमन से शासन करने वालों में दंड और जय की इच्छा करने वालों नीति है। गोपनीयता में मौनरूपी भाव तथा ज्ञान वालों में ज्ञान के स्वरूप में प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है और वह चर और अचर का हेतु है, इसलिए जो मनुष्य श्री भगवान में अपने मन और बुद्धि को प्राणों सहित अर्पण कर देते हैं, वे निरन्तर संतुष्ट हो जाते है, और श्री वासुदेव में ही रमण करते हैं, क्योंकि भगवान श्रीवासुदेव ही समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण हैं, इसलिए समग्र जगत उनमें चेष्टा करता है और बुद्धिमान मनुष्य श्रद्धाभाव से उनका यजन पूजन करता है।

(50) सृष्टि के छः प्रमुख तत्त्व–

ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अदिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ :–

(एक) ब्रह्म क्या है ?

ब्रह्म इस सृष्टि की वह सत्ता है जिसे इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का हेतु कहा जाता है। ब्रह्म परमात्मा का पर्यायवाची शब्द है। ब्रह्म प्रभव, स्थिति तथा प्रलय तीनों कालों में रहता है। इसी कारण इसे परम अविनाशी कहा जाता है। जब सृष्टि का विनाश हो जाता है तो भी वह परमात्मा जीवित रहता है। इस गुण के कारण ही उसे परम अविनाशी कहते हैं। यह परम अविनाशी का गुण एक मात्र परमात्मा में है अन्य में नहीं है। यह विशेष तथ्य है कि परमात्मा इस सृष्टि को रचता है उसका पालन पोषण भी करता है और उसका विनाश भी कर देता है। यह क्रम चलाने वाला वह परमात्मा प्रत्येक स्थिति में अपना अस्तित्त्व रखता है। इसी को ब्रह्म कहते हैं।

(दो) अध्यात्म क्या है ?

परमात्मा को जो अंश समस्त प्राणियों में व्याप्त है जिसे जीव कहा जाता है वह अध्यात्म नाम से कहा गया है। परमात्मा की शक्ति, विलक्षणता, अलौकिकता, दिव्यता, विशिष्टता का वर्णन पूर्व में हो चुका है। उस परमात्मा की क्रियाशीलता को देखकर जीव

की विलक्षणता का अनुमान सहज में किया जा सकता है। यह जीव ही समग्र प्राणियों में चैतन्यता का कारण है और अत्यंत विलक्षण है। सृष्टि के आदिकाल में वह था और आज भी है आज तक वह जीव जैसा सृष्टि के आदिकाल में था वैसा ही आज भी है। इस कारण विकाररहित कहा जाता है। हम सभी ने असंख्य शरीरों का धारण किया परन्तु वह जीव जैसा सृष्टि के आदि में था वैसा आज भी है। यह परमात्मा के अंश उस जीव की विलक्षणता है।

(तीन) कर्म :–हम सब सृष्टि के अंग हैं। उस सृष्टि की उत्पत्ति अर्थात् आरम्भ कभी तो अवश्य हुआ होगा। जैसे हमारे सम्मुख जो सांसारिक वस्तुएं प्रतीत होती हैं उनका निर्माण कभी न कभी तो अवश्य हुआ होगा। इसी प्रकार यह सृष्टि है। उसका निर्माण भी अवश्य हुआ है। यह सृष्टि जब निर्मित की तब परमात्मा ने इसके निर्माण का संकल्प लिया और एक से अनेक होने का विचार किया। परमात्मा के इस विचार में इस विशाल सृष्टि को अस्तित्त्व में ला दिया। सृष्टि निर्माण से वृहद् कर्म न तो हुआ है न ही कभी हो सकता है। जिस कर्म से परमात्मा ने समस्त प्राणियों की उत्पत्ति कर दी और नाना प्रकार के प्राणियों में नाना प्रकार के भाव भर दिए उसी सृष्टि के निर्माण रूपी विशालतम कार्य को कर्म कहा जावे तो उचित होगा। यही कर्म की सहज परिभाषा है।

(चार) अधिभूत :– सृष्टि में जो कुछ भी परमात्मा ने निर्मित किया है वह सबका सब विनाश की ओर जा रहा है। आज सृष्टि को उत्पन्न हुए लाखों करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। जो कुछ भी परमात्मा ने निर्मित किया। जिन जिन भूत प्राणियों को बनाया वह सब धीरे–धीरे विनिष्ट हो गए। इस कारण यह समग्र जगत परिवर्तनशील है विनिष्ट होने वाला है। जगत में जो भी है वह सबका सब विनाशशील है। इस उत्पत्ति और विनाशशील सृष्टि की समस्त वस्तुओं को अधिभूत कहा जाता है।

(पांच) अधिदैव :–परमात्मा ने जब सृष्टि की तो वह उसमें स्वयं अपने हाथ से नहीं की है। शास्त्रों में ऐसा वर्णन आता है कि भगवान ब्रह्मा ने इस समस्त सृष्टि की रचना की। भगवान ब्रह्मा ही इस सृष्टि के प्रथम पुरूष हैं। भगवान ब्रह्मा को प्रजापति भी कहा जाता है। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख आता है कि क्षीरसागर में भगवान विष्णु शेषनाग की शै़या पर लेटे थे उनकी नाभि कमल पर आसीन भगवान ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ। यही सृष्टि का शुभारम्भ था जिससे बढ़कर आज हम इस सृष्टि को देख रहे हैं। इस सृष्टि के प्रथम पुरूष भगवान ब्रह्मा को अधिदैव कहा जाता है।

(छ:) अधियज्ञ :– इस मनुष्य शरीर का निर्माण हुआ। परमात्मा ने इस मनुष्य शरीर के निर्माण में प्रकृति का सहयोग लिया। अथवा प्रकृति को आदेशित करके इस मनुष्य शरीर को निर्मित करवाया। जब मनुष्य शरीर का निर्माण हो गया तो वह परमात्मा स्वयं भी उसमें आकर रहने लगा। वह परमात्मा मानव शरीर के हृदय में विराजमान है। मानव शरीर के हृदय में वही है तथा समस्त प्राणियों के हृदय में भी परमात्मा का वास–निवास है। यह शरीर रूपी यंत्र है उसमे जो चेष्टा है वह सबकी सब परमात्मा के कारण है। इस शरीर रूपी यंत्र के संचालन में उस परमात्मा का सहयोग है। वह परमात्मा इस शरीररूपी यंत्र में रह रहा है और उसे ही अधियज्ञ कहते हैं।

(51) परमात्मा के तीन विशिष्ट नाम– ॐ, तत्, सत् :–

परमात्मा के तीन नाम है जिन्हें ॐ तत्, सत् कहा जाता है। इन तीनों नामों के पृथक्–पृथक् प्रकार के प्रभाव तथा उपयोग हैं। परमात्मा ने सृष्टि के आदिकाल में सर्वप्रथम पवित्र वेदों और उनका ज्ञान प्रदान करने वाले ब्राह्मणों तथा मानव जाति के कल्याण के लिए यज्ञों की रचना की थी। यह पवित्र वेद, ब्राह्मण और यज्ञ सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न हुए थे। परमात्मा के यह विशिष्ट नाम किसी भी सम्प्रदाय, मत–मतान्तर के मानने वालों के लिए विशिष्ट नाम हैं। इनका जप निरन्तर करने से साधक को बहुत आध्यात्मिक लाभ होता है। सगुण निर्गुण ब्रह्म के विवाद से परे परमात्मा के इन विशिष्ट नामों का बहुत महत्व है। जो साधक परमात्मा के ॐ तत, सत रूपी नामों के जप में निरन्तर ले आता है उसे स्वस्वरूप का सहजता से बोध होता है और उसमें स्थिति भी हो जाती है। यह साधन विशेष है, जो जप से ही साधना की पराकाष्ठा तक साधक को पहुंचा देता हैं। परमात्मा के इन तीन नामों के सम्बंध में विवरण निम्न प्रकार है।

(क) ॐ का उपयोग :–

परमात्मा के नाम से ॐ शब्द का निर्देश है। जैसे जगत में प्रत्येक व्यक्ति का नाम होता है। किसी किसी मनुष्य के एक दो या अधिक नाम भी होते हैं, परन्तु उनमें एक नाम विशेष होता है। इसी प्रकार परमात्मा का ॐ नाम विशेष है। ॐ नाम से ही परमात्मा को जाना जाता है। पवित्र वेदों, उपनिषदो, शास्त्रों तथा पौराणिक ग्रंथों में जो मंत्र हैं उनके आरम्भ में उस ॐ रूपी परमात्मा का उल्लेख है। इस कारण जो वैदिक अथवा पौराणिक क्रियाऐं आरम्भ होती हैं वह ॐ नाम से ही आरम्भ की जाती हैं। जैसे अन्य सम्प्रदायों में परमात्मा के नाम से आरम्भ करने का प्रचलन है, उसी प्रकार वैदिक मतावलम्बियों में ॐ

नाम से परमात्मा के नाम को आरम्भ करके समस्त क्रियाऐं आरम्भ होती हैं। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद अर्थात् वेदत्रयी में जो भी ऋचाऐं हैं, श्रुतियां हैं उन सबमें ॐ नाम का प्रथमतः उल्लेख हुआ है, जिसके कारण एक तथ्य स्पष्ट होता है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम परमात्मा के नाम का प्रकटीकरण हुआ जिसे ॐ अर्थात् प्रणव भी कहते हैं। ॐ में तीन मात्राऐं अ, उ, म कहा जाता है। ऐसा उल्लेख है कि उक्त तीन मात्राओं से ही त्रिपदी गायत्री मंत्र का प्रकटीकरण हो गया और उससे ऋ़क्, साम, यजु, तीन वेद प्रकट हो गए। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राथमिक रूप से ॐ को परमात्मा का नाम कहा जाता है। इसी प्रकार तीन मात्राओं वाले ॐ नाम विशिष्ट है।

(ख) तत् का उपयोग :–

यज्ञ, दान, तप के रूप में जो भी कर्म हैं वह समस्त मनुष्यों के अनिवार्य कर्म कहे जाते हैं। इन अनिवार्य कर्मो का सम्पादन दो भावों से होता है। एक सकाम भाव से तथा दूसरा निष्काम भाव से। सकाम भाव से किये जाने वाले यज्ञ, दान, तप कर्मो का परिणाम होता है अर्थात् मनुष्य यदि फल की आकांक्षा करके यज्ञ, दान, कर्म, तप करता है तो उसी को सकाम भाव के कारण परिणाम प्राप्त हो जाता है। परिणाम भोग से ही मनुष्य नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता रहता है। यदि सकाम भाव समाप्त हो जाए तो उसका नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण होना भी समाप्त हो जाए। इस कारण जो महानुभाव यज्ञ, दान तथा तप कर्मो का आयोजन निष्काम भाव से करते हैं अर्थात् उनका सम्पादन उस तत् स्वरूप परमात्मा के लिए करते हैं उन्हें मोक्ष की आकांक्षा के कारण मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस कारण परमात्मा के दूसरे नाम तत् का उपयोग मोक्ष के लिए होता है। मनुष्य चाहें यज्ञ करता है, दान करता है और तप करता है वह सबका सब इस भाव से करता है कि यह समस्त कर्म हे प्रभु ! आपको समर्पित है। परमात्मा के दूसरे नाम तत् में समर्पण का विशिष्ट भाव है। साधक को इस भाव से वास्तविकता का बोध और अनुभूति होती है और परमात्मा के प्रति उसका भाव स्थिर हो जाता है। साधक जब यह समझ जाता है कि हमारे सम्पर्क में जो कुछ व्यक्ति और पदार्थ हैं वे सब हमारे नहीं हैं तथा वे सब परमात्मा के हैं और विनाशशील स्वभाव वाले हैं। इस कारण उसमें परमात्मा के प्रति अर्पण का भाव रहता है। परमात्मा के दूसरे नाम तत् का यही अभिप्राय है।

(ग) सत् का उपयोग :–

इस जगत में दो प्रकार की सत्ता है। एक प्रकार की सत्ता सत् है और दूसरे प्रकार की सत्ता असत् है। असत् की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इसे इस प्रकार

से कहे कि परमात्मा सत् है इस कारण वह अपनी शक्ति से इस समग्र जगत पर नियंत्रण स्थापित किए हुए है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी जो हमें प्रतीत होता है वह असत् है और स्वप्न की तरह से है। उसका वस्तुतः कोई अस्तित्त्व नहीं है। वह सबका सब परिवर्तनशील है। इस जगत में परमात्मा की सत्ता होने के कारण वह परमात्मा ही प्रतिष्ठित है और उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। परमात्मा की सत्ता यदि न हो तो जो यज्ञ दान, तप रूपी क्रियाऐं हैं वह सबकी सब नहीं हो सकती हैं। यद्यपि परमात्मा अव्यक्त है फिर भी वह सत्ता व्यक्त की तरह से स्थापित किए हुए है। कथन का अभिप्राय यह है कि परमात्मा ऐसी सत्ता है जो हमें दीखती नहीं है फिर भी हम उस व्यक्त तथा अप्रत्यक्ष रहने वाली सत्ता को स्वीकार करते हैं और जो स्वीकार नहीं करते हैं वे अंत में पराजित होते हैं और उनके अस्तित्त्व का समापन हो जाता है। इस कारण सत् नामक परमात्मा का नाम उसकी सत्ता के प्रकटीकरण हेतु है तथा उत्कृष्ट भाव में प्रयुक्त किया जाता है, जिससे उसकी प्रशंसा भी रहती है। परमात्मा की सत्ता का आभास करके ही सत् का आभास होता है। वस्तुतः जगत में परमात्मा सत् है और शेष असत् है। इस प्रकार परमात्मा के तीसरे नाम का उपयोग परमात्मा की सत् सत्ता की अनुभूति हेतु होता है।

(52) सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न वेदों का विषय :—

श्रीमद्भगवद्गीता में वेदों के सम्बंध में कुछ विशिष्ट वर्णन श्रीभगवान द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं। श्रीगीता जी का वेदों के बारे में जो विचार है वह पृथक्—पृथक् अध्यायों में वर्णित किया गया है। उसी वर्णन के आधार पर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न वेदों के विषय को यहां पर निरूपित किया जा रहा है। वस्तुतः वेद अपौरूषेय हैं तथा नित्य और स्वतः प्रमाण हैं, परन्तु श्रीभगवान ने उन्हें अपने द्वारा ही रचित बताया है तथा कुछ भावों की प्रस्तुति की है। उन्हीं के शब्दों में कुछ भावों का अवलोकन कीजिए।

(क) वेदों में सकाम कर्म का वर्णन :—

पवित्र वेदों में उन विषयों का वर्णन विस्तार से हुआ है जिनसे इस जगत की वस्तुओं से लेकर स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति हो जाती है। वर्तमान में ऐसी मान्यता प्रबल हो रही है कि वैदिक ज्ञान का लुप्तीकरण हो गया है। अर्थात् वेदों के विषय के जानकार अतिअल्प मात्रा में हैं। वस्तुतः वेदों में ऐसे विज्ञान के तथ्य वर्णित किये गए थे जो अलौकिक,विलक्षण तथा रहस्यप्रद थे, परन्तु वर्तमान समय में वेद मंत्रों के द्वारा उन अलौकिक, विलक्षण और रहस्यप्रद तथ्यों के ज्ञान का अभाव हो गया है। जो थोड़े से

वैदिक ज्ञान के जानकार बचे हुए हैं उनके द्वारा भी वैदिक क्रियाओं का सम्यक्रूपेण सम्पादन नहीं हो पा रहा है। वैदिक क्रियाओं की जानकारी के अभाव के साथ वैदिक क्रियाओं के सम्बंध में लोगों में रूचि बहुत कम हो गयी है। लोग अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञ औपचारिकतावश ही करते हैं।

महाभारतकाल में वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान अधिक मात्रा में हुआ करता था। वैदिक ज्ञान के जानने वाले तथा उसके आधार पर उनका अनुष्ठान करने वाले बहुत साधक थे। श्री भगवान ने जब श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया तो उस समय महाभारतकाल था और यज्ञों में लोगों की रूचि थी। सकामभाव को दृष्टिगत् रखकर अनेक प्रकार के विज्ञान को प्राप्त करने के उद्देश्य से वैदिक कर्म होते थे। इसके दो ही उद्देश्य थे। एक तो कामनाओं में तन्मय रहना और दूसरे स्वर्ग प्राप्ति को श्रेष्ठ समझना। इस संसार में जो वस्तुऐं हैं उनकी प्राप्ति की इच्छा रखना साधारणतया कामना कहा जाता है। मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग लोक प्राप्त हो जाऐ उस क्रिया का भी उल्लेख पवित्र वेदों में है। उस समय बहुत से लोग इस प्रकार के वाद विवाद में संलग्न रहा करते थे। वे अपने को श्रेष्ठ मानते थे। जिस मनुष्य की दृष्टि जिस कामना की होती है वह अपने विषय की पुस्तक को खोजता है। हम जिस प्रकार के विषयों को पढ़ना चाहते हैं उसी प्रकार की पुस्तकें खोजते हैं। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रकार उस काल में अनेक वेदों के विद्वान लौकिक कामनाओं की पूर्ति की इच्छा से तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए वाद विवाद और कर्म किया करते थे। जिसका प्रयोजन सकाम कर्म ही था। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर श्रीभगवान ने यह कहा कि वेदों में सकाम कर्मो का वर्णन है। **(गीता/2/42–43–44)**

(ख) मोक्ष त्रिगुणों से अतीत होने पर प्राप्त होता है :– यह समग्र ब्रह्मांड ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणों से प्रभावित है और त्रिगुणों से प्रभावित होकर ही नाना प्रकार के कर्मो का समग्रता से सम्पादन करता है। पवित्र वेदों के दो प्रमुख विषय हैं, जिन्हें ज्ञानकांड तथा कर्मकांड कहा जाता है। ज्ञानकांड में त्रिगुणातीत होने के विषयों का वर्णन विशेष है। अन्य भी वर्णन है, परन्तु मुक्ति कैसे हस्तगत होगी इसका वर्णन विशेषरूप से प्रस्तुत किय गया है। वेदों का यह ज्ञानकांड उपनिषदों के रूप में हमारे समक्ष उपलब्ध है। ज्ञानकांड के अतिरिक्त कर्मकाण्ड से सम्बंधित विषयों का पवित्र वेदों में वर्णन किया गया है और अनेक प्रकार के कर्मकांडों से सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति और र्स्वगादिक लोकों की उपलब्धता का वर्णन विशेष है। यह त्रिगुणों के विषय हैं श्री भगवान ने अर्जुन के लिए यह आज्ञा दी

कि पवित्र वेदों में त्रिगुणों से सम्बंधित जो विषय हैं उनसे अतीत हो, क्योंकि त्रिगुणों के क्रियान्वयन से ही संसार में बंधन हो जाता है।

वेदों के त्रिगुणात्मक विषय इस संसार में हमें सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि कराते हैं। इसी को संसारी प्रकाश कहा जाता है। इस कारण हमें यदि संसार से मुक्त होना है तो त्रिगुणातीत होना पड़ेगा। त्रिगुणतीत हो जाने पर चार स्थितियां स्वतः उपलब्ध हो जाती है। एक राग द्वेष आदि द्वंद्वों से पृथक् हो जाने की, क्योंकि रागद्वेष आदि से ही मनुष्य को बंधन होता है। दूसरे सत्त्व में अर्थात् परमात्मा के निरन्तर स्मरण में ही लगे रहो। तीसरे अपने योगक्षेम की आकांक्षा मत करो, क्योंकि जो साधक परमात्मा में संलग्न हो जाता है उसका योगक्षेम परमात्मा स्वतः ही प्राप्त करवा देता है। उसे संसार की भोग वस्तुऐं स्वतः ही उपलब्ध हो जाती हैं। चौथा तत्त्व आत्मवान बनने का है अर्थात् अपने स्वभाव के बारे में स्वस्वरूप के सम्बंध में विचार करो। इस प्रकार त्रिगुणों को छोड़कर त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त करो और पवित्र वेदों में त्रिगुणों से सम्बंधित जो वर्णन है उसका परित्याग करों। **(गीता 2/45)**

(ग) तत्त्वदर्शी हेतु वेदों का विषय गौण हो जाता है :–

प्राचीनकाल में अर्थात् महाभारत के काल के पूर्व ब्रह्मविद्या के उत्कृष्ट ग्रंथों के रूप में वेदों को मान्यता प्राप्त थी। वेदों के ज्ञानकाण्ड तथा वेदान्त के रूप में उपस्थित उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के बारे में विस्तार से उल्लेख किय गया है। ब्रह्म क्या है ? सृष्टि क्या है ? ब्रह्म की अनुभूति किस प्रकार हो सकती है। प्रकृति क्या है ? इन सबका विस्तार से उल्लेख उपनिषदों में हुआ है। यह उपनिषद जो ब्रह्मविद्या और वेदान्त ग्रंथों के रूप में आज भी हमारे समक्ष उपलब्ध है। वस्तुतः अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। वे जैसे प्राचीनकाल में अध्यात्मिक ज्ञान के भंडार थे वैसे आज भी हैं। इनका एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति कराना है। परमात्मा की अनुभूति का साधन होने के कारण अनेक साधकों ने उपनिषदों के ज्ञान के आधार पर परमात्मा की अनुभूति भी की है। मनुष्य को जब परमात्मा की अनुभूति हो जाती है तब वेदों का ज्ञान अर्थात् उपनिषदों में वर्णित सैद्धान्तिक ज्ञान गौण हो जाता है। जैसे हमें कोई नदी पार करनी हो और उसके लिए नाव की आवश्यकता होती है। यदि हमें वापस न लौटना हो तो नदी पार करने के लिए नाव महत्वपूर्ण साधन है। नदी पार करने के उपरान्त नाव हमारे लिए निरर्थक अथवा गौण हो जाती है। इसी प्रकार उपनिषदों के ज्ञान के आधार पर जो साधक परमात्मा की अनुभूति कर लेते हैं उनके लिए वैदिक ज्ञान गौण हो जाता है। **(गीता/2/46)**

(घ) कर्मो की उत्पत्ति वेदों से हुई है :–

पूर्व में यह कहा जा चुका है कि वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में हुई थी। वेदों में प्रमुख रूप से मनुष्य के जीवन के कर्तव्य कर्मो का उल्लेख हुआ है। मनुष्य अपने वर्ण, आश्रम, जाति में किस प्रकार से रहेगा? तथा समाज में उसका क्या व्यवहार होगा? वह सामाजिक जीवन में किस प्रकार से चलेगा? यह सबका सब वेदों में विस्तार से वर्णित किया गया है। इस कारण मनुष्य जीवन के जो कर्म हैं। जो उसके द्वारा सम्पादित किये जाने चाहिए। उन सबका उल्लेख वेदों की वाणी में विस्तार से किया गया है। कर्मो का उल्लेख जब पवित्र वेदों में हुआ है तो इसी कारण कर्मो की उत्पत्ति वेदों से मानी जाती है। कर्म का अभिप्राय कर्तव्य कर्मो से है कि हमें क्या करना यथेष्ट है? और किसका परित्याग करना यथेष्ट है? क्या कर्म हैं? क्या विकर्म अर्थात् त्याज्य कर्म हैं। उन सबका उल्लेख पवित्र वेदों में हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि कर्मो की उत्पत्ति पवित्र वेदों से हुई है। **(गीता /3/15)**

(ङ) वेदों में अनेक प्रकार की यज्ञों का वर्णन :–

वेदों में अनेक प्रकार की यज्ञों का वर्णन है। उन यज्ञों का वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। इस समस्त जगत में सर्वत्र उपस्थित वस्तुओं को ब्रह्म के रूप में मान लेना ब्रह्मोपासना यज्ञ है। विभिन्न प्रकार के देवताओं की पृथक्–पृथक् प्रकार से उपासना करना देवोपासना रूपी यज्ञ है। अग्नि को ब्रह्मरूप में जान लेना तथा तब यह यज्ञ के द्वारा यज्ञों का हवन करना ब्रम्हरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञों का हवन करना है। संयम को अग्नि के रूप में स्वीकार करके समस्त श्रोत्रादिक इन्द्रियों का उसमें हवन करना। श्रोत्रादिक समस्त इन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन करना है। इन्द्रियों को अग्निरूप समझ लेना तथा शब्दादिक विषयों को उसमें हवन करना सांसारिक विषयों का इन्द्रियरूप अग्नि में हवन करना है। इन्द्रियों की क्रियाओं का, प्राणों की क्रियाओं को आत्मसंयम रूप अग्नि में हवन करना भी एक प्रकार का यज्ञ है। ब्रह्मचर्य आदि तीक्ष्णव्रतों का पालन करना, कामना, क्रोध, लोभ पर नियंत्रण कर लेना भी तीक्ष्णव्रत रूपी हवन है। संसार में द्रव्ययज्ञों का अनुष्ठान भी होता रहता है उसके लिए द्रव्ययज्ञों का सम्पादन होता है। इसी प्रकार तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्यायरूपी, ज्ञानयज्ञ तथा प्राणायमरूपी यज्ञ का भी कम महत्व नहीं है। इस प्रकार अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन वेद की वाणी में विस्तार से हुआ है। **(गीता 4/32)**

(च) परमात्मा समस्त वेदों में प्रणव है :–

पूर्व में भी यह कहा गया है कि ॐ अर्थात् प्रणव परमात्मा का एक नाम अथवा निर्देश है, जिससे समस्त वेदों की उत्पत्ति मानी जाती है। इस कारण वेदों में जो कुछ भी वर्णित है उनमें ॐकार अर्थात् प्रणव प्रमुख है। परमात्मा के नाम ॐकार से ही समस्त वेदों का मंत्रों का आरम्भ होता है। इस कारण ॐकार वेदों का प्रमुख तत्त्व है। परमात्मा का नाम वेदों में सम्मिलित है, इसलिए यह कहा जाता है कि परमात्मा समस्त वेदों में प्रणव के रूप में है। **(गीता 7/8)**

(छ) परमात्मा ही ऋक्, साम, यजुर्वेद है :–

वेदों में अनेक प्रकार के विषयों का विविध प्रकार से वर्णन हुआ है तथा सृष्टि के आरम्भ में भी परमात्मा ने समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए वेदों का प्रकटीकरण किया था, जिसमें समग्र मानव जाति के कर्तव्य कर्मो का विस्तृत उल्लेख था। वेदों के ज्ञान को महर्षि वेदव्यास ने चार भागों में विभाजित करके चार संहिताओं का निर्माण कर दिया। परमात्मा की वाणी होने के कारण पवित्र वेद परमात्मा के ही रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि परमात्मा ही ऋक्,साम,यजुर्वेद है। परमात्मा की वाणी होने के कारण यह तथ्य कहा जाता है। **(गीता/9/17)**

(ज) परमात्मा वेदों में सामवेद है :–

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्वेद चार वेदों में सामवेद विशिष्ट है। ऐसा वैदिक विद्वानों का मत है। इस कारण श्रीभगवान ने श्रीगीताजी के दसवें अध्याय विभूतियोग में यह कहा कि **मैं वेदों में सामवेद हूँ।** विभूति का अर्थ होता है कि जो ज्ञान विशिष्ट, अलौकिक, रहस्यप्रद दिव्यगुणों को लिए हुए हो। सामवेद में जो कुछ भी वर्णित किया गया है वह अन्य वेदों से विशिष्ट है, इसलिए इसे श्रीभगवान ने अपना स्वरूप अर्थात् विभूति बताया है। **(गीता 10/22)**

(झ) वेदाध्ययन से विराटस्वरूप, चतुर्भुजस्वरूप को नहीं देखा जा सकता है–

पवित्र वेदों के मंत्रों में तथा उसके अनुष्ठान की क्रियाओं में परिणाम का भी वर्णन आता है। मनुष्य को जिस किसी लौकिक अथवा पारलौकिक वस्तु या स्थिति की आवश्यकता प्रतीत होती है उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञों में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का प्राविधान है। प्राविधान के अनुसार वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य को वांछित वस्तु और

स्थिति प्राप्त हो जाती है। श्रीगीताजी में श्रीभगवान ने अपने विराटस्वरूप का प्रदर्शन किया। उस विराटस्वरूप को देखकर अर्जुन अत्यंत भयभीत हो गया और उसने यह प्रार्थना की कि इस विराटस्वरूप को हटाकर अपने चर्तुभुजस्वरूप का दर्शन कराइए। श्रीभगवान ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार करके चर्तुभुजस्वरूप का दर्शन कराया तथा यह कहा कि यह विराटस्वरूप और चतुर्भुजस्वरूप वेदों के दर्शन ने देखा जा पाना संभव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदों के ज्ञान काण्ड उपनिषद में परमात्मा की विभूति की जिन प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है उनसे मनुष्य परमात्मा की अनुभूति तो कर सकता है परन्तु वह विराटस्वरूप तथा चतुर्भुजस्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता है। **(गीता 11/53)**

(ञ) वेद संसार वृक्ष के पत्ते हैं :–

श्री गीता जी के 15वें अध्याय में संसार वृक्ष की एक यथार्थ परिकल्पना की गई है जिसमें यह कहा गया है कि उसकी जड़ उर्ध्व अर्थात् ऊपर है। शाखाऐं नीचे विस्तार ले रही हैं। अर्थात् यह संसार वृक्ष ऊपर से उपजा है, प्रकट हुआ है। जब मूल ऊपर है तो शाखाएं नीचे ही होंगी। इस प्रकार यह संसार वृक्ष सांसारिक वृक्षों की तरह से नहीं है वरन् उलटा है। इसलिए इसे ऊपर मूल वाला और नीचे शाखा वाला कहा गया है। इस संसार वृक्ष में पत्तों के स्वरूप में वेदों का उल्लेख होता है। संसार वृक्ष के पत्तों के रूप में पवित्र वेदों का इस कारण उल्लेख किया गया है, क्योंकि कर्मानुष्ठान के विषयों का पवित्र वेदों में विस्तार से वर्णन है। इस प्रकार पवित्र वेदों को संसार वृक्ष का पत्ते कहा गया है। **(गीता 15/1)**

(ट) परमात्मा वेदों के द्वारा ज्ञेय है, वेद विषयों का विनिश्चय करता है तथा उसे जानने वाला है :–

परमात्मा को जानने की विधियों का वर्णन पवित्र वेदों में विस्तार से हुआ है। इस कारण ऐसा कहा जाता है कि परमात्मा पवित्र वेदों द्वारा ज्ञेय है अर्थात् जाना जा सकता है। वेदों में जो कुछ भी वर्णित है उसका सही सही अर्थात् सम्यक् विनिश्चय परमात्मा ही कर सकता है क्योंकि वह वैदिक ज्ञान का रचयिता है। सांसारिक मनुष्य पवित्र वेदों के भाष्यों में उसके यथावत् ज्ञान को निरूपित करने में पूरी तरह से समर्थ नहीं है। पवित्र वेदों के आज जो हिन्दी भाष्य उपलब्ध हैं उनमें विपरीतता तथा प्रतिकूलता भी पर्याप्त है परन्तु परमात्मा समस्त वेदों के विषयों को सम्यक्रूप से जानने वाला है तथा उसके द्वारा ही वेदों के ज्ञान का विनिश्चय भी होता है, क्योंकि वह वैदिक ज्ञान का कर्ता है। **(गीता 15/15)**

(ठ) परमात्मा को वेदों में पुरूषोत्तम कहा जाता है :–

संसार में मनुष्यों की अनेक कोटियां हैं जो उनके गुणों के आधार पर होती हैं। प्रत्येक मनुष्य में जो गुण होते हैं उन्हीं गुणों के आधार पर उस मनुष्य की स्थिति का निश्चय किया जाता है। जो मनुष्य साधना की पराकाष्ठा पर पहुंच कर परमात्मा की अनुभूति कर लेता है वह ब्रह्मवेत्ता हो जाता है तथा उसका परमात्मा से नित्य सम्बंध रहता है। यह समस्त पुरूषों में उच्चकोटि के पुरूष की स्थिति है। इसी प्रकार सृष्टि में देव, गंर्धव राक्षस आदि आदि भी हैं जो सामान्य मनुष्यों से श्रेष्ठ गुण वाले कहे जाते हैं परन्तु सृष्टि में जितने भी प्रकार के पुरूष हैं उन सभी में परमात्मा श्रेष्ठ है। इसलिए उसे पुरूषों में उत्तम अर्थात् पुरूषोत्तम कहा जाता है। वेदों में इसीलिए परमात्मा को पुरूषोत्तम नाम से सम्बोधित किया गया है।

(53) चार वर्णो–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के स्वाभाविक गुण :–

श्रीगीताजी में चार वर्णो का उल्लेख आता है। इन चार वर्णो की स्थापना सृष्टि के आदिकाल में ही श्रीभगवान के द्वारा की गई थी। वस्तुतः प्रत्येक वर्ण अपने में विशिष्ट गुण धर्म वाला है तथा गुण और कर्मो के आधार पर ही मनुष्य को वर्ण की उपलब्धि होती है जो मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं उसी के आधार पर मनुष्य के वर्ण का विनिश्चय किया जाना चाहिए। यदि मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों से गिर जाता है तो उसका उसके वर्ण से पतन भी हो जाता है। इसलिए वर्णो के विनिश्चय में स्वाभाविक गुण ही आधार हैं। श्री गीताजी के आधार पर इस स्थल पर चारों वर्णो के स्वाभाविक गुणों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण :–

ब्राह्मण वर्ण के मनुष्यों में नौ स्वाभाविक गुण होते हैं। यदि ब्राह्मण वर्ण का कोई व्यक्ति अपने स्वाभाविक गुणों को खो देता है तो वह ब्राह्मण वर्ण से पतित हो जाता है। उसे नाम मात्र का ब्राह्मण ही समझना चाहिए। ब्राह्मण के जिन स्वाभाविक गुणों का वर्णन श्रीगीताजी में किया गया है वे निम्न प्रकार हैं–

(एक) शम : ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण शम है। ब्राह्मण प्रत्येक स्थिति में अपने मन को संयमित रखता है। मन साधारणतया चंचलशील, प्रमथनशील स्वाभाव का होता है, परन्तु ब्राह्मण वर्ण के लोगों का मन सदा संयमित रहता है। वह विशेष रूप से सांसारिक विषयों

से अपने मन को हटाये रखते हैं। यह विशिष्ट तथ्य है, इसलिए ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण शम है।

(दो) दम : इन्द्रियों को उनके विषयों से संयमित कर लेने का नाम दम है। इसे इन्द्रियों का दमन भी मानना चाहिए। साधारणतया इन्द्रियां अपने विषयों को भोगना चाहती हैं और वे अपने विषयों को भोगने की ओर लालायित रहती हैं। यह सामान्यतः होता है, क्योंकि मनुष्य की ऐसी प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मण वर्ण के लोग अपनी इन्द्रियों को उनके अर्थो से सर्वदा हटाये रहते हैं इसलिए वे विशेष कहलाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण का एक स्वाभाविक गुण दम भी है।

(तीन) तप : ब्राह्मण स्वभावतः आस्तिकवादी होता है तथा स्वाभाविक रूप से उसमें भगवान के प्रति श्रद्धा होती है। भगवान के नाम का जप तथा स्मरण भगवान में श्रद्धा रखना उसमें स्वभावतः होता है। वस्तुतः तपश्चर्या से ही परमात्मा के प्रति मनुष्य में उन्मुखता आती है। परमात्मा के स्मरण से मनुष्य को तप रूपी लाभ प्राप्त होता है। ब्राह्मण वर्ण के लोग परमात्मा के नामजप, स्मरण आदि से तप करते हैं तथा अपने में अवगुणों को नहीं आने देते हैं और यदि कतिपय कारणों से कुछ अवगुण आ गए हैं तो उन्हें तप के द्वारा समाप्त कर देते हैं।

(चार) शौच : ब्राह्मण का एक विशिष्ट गुण शौच भी है। बाहर और भीतर की शुद्धि को शौच कहा जाता है। वस्तुतः आन्तरिक शुद्धि विशिष्ट मानी जाती है। आंतरिक शुद्धि में दो तथ्य विशिष्ट हैं एक किसी के प्रति अहित का भाव न रखना और दूसरा सांसारिक विषयों से अलग हटकर परमात्मा का चिंतन करना। किसी के अहित का भाव रखने से ही शौच रूपी गुण का ह्रास होता है और सांसारिक विषयों में पड़ जाने से भी अनेक प्रकार के अवगुण मनुष्य में स्वतः आ जाते हैं जिससे भी शौचरूपी गुण प्रभावित होता है।

(पांच) क्षमाभाव : ब्राह्मण में स्वभावतः क्षमाभाव का गुण होता है। उसका यह गुण प्रकट होता है। प्रतीत होता है। व्यक्त रहता है। वह अपने अहित करने वालों को भी क्षमा कर देता है तथा उनके अहित का विचार न करके उन्हें अभय प्रदान करता है। ब्राह्मणों का वैसे कोई अहित नहीं कर सकता परन्तु यदि कोई मनुष्य प्रारब्धवश ब्राह्मणों के अहित के बारे में विचार करता है तो ब्राह्मण यह तथ्य जान जाने पर भी उसे क्षमा कर देते हैं।

(छः) आर्जवम् : यह गुण कटुभाव के प्रतिकूल हैं। जिस मनुष्य के मन में सरल भाव रहता है उसकी वाणी स्वतः ही सरल हो जाती है, क्योंकि वाणी का सम्बंध मन से है। हम जो

भी बोलते हैं उस पर मन का अधिकार रहता है। इस कारण ब्राह्मण को मानसिक रूप से सरल होना चाहिए। यह आर्जवमरूपी गुण मनुष्य में सरल भाव को प्रकट करता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय मृदुभाषिता से भी है तथा आतंरिक सरलता से भी है। यदि अंतःकरण में सरलता का भाव न हो और मृदुभाषिता अपने स्वार्थ के लिए की जाए तो वह आर्जवम् नामक गुण में नहीं आती है।

(सात) ज्ञान : कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का सामाजिकता, असामाजिकता का ज्ञान होना ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है। यह ज्ञान अनेक शास्त्रों के पठन पाठन से मनुष्य में उत्पन्न हो जाता है। जो शास्त्रों का स्वभावता सेवन करते हैं उनमें उक्त तथ्यों का प्रकटीकरण होता है। ब्राह्मण में कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का बोध रहता है और वह इसी बोध के कारण धर्म और कर्तव्य के आचरण का प्रयास करता है। परमात्मा से सम्बंधित ज्ञान भी ज्ञान की श्रेणी में आता है, क्योंकि वह सांसारिक ज्ञान से विशिष्ट प्रकार का है।

(आठ) विज्ञान : ब्राह्मण परमात्मा की अनुभूति के साधनों का सैद्धान्तिक रूप से ज्ञाता होता है। जिस प्रकार जीवन के परम पुरूषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हो सके उस प्रकार के साधनों के वास्तविक ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। एक ब्राह्मण में परमात्मा के साक्षातकार के साधनों के विषय में ज्ञान रहता है। यह उसका स्वाभाविक गुण है। इसी को विज्ञान कहा जाता है।

(नौ) आस्तिक भाव : परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना तथा किसी भी अत्यंत प्रतिकूल स्थिति में भी परमात्मा की सत्ता की स्वीकारिता को न नकारना ही आस्तिक भाव कहा जाता है। श्रेष्ठ ब्राह्मणों में स्वाभाविक रूप से परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने का गुण होता है और इसी के कारण वे परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसकी व्यवस्था के अधीन क्रियाऐं करते हैं।

(ख) क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण :–

क्षत्रिय समाज का एक विशिष्ट अंग है जो सम्पूर्ण समाज की रक्षा का दायित्व लिए रहता है। वस्तुतः अनेक प्रकार की आसुरी शक्तियों का समाज पर प्रभाव हो जाता है। इसी प्रभाव के समापन के लिए परमात्मा ने क्षत्रियों की उत्पत्ति की है। इनके स्वाभाविक गुण निम्न प्रकार है–

(एक) शौर्य : क्षत्रियों का विशिष्ट स्वाभाविक गुण है जिससे उनमें धर्म युक्त युद्ध में लड़ने की शक्ति रहती है तथा इसी शौर्य के आधार पर वे अपने प्रतिपक्षी लोगों पर विजय प्राप्त

कर लेते हैं। शौर्य गुण अन्य वर्णो में कम पाया जाता है। क्षत्रिय अपने शौर्य रूपी स्वाभाविक गुण के कारण ही विशिष्ट होता है तथा वह शौर्य रूपी गुण से ही समाज के अन्याय के विरूद्ध लड़ता है और समाज की रक्षा करता है।

(दो) तेज : क्षत्रियों का एक स्वाभाविक गुण तेज है जिससे उनका प्रभाव उस क्षेत्र में रहता है जहां वह निवास करते हैं। जैसे जंगल में एक शेर होता है और अन्य पशु उसके प्रभाव से ही डरे सहमे रहते हैं। उसी प्रकार क्षत्रियों में एक गुण विशेष तेज होता है जिसके प्रभाव से समाज की आसुरी शक्तियां दबी रहती हैं और शान्त रहती हैं।

(तीन) धृति : धृति का अर्थ धारण शक्ति होता है। क्षत्रियों को न्यायपथ पर पालन करना और अन्याय पथ का परित्याग करना जैसी विचार शक्ति दृढ़ रहती है। इस विचार शक्ति से ही उनमें नैतिक बल रहता है। जिस धारण शक्ति के द्वारा न्याय तथा अन्याय के विषय में क्षत्रिय लोग उचित निर्णय ले लेते हैं वह धारण शक्ति क्षत्रियों का स्वाभाविक गुण है। इससे उनमें दृढ़ता रहती है।

(चार) दाक्ष्यम् : क्षत्रियों में शासन प्रशासन को सही ढंग से परिचालित करने की विशेष योग्यता होती है। कौन सा निर्णय कब लेना है? किस प्रकार लेना है, किस प्रकार जनता का हित हो सकता है? किस प्रकार राज्य की व्यवस्था चल सकती है? किस प्रकार राज्य की प्रजा सुखी हो सकती है? इस प्रकार के निर्णय करने की विशेष शक्ति उनमें होती है। इस प्रकार दाक्ष्यम् क्षत्रियों का स्वाभाविक गुण है।

(पांच) अपलायनम् : विपरीत परिस्थितियों में साहस,संघर्ष करने का गुण विशेष क्षत्रियों में पाया जाता है। युद्ध जैसी विषय और भयंकर परिस्थितियों में संयमित होकर वे लड़ते रहते हैं। क्षत्रिय लोग युद्ध में मर जाना पसंद करते हैं, परन्तु पीठ दिखाकर भागते नहीं है। यह अपलायनम् का गुण अन्य लोगों में नहीं पाया जाता। इसलिए अन्य लोग युद्ध जैसी विषम परिस्थितियों को छोड़कर स्वतः ही भाग जाते हैं।

(छः) दानम् : क्षत्रियों में दान देने का विशेष स्वाभाविक गुण रहता है। गरीबों, असहायों तथा निर्बल निर्धन वर्ग के असहाय लोगों को सहायता की आवश्यकता रहती है। क्षत्रिय जन इस प्रकार की सहायता समाज में दिया करते हैं। इतिहास में कई राजाओं की दान की वृत्ति का उल्लेख आता है। वे विशेष अवसरों पर अपने राज्य का सम्पूर्ण कोष ही दान दे दिया करते थे। इस प्रकार की दानवृत्ति विशिष्ट प्रकार की कही जाएगी। इस प्रकार दान देना क्षत्रियों का स्वाभाविक गुण है।

(सात) ईश्वर भाव : शास्त्रों में राज ऋषियों का वर्णन आता है। राज ऋषियों का अर्थ होता है कि वे राजा भी होते हैं और ऋषि भी होते हैं। राजा के रूप में शासन प्रशासन की व्यवस्था करना और इसी के रूप में समग्रता से परमात्मा के प्रति समर्पित रहना। यह विशिष्ट भाव है। सामान्य रूप से जब मनुष्य को राज्य सत्ता प्राप्त हो जाती है तो वह अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगता है, परन्तु सत्ता सुख प्राप्त होने के पश्चात् परमात्मा का स्मरण बना रहे तथा सत्ता सुख का क्षणिक और विनाशशील भाव रहे तो इसे ईश्वरभाव कहा जाता है। यह क्षत्रियों का स्वाभाविक गुण है।

(ग) वैश्य का स्वाभाविक गुण :–

वैश्य वस्तुतः समाज के लिए भरण पोषण की व्यवस्था करता है। कृषि अर्थात् खेती करना, अपना जीवन का निर्वाह करना, गायों को पालना पोसना, व्यापार आदि करना वैश्यों का स्वाभाविक गुण है। वैश्यवर्ण के लोगों में व्यापार और कृषि जैसे कर्मो की विशेषता होती है। यह गुण अन्य वर्णो में कम ही पाया जाता है। इस कारण समाज में जो मनुष्य कृषि और व्यापार रूपी कर्म में लगे होते हैं उन्हें वैश्य वर्ण का मानना चाहिए।

(घ) शूद्र के स्वाभाविक गुण :–

शूद्र समाज का सर्वाधिक विशिष्ट और महत्वपूर्ण अंग है जो अपने परिचर्यारूपी गुण से विभूषित होता है। सभी लोगों की सेवा को तत्पर रहना शूद्र का विशिष्ट गुण है। सेवा भाव के परिणाम से मनुष्य को उसके जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में अतिथियों के पैर धोने रूपी परिचर्या का कार्य किया था। यह सेवा रूपी विशिष्ट गुण है। जब श्रीभगवान इस प्रकार के सेवा रूपी कार्य को कर सकते हैं तो शूद्रों में यह विशिष्ट गुण विशेष कारणों से ही होता है। हमें समाज के अन्य लोगों की सेवा करने का जो अवसर मिलता है उससे प्रकट में तो कुछ हीनता प्रतीत होती है परन्तु उससे अप्रकट में बहुत पुण्य लाभ होता है।

(ङ) स्वाभाविक गुण का अभिप्राय : –

प्रत्येक मनुष्य का एक स्वभाव होता है और उसी स्वभाव के वशीभूत होकर, प्रेरित होकर मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक कर्म करता है। मनुष्य स्वभाव के दो प्रमुख आधार हैं एक पूर्व जन्मों के कृतकर्म तथा दूसरे इस जन्म में किये जाने वाले कर्म। पूर्व जन्मों के कृतकर्मो के आधार पर मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है और वह उसी के अनुसार कार्य करता है। जैसे किसी व्यक्ति को खट्टा स्वाद प्रिय होता है। किसी को खट्टा,

कड़ुवा, नमकीन प्रिय होता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के पदार्थो में प्रियता होती है और वह उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है। यह समस्त वर्णो में होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति हास्यरस से भरपूर पुस्तकों को पढ़ना चाहता है। कोई श्रृंगार रस में डूबना चाहता है और कुछ मनुष्य आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने में रूचि रखते हैं। यह पृथक्–पृथक् प्रकार के स्वभाव और रूचि स्वभावगत होते हैं। इस जन्म के कर्म भी मनुष्य के स्वभाव पर बहुत प्रभाव डालते हैं। यद्यपि कर्मो से संस्कार तथा पश्चात् में स्वभाव का निर्माण होता है, परन्तु देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म ही स्वभाव के उपार्जन का आधार है। जैसे कोई व्यक्ति मदिरापान करता है तो उसका स्वभाव ही उसे मदिरापान करने हेतु प्रेरित करता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में भी उपर्युक्त गुण स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं, अर्थात् ये स्वभाव में होते हैं। वर्तमान में भी इस तथ्य का आप अनुभव व्यवहार में कर सकते हैं। उपर्युक्त गुणों में कुछ न कुछ गुण सम्बंधित वर्णो के लोगों में पाये जाते हैं। यद्यपि वर्तमान में वर्ण व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी है, फिर भी स्वाभाविक गुण मनुष्य में रहते हैं। कोई भी मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों का जब परित्याग कर देता है तो उसे उसके वर्ण से पतित हुआ मानना चाहिए।

(54) दो प्रमुख निष्ठाऐं– कर्मयोग तथा सांख्ययोग :–

श्रीमद्भगवदगीता में दो निष्ठाओं का वर्णन हुआ है, जिसे एक को कर्मयोग तथा दूसरे को सांख्ययोग कहते हैं। कर्मयोगी के लिए कर्मयोग निष्ठा है और सांख्ययोगी के लिए सांख्ययोग निष्ठा है। सांख्ययोग को ज्ञानयोग भी कहा जाता है। पहले निष्ठा शब्द को सहज रूप में समझना चाहिए तत्पश्चात् कर्मयोग और सांख्ययोग के विषय से परिचित होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य निष्ठावान होता है और जिसकी जैसी निष्ठा होती है वह वैसा ही होता है। जैसे कोई कहता है कि हमारी निष्ठा भगवान शंकर में है तो वह अपनी निष्ठा के अधीन रहकर भगवान शंकर की उपासना करता है। दूसरा मनुष्य यह कहता है कि हमारी निष्ठा माता दुर्गा में है तो वह साधक माता दुर्गा में निष्ठा करके उनकी पूजा उपासना करता है। जैसे गोस्वामी तुलसीदास की निष्ठा भगवान श्रीराम में थी उन्होंने भगवान श्रीराम की पूजा उपासना निष्ठापूर्वक की और भगवान श्रीराम ने उनको दर्शन दिए। इसी प्रकार किसी की निष्ठा संकट मोचन हनुमान में है तो वह हनुमान जी की पूजा उपासना करता है तथा मंगलवार और शनिवार को विशेष पूजा का अनुष्ठान करता है।

मनुष्य में निष्ठा एक प्रकार का भाव है, जिससे भावित होकर वह उसी के अनुकूल कर्म करता रहता है। बहुत से लोगों को आपने यह कहते हुए सुना होगा कि मेरी निष्ठा

तांत्रिक क्रियाओं में नहीं है। अर्थात् ऐसे लोग तंत्र मंत्र को नहीं मानते हैं। इस प्रकार अनेक मनुष्यों की निष्ठा तांत्रिक क्रियाओं में नहीं है। कोई कोई मनुष्य ज्योतिष ज्ञान में निष्ठा नहीं रखते हैं तथा वे ज्योतिष को नहीं मानते हैं। यहां तक कि किसी की निष्ठा परमात्मा में नहीं होती है। ऐसे लोग परमात्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते है और इसी कारण उन्हें नास्तिक कहा जाता है। जिसकी निष्ठा परमात्मा में होती है उसे आस्तिक कहा जाता है। इस प्रकार निष्ठा के बारे में, उसके अर्थ के बारे में आपके अंतःकरण में कुछ भाव अवश्य स्पष्ट हो गया होगा।

श्री भगवान ने तत्त्व प्राप्ति हेतु दो निष्ठाओं का श्रीगीताजी में वर्णन किया है। श्री भगवान ने दो निष्ठाओं के वर्णन के पूर्व यह कहा कि इन निष्ठाओं का वर्णन हमने सृष्टि के आरम्भ में ही किया था और हे अर्जुन! मैं पुनः आपके समक्ष इन दोनों निष्ठाओं का वर्णन कर रहा हूं। वस्तुतः भगवद् प्राप्ति के यह दो उपाय विशिष्ट हैं, जिन्हें कर्मयोग तथा ज्ञानयोग कहा जाता है। दोनों ही उपाय विलक्षण हैं। भगवद्गीता में स्थान–स्थान पर इन दोनों उपायों की चर्चा हुई है। अनेक श्लोकों में इन निष्ठाओं के भावों को समाहित किया गया है। कौन सा श्लोक कर्मयोग निष्ठा वाला है और कौन सा श्लोक ज्ञानयोग निष्ठा वाला है, उसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की निष्ठाओं को समझकर सरलतापूर्वक जान सकते हैं। साधकों में इन दोनों निष्ठाओं की प्रमुखता रहती है जो स्वभावतः होती है। अर्थात् साधक अपने स्वभाव से इन निष्ठाओं का आचरण करने लगता है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के साधन को अति सरल रूप से समझना आवश्यक है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का श्री भगवान ने पृथक्–पृथक् रूप से विषद् वर्णन किया है। दोनों को अत्यंत सरलभाव से कहा गया है उसी आधार पर दोनों निष्ठाओं का सरलतापूर्वक प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है। कृपया साधकजन इसका अवलोकन करें–

(क) कर्मयोग निष्ठा :–

कर्मयोग निष्ठा में चार तथ्य प्रमुख हैं जिन्हें समझ कर आप कर्मयोग निष्ठा को समझ सकते हैं। कर्मयोगी साधक को निम्नांकित चार तथ्यों को समझकर उनका आचरण करना पड़ता है। ये चार तथ्य निम्न प्रकार हैं–

(एक) मनुष्य का कर्म में अधिकार :–

मनुष्य को परमात्मा ने एक विशिष्ट अधिकार प्राप्त किया है जिसे कर्म का अधिकार कहते हैं। कर्म करने के अधिकार के आधार पर मनुष्य कर्म करने हेतु स्वतंत्र है। वह चाहे तो कर्म, अकर्म, विकर्म सभी का सम्पादन कर सकता है। इसी अधिकार के आधार पर

मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है सत्कर्म भी करता है और दुष्कर्म भी करता है, क्योंकि कर्म करने का उसका अपना अधिकार है। परमात्मा ने मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दिया है, साथ ही बुद्धिरूपी तत्त्व भी प्रदान किया है जिससे वह कर्म, अकर्म और विकर्म को परख कर कर्म का आचरण कर सकता है। जिस प्रकार एक वाहन में उसके नियंत्रण हेतु तथा उचित मार्ग पर संचालन हेतु विभिन्न प्रकार के उपकरण लगे होते हैं जो वाहन चालक को बिना दुर्घटना के गंतव्य तक पहुंचाते हैं। उसी प्रकार मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि प्रदान की है जिसकी शक्ति को विवेक कहा जाता है। इस विवेक के आधार पर मनुष्य अपने कर्तव्य कर्मो को जानकर उसका आचरण करे तथा अकर्तव्य का परित्याग करे। यह कर्मयोग का प्रथम चरण है। मनुष्य को कभी भी परमात्मा के द्वारा प्रदान किये गए कर्म के अधिकार का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए और कर्तव्य कर्म को पहचान कर उसका आचरण करना चाहिए। यही कर्मयोग का प्रथम चरण है।

(दो) परमात्मा को कर्मफल का अधिकार है :–

मनुष्य जो भी कर्म करता है उसको परमात्मा की व्यवस्था के अधीन अंकित किया जाता है और उसी अंकन के आधार पर उसे उसके कर्मफल की उपलब्धि हो जाती है। मनुष्य यदि चाहें कि कर्म करके उसका परिणाम प्राप्त कर ले तो यह संभव नहीं है, क्योंकि कर्माधिकार तो मनुष्य के पास सुरक्षित है और फलाधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है। मनुष्य के किस कर्म कौन सा फल देना है? यह कार्य परमात्मा का है। इस फलाधिकार के तथ्य को साधक को समझ लेना चाहिए। जब साधक यह तथ्य समझ जाता है कि समस्त कर्मो के फल में अधिकार नहीं है तो वह कर्तव्य कर्म का आचरण तो करता है परन्तु उसके फल की आकांक्षा नहीं करता है। कर्तव्य कर्म करके फल की आकांक्षा न करना कर्मयोग निष्ठा का दूसरा चरण है। साधारणतया मनुष्य कर्म करके कर्मफल की आकांक्षा करता है। कर्म का आचरण करके कर्मफल की आकांक्षा रखना ही कर्मयोग के प्रतिकूल कार्य है, क्योंकि कर्मफल में मनुष्य का अधिकार ही नहीं है और अधिकार न होने से फल की आकांक्षा करने से फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है वरन् फल की आकांक्षा का दोष लगता है। इस कारण कर्तव्य कर्म का आचरण करके फल की आकांक्षा का त्याग कर देना ही कर्मयोग है। यह कर्मयोग का दूसरा तथ्य है।

(तीन) कर्मफल का हेतु न होना :–

मनुष्य को कर्तव्य कर्म का आचरण करना चाहिए। यह कर्तव्य कर्म का आचरण अपने स्वयं के लिए नहीं वरन् अन्य लोगों के हितार्थ करना चाहिए, जिससे समाज

लाभान्वित हो। कर्तव्य कर्म का आचरण करें परन्तु उन कर्मों में कर्तापन का भाव भी न रहे। इसी प्रकार दो तथ्य प्रमुखता से समझ में आ जाते हैं। कर्तव्य कर्म का आचरण दूसरों के हितार्थ करना तथा उसमें अपने को निमित्त समझना अर्थात् कर्ता न मानना दूसरों के हितार्थ जो कर्तव्य कर्म होते हैं तथा यदि उनमें कर्तापन का भाव भी नहीं रहता है तो मनुष्य कर्मफल का हेतु नहीं होता है। कर्मफल का हेतु तब होगा जब उसमें सकाम भाव से अपने स्वार्थ के हेतु कर्मो का आचरण होगा। जैसे एक चिकित्सक यह मान ले कि हमारा रोगियों की सेवा करना कर्तव्य कर्म है और रोगियों की सेवा से लाभ की आशा का परित्याग कर दे तो उसमें कर्तापन के भाव में भी कमी रहेगी और निष्काम भाव से कर्मो का प्रतिपादन भी होगा। यदि चिकित्सक यह मान ले कि हम रोगियों को दवा देकर स्वास्थ्य लाभ दे रहे हैं और बदले में धन भी ले तो यह कृत्य कर्मयोग के प्रतिकूल होगा। इस सकाम भाव से किये गए कर्म का उसे शुभ अशुभ फल भी मिलेगा। इस प्रकार कर्मयोग के तीसरे तथ्य में कर्मफल का हेतु न होना सम्मिलित है, जिसमें निष्काम भाव से कर्मो का सम्पादन करना पड़ता है।

(चार) कर्म न करने में आसक्ति का त्याग :–

मनुष्य को कर्तव्य कर्मो का आचरण करना अभीष्ट है, क्योंकि कर्म न करने से शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता है। कर्म न करने वालों को अकर्मण्य कहा जाता है। जो मनुष्य कर्तव्य कर्म का आचरण नहीं करता है तथा प्रमाद के आश्रित होकर कार्य नहीं करता है तो उसकी कर्म न करने में आसक्ति हो जाती है। कर्म न करने में यह आसक्ति प्रमाद और आलस्य के कारण होती है। अथवा जब मनुष्य किसी कर्म में लाभ नहीं देखता तथा स्वार्थवश भी कर्मो का सम्पादन नहीं करता है। साधारणतया मनुष्य कर्म करने के पूर्व फल के विषय में विचार अवश्य कर लेता है। जैसे हम किसी को एक गिलास जल पिलाते हैं तो भी उसके फल पर विचार करते हैं। आज कर्म की निकृष्ट स्थिति यहां तक आ गई है, जैसे हम किसी की सहायता करते हैं, किसी का समर्थन करते हैं, किसी का पक्ष लेते हैं, किसी के लिए कार्य करते हैं, यहां तक कि हम कोई भी कार्य करते हैं तो उसमें फल का विचार रखते हैं कि हमें इस कार्य से क्या लाभ होगा? यह विचार कर्म की फलासक्ति है और यदि हमें लाभ प्रतीत नहीं होता है तो हम वह कार्य नहीं करते हैं। हम कार्य नहीं करेंगे, क्योंकि इस कार्य से कोई लाभ प्रतीत नहीं हो रहा है। ऐसा विचार रखते हैं।

मनुष्य जब कर्म करता है और उसमें प्रमाद न करके अपने कर्तव्य कर्म का आचरण करता है। बिना आसक्ति के कर्म में प्रमाद नहीं करता है तथा निस्वार्थ भाव से कर्माचरण करता है तो यह कर्मयोग का चौथा तथ्य है। कर्तव्य कर्मो में आसक्ति का त्याग करके

कर्तव्य कर्म का आचरण भी कर्मयोग कहा जाता है। इस प्रकार कर्तव्य कर्म में फल की इच्छा का त्याग करके फल को परमात्मा को अर्पित करके, निस्वार्थ भाव से कर्तापन की भावना न रखे बिना, समाज के हितार्थ कर्मो का आचरण करना ही कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग निष्ठा में निरन्तर साधन करने से तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। तत्त्व की उपलब्धि में कर्मो का सकाम भाव ही सबसे अधिक बाधक है तथा निष्कामभाव परम सहायक है। कर्तापन का भाव बाधक है, कर्तापन के भाव का त्याग सहायक है। कर्मफल की आकांक्षा बाधक है, कर्मफल की आकांक्षा का त्याग सहायक है। कर्तव्य कर्म का आचरण अनासक्त भाव से करना सहायक है, कर्म का आचरण आसक्ति के भाव से करना बाधक है। यही कर्मयोग का मूलमंत्र है।

(ख) ज्ञानयोग या सांख्ययोग निष्ठा :–

ज्ञानयोग निष्ठा का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ज्ञानयोगी अपने शरीर और अंतःकरण की क्रियाओं को अपने द्वारा होना नहीं मानता है। समस्त इन्द्रियां अपने–अपने विषयों में बरत रही हैं यह मानना ही ज्ञानयोग है। इस ज्ञानयोग को सांख्ययोग भी कहा जाता है। इसके आधार पर यह अनुभव करना पड़ता है कि इन्द्रियों और अंतःकरण की क्रियाऐं स्वतः ही हो रही हैं। वे साधक के द्वारा नहीं की जा रही हैं। इस संबंध में इन्द्रियों की क्रियाओं तथा अंतःकरण की क्रियाओं सहित प्राण की क्रियाओं को समझना पड़ता है। उक्त तथ्य के संबंध में विवरण निम्न प्रकार है–

(एक) कर्मेन्द्रियों की क्रियाऐं– पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि कर्मेन्द्रियां पांच होती हैं, जिन्में वाक्, पाद्, हस्त, उपस्थ तथा पायु कहा जाता है। वाक् अर्थात् वाणी से बोलने का कार्य होता है। वाणी, मन, बुद्धि के आश्रय से कार्य करती है। बिना उसके आश्रय एवं निर्देश से वाणी कार्य नहीं कर सकती है और यदि करती भी है तो वह असंयमित और अक्रमिक होता है। इस कारण वाणी अपने विषय में स्वयं नहीं बरतती है। वाणी का विषय बोलना है। वह स्वतः ही अपने अर्थ में बरतती नहीं है। व्यवहार नहीं करती है। मन और बुद्धि जिस गुण से प्रभावित रहते है वैसा आदेश वाणी को देते हैं। इसी प्रकार दूसरी कर्मेन्द्रियां हस्त और पाद भी मन और बुद्धि के संकेत एवं निर्देश पर कार्य करती हैं। हस्त अपने अदान–प्रदान के विषय में व्यवहार करता है और पैर नामक कर्मेन्द्रिय अपने विषय गमन में व्यवहार करती है। यह अदान–प्रदान और गमन रूपी जो क्रिया होती है वह भी मन और बुद्धि के आश्रय से होती है। मन, बुद्धि जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि गुणों के आधार पर कार्य करते हैं, इसलिए अदान–प्रदान और गमन हाथ और पैरों के द्वारा

स्वतः नहीं होता है। वह वस्तुतः गुणों के आधार पर होता है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह हस्त और पादरूपी कर्मेन्द्रिय भी अपने विषय में बरत रही है। इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियां भी मन और बुद्धि के आश्रय से व्यवहार करती हैं। इनमें गुण ही प्रमुख आधारभूत तथ्य हैं।

(दो) ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाऐं– ज्ञानेन्द्रियां भी पांच हैं जिन्हें कान, नेत्र, त्वचा, जिह्वा तथा नासिका कहा जाता है। कान से सुनने का कार्य होता है। यह सुनने का कार्य स्वतः ही होता है। अर्थात् हमारे कान शब्दों को ग्रहण करते रहते हैं। शब्द ग्रहण करने की प्रक्रिया स्वतः ही चलती रहती है। इसी प्रकार नेत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय संसार को देखने का कार्य करती है, क्योंकि इसका विषय रूप है। नेत्र भी खुले रहकर अपने विषय में बरतते रहते हैं। कथन का अभिप्राय यह है कि नेत्र जब खुले रहते हैं तो जगत की वस्तुओं को देखते रहते हैं और जब बंद होते हैं तो मन के आश्रय से बहुत दूर की वस्तुओं को देख लेते हैं। इस प्रकार कानों और नेत्रों के द्वारा सुनने और देखने की जो क्रिया होती है वह भी मन और बुद्धि के आश्रय से होती है। मन और बुद्धि गुणों के आश्रय से कार्य करते हैं। इस प्रकार नेत्रों और कानों का जो व्यवहार है वह वस्तुतः गुणों के आधार पर ही होता है। उससे पृथक नहीं हो सकता। ज्ञानयोगी यह तथ्य अनुभव करता है कि कान और नेत्र देखने और सुनने की क्रियाओं को स्वतः ही कर रहे हैं और कान तथा नेत्र जो भी देखते और सुनते हैं उन देखे और सुने हुए विषयों में ज्ञानयोगी कभी आसक्त नहीं होता है। यही ज्ञानयोग की विशिष्टता है। जैसे ज्ञानयोगी को त्वचा से कोमल स्पर्श का आभास होता है या नासिका से सुगंध का आभास होता है या जिह्वा से रस का आभास होता है तो वह इस आभास के प्रति उदासीनवत् भाव से व्यवहार करता है। उसका स्पर्श, गंध और रस के प्रति उपेक्षा का व्यवहार रहता है। उसके विचार और भाव में यह तथ्य रहता है कि समस्त ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयों में बरत रही हैं अर्थात् व्यवहार कर रही हैं। उन बरते हुए और व्यवहार किए गए विषयों में हमें आसक्त नहीं होना है। यह आसक्त न होने का जो भाव है वह अत्यंत उच्च कोटि का है जिसे सांख्ययोग की पराकाष्ठा पर ही जाकर अनुभव किया जा सकता है।

(तीन) अंतःकरण की क्रियाऐं– अंतःकरण में तीन तत्त्वों का विशिष्ट उल्लेख होता है जिन्हें मन, बुद्धि और अहंकार कहा जाता है। मन की वृत्ति संकल्प है। बुद्धि की वृत्ति विकल्प है जिसे विनिश्चय करना भी कहा जाता है तथा अहंकार की वृत्ति मिथ्याभास है इससे मनुष्य को मैंपन का बोध रहता है। इस प्रकार अंतःकरण का प्रत्येक भाग अपने–अपने वृत्तियों के अनुकूल व्यवहार करता है और यह व्यवहार भी पूरी तरह से गुणों के आधार पर होता है।

मन स्वतः ही कार्य करता है। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में मन की चेष्टाऐं चला करती हैं। हम आप सभी ने मन की चंचलता का आभास अवश्य किया होगा। इस प्रकार मन अपनी वृत्ति संकल्प में स्वतः ही विचरता है। इसी प्रकार बुद्धि की वृत्ति विकल्प है। अर्थात् बुद्धि मन द्वारा संकल्पित विषयों के विकल्प खोजती है, या फिर मन द्वारा विचारित विषयों को स्वीकार करके उन्हें सहमति प्रदान करती है। यह प्रक्रिया भी स्वतः चला करती है। अर्थात् मन का विचारण तथा बुद्धि का विनिश्चय कार्य स्वतः ही चलता रहता है।

सांख्ययोगी इस तथ्य को समझता है कि यह सब क्रियाऐं स्वतः और स्वाभाविक रूप से होती हैं। शरीर में अहंकार एक अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व हैं जो मनुष्य को उसकी संसारिक स्थिति का बोध कराता है तथा उसे संसार की वस्तुओं के स्वामित्व और अन्य लोगों के स्वामित्व की वस्तुओं में अंतर रखता है। अपने अस्तित्त्व का बोध का प्रमुख कारण अहंकार की क्रिया है। यह समस्त मनुष्यों में स्वतः ही होती है। इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार अंतःकरण की समस्त चेष्टाऐं स्वयंमेव चला करती हैं। जब मनुष्य सो जाता है अर्थात सुषुप्तिवस्था में होता है तो मन के संकल्प और बुद्धि के विकल्प समाप्त हो जाते हैं तथा उसका संसारिक अस्तित्त्व विलीन हो जाता है। सांख्ययोगी इस तथ्य को समझकर अंतःकरण की समग्र क्रियाओं को प्रकृति के द्वारा किया जाना मानता है।

(चार) प्राण की क्रियाऐं– मानव शरीर में पांच प्रमुख प्राण हैं और पांच सहायक प्राण होते हैं। पांच प्रमुख प्राणों के नाम प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान हैं तथा पांच सहायक प्राणों के नाम नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय हैं। प्रत्येक के पृथक्–पृथक् कार्य हैं। प्राण वायु से जीवन रहता है और यह निरंतर गतिशील रहता है। भूख प्यास का लगना, मल मूत्र का त्यागना, नेत्रों का खोलना, मींचना यह सब कार्य प्राण के ही धर्म हैं। भोजन का पाचन भी इन्हीं के द्वारा ही होता है। समस्त प्रकार के प्राणों के क्रियाऐं स्वतः ही चलती रहती हैं। यह तथ्य सांख्ययोगी जानता है और उसका आभास करता है। प्राण सहित समस्त प्राणों की क्रियाऐं स्वमेव ही चलती हैं। इसको किसी प्रकार से प्रेरित नहीं करना पड़ता है। सांख्ययोगी इस तथ्य को जानता है कि समस्त प्रकार के प्राण अपने धर्म में बरत रहे हैं। इसलिए वह प्राण की क्रियाओं में आसक्त नहीं होता है।

ज्ञानयोग का प्रमुख आधार ज्ञानयोगी के द्वारा इन्द्रियों, अंतःकरण, प्राणों की क्रियाओं को स्वयं ही चलना मानना है। स्वयं चलने में सांख्ययोगी उनमें आसक्त नहीं होता है अर्थात् इन्द्रियों की क्रियाओं में अंतःकरण की क्रियाओं में ज्ञानयोगी कभी आसक्त नहीं होता है। उसका आसक्त न होना ही ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है।

(55) समत्व योग–

उपर्युक्त दो निष्ठाओं अर्थात भगवद् प्राप्ति के साधनों के अतिरिक्त भी भगवद्गीता में परमात्मा के साक्षात्कार के अन्य साधनों का उल्लेख भी किया गया है। इन साधनों के समुचित पालन से तत्त्वोपलब्धि भी हो सकती है। ऐसे साधनों में समत्वयोग, भक्तियोग तथा ध्यानयोग का भी वर्णन आता है। समत्वयोग में साधक को तीन स्थितियां प्राप्त करनी होती हैं जो सामान्य रूप से प्राप्त किया जा पाना संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति इन तीन स्थितियों के प्रतिकूल कर्म करता है। यह तीन स्थितियां निम्न प्रकार हैं–

(एक) सिद्धि–असिद्धि में समभाव– प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है और उसके विचार में यह तथ्य रहता है कि उसके द्वारा किए गए कर्मों में सिद्धि प्राप्त हो। मनुष्य में यह भावना बलवती रहती है कि हम जो कर्म करें उसमें सिद्धि ही प्राप्त हो। वह असिद्धि के तथ्य को विचारकर भी दुखी हो जाता है। हम जो कर्म करते हैं उसमें सिद्धि और असिद्धि का सिद्धांत है अर्थात् हमें कर्मों में सिद्धि असिद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है? यह एक नियम है। सिद्धि और असिद्धि में समभाव तभी आ सकता है कि जब हम समझ लें कि सिद्धि असिद्धि मनुष्य की शक्ति के बाहर की स्थिति है। जैसे हम कोई व्यवसाय करते हैं तो उसमें हमें घाटा होता है। कभी–कभी हमारा निवेशित धन अर्थात् मूल धन भी डूब जाता है। यह हमारे कार्य की पूर्ण असिद्धि है। व्यवसाय के पश्चात घाटा भी नहीं होता है और हमें कुछ लाभ भी नहीं होता है। हमारा निवेश सुरक्षित रहता है तो यह सिद्धि भी नहीं है व असिद्धि भी नहीं है। जब हमारे निवेश में लाभ होता है तो साधारणतया इसे कर्म की सिद्धि कहा जाता है। व्यापार में हमारा मूलधन डूब जाऐ, समाप्त हो जाऐ अथवा वह दोगुना हो जाए इसमें हमें समभाव रखना चाहिए। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार सिद्धि अथवा असिद्धि में एक भाव रखना समत्वयोग कहा जाता है। यह स्थिति शीघ्रता से प्राप्त हो पाना संभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य कर्म की सिद्धि के लिए विचार व प्रयास करता है।

समत्वयोग का साधक यह जान जाता है कि मनुष्य का कर्म करने में अधिकार है। उस कर्म का परिणाम परमात्मा द्वारा ही प्रदान किया जाता है। हमारे जैसे कर्म होते हैं वैसा ही उसका परिणाम होता है। यह सब का सब परमात्मा की कर्म व्यवस्था के आधार पर चला करता है। वह परमात्मा हमारे कर्मो के आधार पर हमें फल प्रदान करता है। अथवा वह फल के संयोग को उपार्जित करता है। जैसे हमारे संचित कर्मो का परिणाम होता है वैसे ही हमें फल की प्राप्ति होती है। इस कारण इस सिद्धांत के आधार पर हमारे सिद्धि और असिद्धि में हमारे कर्म आधारभूत तथ्य हैं। अतएव साधक जब यह धारण दृढ़

कर लेता है तो वह सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखकर समत्वयोग का आचरण करता है। यह समत्वयोग की स्थिति शीघ्र नहीं आती है। साधना की निरंतरता से आती है।

(दो) सुख–दुख में सम हो जाना– प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुखों का तथा दुखों का संयोग रहता है। सुखों का संयोग होने से मनुष्य में प्रसन्नता का आभास हो जाता है और दुखों के संयोग से मनुष्य में दुख का अनुभव होता है। यह सामान्य तथ्य है। समत्वयोग के साधक में सुख में प्रसन्नता का भाव नहीं आता है और दुख में शोक का भाव उत्पन्न नहीं होता है। यह स्थिति हमें स्वयं ही उपार्जित करनी पड़ती है। जो समत्वयोग का साधक है वह सुख तथा दुख को परिस्थितिजन्य समझ लेता है। अर्थात् वह यह तथ्य जान लेता है कि दुखों का संयोग और सुखों का संयोग परमात्मा की कर्म व्यवस्था के आधार पर चलता रहता है। इस संयोग को रोक पाने की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। यह सब संयोग स्वतः ही उपार्जित होते हैं और इनका आधार भी हमारे कृतकर्म हैं जिन्हें संचित कर्म कहा जाता है। वे संचित कर्म जब फल देने को उद्वत होते हैं तो इससे हमारे भाग्य का निर्माण होता है जिसे सामान्य भाषा में प्रारब्ध कहते हैं और उसी के आधार पर हमें सुख दुख का आभास होता है। समत्वयोग के साधन में मनुष्य को यह धारणा दृढ़ करनी पड़ती है कि सुख तथा दुख क्रम से हमारे प्रारब्धानुसार आएंगे इसमें हम कुछ नहीं कर सकते हैं। इस भाव की दृढ़ता, समत्वयोग की सिद्धि मानी जाती है।

(तीन) मान–अपमान में सम हो जाना– प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सामान्यतः मान और अपमान का बहुत महत्व होता है। मान सम्मान प्राप्त होने पर मनुष्य सुख का आभास करता है और अपमानित हो जाने पर वह बहुत दुखी हो जाता है। मनुष्य का अपमान यदि उससे अधिक बलवान व्यक्ति करता है तो पीड़ित मनुष्य उसका तत्काल प्रतिउत्तर देने में असमर्थ होने के कारण उसके हानि के तथ्यों पर विचार करता रहता है और अवसर होने पर उसको हानि पहुंचाता है। इस प्रकार के अपमान के भविष्य में बहुत दुष्परिणाम देखे जाते हैं। निर्बल मनुष्य अवसर पाकर सामर्थ्यवान का प्रतिकार करता है अर्थात् उसे अपमानित करने का प्रयास करता है। समान स्तर के अपमान के कार्य के भी अनेक दुष्परिणाम होते हैं। यदि अपमानित होने वाला मनुष्य सक्षम है तो वह तत्काल ही अपने अपमान का बदला लेना चाहता है। इस प्रकार के दुष्परिणाम से हम सभी परिचित हैं। इस तथ्य के प्रतिकूल सम्मान मिलने पर हमें प्रसन्नता होती है और हम यह तथ्य अपनी स्मृति में संचित कर लेते हैं कि हमें सम्मान प्राप्त हुआ था। सम्मानित होना जीवन के विशिष्ट कर्मों में सम्मिलित होता है। मनुष्य अवसर आने पर यह कहता है कि अमुक अवसर पर

हमें बहुत सम्मान प्राप्त हुआ था। सम्मान का परिणाम प्रसन्नता है और सुख का आभास होना है।

समत्वयोग के साधन में साधक को मान और अपमान में समभाव की स्थिति प्राप्त करनी पड़ती है। यद्यपि यह स्थिति कठिन है। मान सम्मान में प्रसन्नता का आभास न हो और अपमानित होने पर दुख का आभास न हो। आप सभी ने कतिपय कारणों से अपमानित होने पर अपनी मनःस्थिति का अवलोकन किया होगा। मनःस्थिति अपमानित होने के पश्चात् अत्यंत अव्यवस्थित हो जाती है। यह मनःस्थिति अव्यवस्थित न हो, समभाव में रहे तो इसे समत्वयोग कहा जाएगा। वैसे ही सम्मान प्राप्त होने पर प्रसन्नता का आभास तत्काल होता है और मुख पर उसका प्रकटीकरण भी होता है। सम्मान होने पर यह भाव प्रकट न हो अर्थात् सम्मान प्राप्ति पर हम प्रसन्न न हों तो यह समत्वयोग की सिद्धि का लक्षण है। समत्वयोग की सिद्धि साधक की अत्यंत उत्कृष्ट स्थिति आने पर होती है। वह मान अपमान में सम हो जाता है। वस्तुतः हम यह विचार रखें और इस विचार को दृढ़ कर लें कि यदि हमारे शुभ कर्म हैं तो हमें स्वतः ही सम्मान प्राप्त होगा और यदि हमने किसी को अपमानित किया है तो हम भी किसी के द्वारा अवश्य ही अपमानित किए जाएगे। यह निश्चित सिद्धांत है। यही समत्वयोग का मूलमंत्र है जिससे साधक को तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है।

(56) भक्तियोग साधन

परमात्मा की अनुभूति का एक साधन भक्ति भी है। इसमें साधक को भगवान के प्रति अपने को समर्पित करना पड़ता है। पूर्ण समर्पण होने पर हमें परमात्मा की सहज अनुभति होती है। भक्तियोग साधन के साधक को परमात्मा के प्रति स्नेह इतना बढ़ जाता है कि वह परमात्मा को अपनी स्मृति से बाहर नहीं करता है। हम उसे विस्मृत नहीं कर पाते हैं ओर चाहकर भी भूल नहीं पाते हैं। जैसे हमारी प्रियता किसी संसारिक वस्तु या व्यक्ति से हो जाती है, रहती है, यदि उसी प्रकार जब हमारे मन में परमात्मा के प्रति अनुराग उमड़ता है तो वह परमात्मा हमें कभी विस्मृत नहीं करता है। भक्त की स्मृति में भगवान कभी विस्मृत नहीं होता है। उच्च कोटि के भक्त भगवान को बहुत स्नेह करते हैं। इस कारण भगवान भक्त के वश में हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है।

(एक)– भगवान भक्त के वश में हैं– भगवान भक्त के वश में हैं इस कारण वह पराधीन हैं। स्वाधीन नहीं हैं। यह बड़ी विलक्षण स्थिति है। इस समग्र ब्रह्माण्ड का रचयता भक्त के

स्नेह में फंसकर अपने को भक्त के अधीन कर लेता है तो इसे अलौकिक स्थिति कहा जाएगा। श्रीमद्भागवत के नवम् स्कन्ध के चौथे अध्याय के तिरसठवें और चौसठवें श्लोक में इसका वर्णन हुआ है। इस प्रकरण का अवलोकन कीजिए–

–श्रीभगवानुवाच–

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।। 63।।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।।64।।

श्रीभगवान ने कहा– हे ब्रह्मन् मैं किंचित मात्र भी स्वतंत्र नहीं हूं। सभी प्रकार से भक्तों के आधीन हूं। साधु स्वभाव के भक्तों ने मेरे हृदय को अपने आधीन कर लिया है। भक्त मुझसे स्नेह करते हैं और मैं उन भक्तों से स्नेह करता हूं। समस्त भक्तों का आत्यंतिक आश्रय मैं ही हूं। साधुजन भक्तों के अतिरिक्त मैं स्वयं अपने को तथा अपनी प्रिया लक्ष्मी से अधिक स्नेह करता हूं।

(दो) भक्त की श्रेष्ठता– इस सृष्टि में बहुत सी योनियां हैं और समस्त योनियों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्तिकर्ता श्रीभगवान ही हैं। इस कारण वह सबसे श्रेष्ठ हैं। भगवान भक्त को श्रेष्ठ मानते हैं तथा उनके अधीन रहने का तथ्य विचार करते हैं। जैसा कि उन्होंने उपरोक्त प्रकार से कहा है। इस श्रेष्ठता के क्रम को भी हमें समझना चाहिए।

पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य से प्रमथगण श्रेष्ठ हैं। प्रमथगणों से गंधर्व श्रेष्ठ हैं। गंधर्वों से सिद्धजन श्रेष्ठ हैं। सिद्धजनों से देवताओं का अनुयायी किन्नर श्रेष्ठ है। किन्नर से असुर गण श्रेष्ठ हैं। असुरों से देवगण श्रेष्ठ हैं। देवताओं से इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्र से ब्रह्मा जी के पुत्र दक्ष आदि प्रजापति श्रेष्ठ हैं। दक्ष आदि प्रजापति से उनके पिता ब्रह्मा जी श्रेष्ठ हैं और ब्रह्मा जी से श्रीभगवान श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ब्रह्मा जी की उत्पत्ति श्रीभगवान से होती है परंतु श्रीभगवान कहते हैं कि मुझसे मेरे भक्तजन श्रेष्ठ हैं इसलिए भक्त तो सभी योनियों से श्रेष्ठ हैं।

(तीन) श्रीभगवान से अतिशय स्नेह करना– भक्तियोग साधन का प्रमुख आधार श्रीभगवान के प्रति अतिशय प्रेम का उपार्जन है। जीव का तथा श्रीभगवान का पुरातन, सनातन संबंध है। संसारिक विषयों के कारण यह संबंध धूमिल हो गया है। जीव भगवान का अंश है किंतु उसने संसार को गलती से अपना अंश समझा है, माना है, इस कारण हम संसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों से स्नेह करते हैं और उन्हें सदैव अपने समीप रखना चाहते हैं।

प्रयास यह रहता है कि उसका वियोग न हो। सदैव संयोग रहे। संसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों की तरह से यदि हम श्रीभगवान से स्नेह करेंगे तो उसे अपने समीप रखना चाहेंगे। वह वस्तु अथवा व्यक्ति की तरह से तो नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है। व्यक्त नहीं है परंतु अव्यक्त होकर भी वह हमारे अत्यंत समीप हैं।

इस प्रकार की अवधारणा से स्नेह स्वतः बढ़ता है। संसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति उनकी उपयोगिता के आधार पर स्नेह बढ़ता है। अर्थात् कोई व्यक्ति या वस्तु हमारे जीवन में, हमारे नित्य क्रियाकलापों में कितना सहयोगी है? और उसे हम किस प्रकार अपने सुख के लिए उपयोग कर सकते हैं? जितना उसका उपयोग अधिक होगा उससे उतना ही स्नेह बढ़ेगा। प्रेम रहेगा। जैसे हमारे आवास में नाना प्रकार की सुख सुविधाएं हैं तो हम जब आवास को छोड़ते हैं तो हमें कष्ट होता है। यदि हमें अन्य स्थान पर रहना पड़ता है जहां पर घर जैसी सुविधाएं नहीं हैं तो हमें हमारा घर याद आता है और हम उसकी ओर वापस आना चाहते हैं, क्योंकि हमें उस आवास से सुख मिलता है। इसी प्रकार संसारिक प्रियता रहती है, क्योंकि हम उससे सुख का आभास करते हैं। वैसे ही यदि हम उस भगवान से स्नेह करें तो उसमें भी हमें परमसुख की प्रतीति होगी और हम उसे विस्मृत नहीं कर पाएंगे। इस प्रकार उस भगवान से संसारिक वस्तुओं की तरह से हम स्नेह करते हैं और अपने प्रियजनों की तरह से प्रेम करते हैं तो यह साधन भक्तियोग कहलाता है।

(चार) भगवान में मन लगा देना– हमारा मन संसारिकता में भ्रमण करता है और नाना प्रकार की वस्तुओं में रमता है। ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय से तथा बिना आश्रय के अकेले ही मन संसारिक विषयों का उपभोग करता है। मन के संबंध में विशिष्ट रूप से इसी पुस्तक में वर्णन हुआ है जिससे मन की क्रियाविधि समझ में आती है। स्वयं भी इस क्रियाविधि को हम समझ सकते हैं। प्रातः हम जब जागते हैं तो मन का कार्य आरंभ हो जाता है और इन्द्रियों के संयोग में आने वाली वस्तुओं के बारे में मन विचार करने लगता है। यह प्रक्रिया रात सोने तक तथा स्वप्न की अवस्था में निरंतर रहती है। मन उठते, बैठते, चलते–फिरते, सोते–जागते अपना कार्य करता रहता है तथा उसकी चिंतन की प्रक्रिया निर्बाध रूप से चलती रहती है। यह प्रक्रिया मात्र सुषुप्तिवस्था में अर्थात् सोने के समय समाप्त होती है।

संसार के बारे में मन जो भी विचार करता है उस विचार को विराम देकर हम यदि श्रीभगवान के विषय में विचार करें तो यही भक्तियोग साधन आरंभ हो जाएगा। चूंकि मन बाल्यावस्था से संसार में रम रहा है। इस कारण श्रीभगवान में रमने से, लगाए रहने से उसकी ओर उन्मुख करने से वह श्रीभगवान के चिंतन के विषय को छोड़कर संसार की

ओर भागने को उद्वत रहता है और अनायास ही अर्थात् बिना प्रयास के भाग जाता है। यह भक्ति योग साधन में प्रमुख बाधा है। जब साधक के मन में भगवान के प्रति समर्पण का भाव आ जाता है और भक्त भगवान में अपने मन को समाहित कर देता है तब उसका मन संसारिक विषयों से हटता है। और श्रीभगवान में लगता है। यही भक्ति योग साधन की ओर उन्मुख हो जाना है। जब मन पूरी तरह संसार की संसारिकता का त्याग करके श्रीभगवान के चिंतन में संलग्न हो जावे तो यह भक्तियोग साधन की परिपक्वता कही जाती है जिससे मन संसार से हटता है और श्रीभगवान में स्थापित हो जाता है। तब श्रीभगवान भी उस खाली मन में आकर बैठते हैं।

(पांच) बुद्धि को श्रीभगवान में निवेशित कर देना– बुद्धि मन द्वारा संकल्पित विषयों को निश्चयात्मक स्वरूप प्रदान करती है अर्थात् मन जो भी विचार करता जाता है बुद्धि उस विचार को देखती है तथा उसे स्वीकृति प्रदान करती है अथवा उस विचार को अस्वीकृत भी कर सकती है। जैसे मन ने यह विचार किया कि हमें अमुक कार्य करना है तो उस कार्य के क्रियान्वयन की स्वीकृति हेतु बुद्धि के पास प्रस्ताव जाता है। बुद्धि उस कार्य के बारे में विचारकर उचित–अनुचित का निर्णय करके उसके क्रियान्व्यन किए जाने तथा न किए जाने का आदेश देती है। हम संसार में जितने भी कार्य करते हैं वह सब के सब मन के द्वारा विचारित किए जाते हैं और बुद्धि के द्वारा विनिश्चित किए जाते हैं। मन का ही यह विचारण परमात्मा की ओर, परमात्मा के विषय में हो जाने पर बुद्धि उसका विनिश्चय कर डालती है। बुद्धि की जो क्रियाशक्ति हैं उसको परमात्मा को समर्पित कर देने से संसारिक वस्तुओं का, विषयों का विनिश्चिय समाप्त हो जाता है। बुद्धि की क्रियाशक्ति विकल्प को परमात्मा में पूर्ण समर्पित कर देना बुद्धि को परमात्मा में निवेशित कर देना है।

हम सभी व्यवसाय में धन का निवेश करते हैं। वह धन जिस कार्य में निवेशित किया जाता है वह उस रूप में प्रकट हो जाता है। अर्थात् अपना वास्तविक स्वरूप छोड़ देता है। धन का निवेश विभिन्न स्वरूपों में प्रतीत होता है। वैसे ही हम जब बुद्धि को भगवान के स्वरूप में निवेश कर देते हैं तो बुद्धि भगवान के स्वरूप में ग्रहण करके उनके स्वरूप में हमें भासती है और अपने संसारिक स्वरूप का परित्याग कर देती है। बुद्धि का अपने स्वरूप का परित्याग करके भगवान के स्वरूप में परिवर्तित हो जाना ही भक्ति योग साधन है। यह साधन परिपक्व हो जाने पर साधक के व्यवहार में, वाणी की क्रिया में स्वतः प्रकट होता है। उसे सर्वत्र परमात्मा ही प्रतीत होता है। बुद्धि के श्रीभगवान में निवेश से मन स्वतः ही श्रीभगवान में ही लग जाता है। यह तथ्य ही उसी प्रकार है जैसे किसी कार्य में जब बड़े अधिकारी लग जाते हैं तो उसके अधीनस्थ सभी लोगों को स्वतः ही उस कार्य

में लगना पड़ता है। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। बुद्धि के परमात्मा में निवेशित होने से इन्द्रियां और मन स्वतः परमात्मा में लग जाते हैं। यह भक्ति योग के साधन का मूलमंत्र है जिससे भक्तियोग की सिद्धि होती है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि जड़ होते हुए भी चेतन स्वरूप श्रीभगवान को जान जाती हैं और उसका आभास करती हैं।

(छः) भगवान को स्वयं में समर्पित कर देना :–

भगवान में स्वयं को समर्पित कर देना भी भक्ति योग साधन है। इस तथ्य को हम अनेक प्रकार की सांसारिक क्रियाओं से समझ सकते हैं। जैसे हम किसी वाहन से हम यात्रा करते हैं तो उस वाहन का परिचालन किसी चालक के पास रहता है और निश्चित होकर अपनी यात्रा पूरी करते रहते हैं। हम वाहन में सो भी जाते हैं क्योंकि हम यह जानते हैं कि वाहन का चालक जाग रहा है और वह कुशलतापूर्वक हमें हमारे गतंव्य तक पहुंचा देगा। यात्रा चलती रहती है और हम निश्चित होकर चालक के आश्रय से यात्रा पूरी करते हैं। यह एक प्रकार का समर्पण भाव है। सांसारिक समर्पण का एक उदाहरण है। इसी प्रकार जब हम श्रीभगवान के प्रति हम अपने को समर्पित कर देते हैं और अपने शरीर को श्रीभगवान के सहारे कर देते हैं तो यह जीवनरूपी यात्रा स्वतः ही अपने अभीष्ट तक पहुंच जाती है। इस भक्तियोग साधन में समर्पण का विशेष महत्व है।

एक छोटा शिशु मां की गोद में निश्चिंत होकर सोता है उसे मां की गोद में गहन निद्रा आती है। उसने अपने शरीर का समर्पण माता में कर रखा है। माता जो उसे अपनी गोद में सुलाती है और उसका पूरा ध्यान रखती है। शिशु निश्चिंत होकर सोता रहता है वह संसार को नहीं जानता है। कोई यदि शिशु को मां की गोद से लेना चाहता है तो शिशु उसकी ओर से मुंह फेर लेता है, क्योंकि वह मां की गोद में शान्ति का आभास करता है। यह क्यों होता है? क्योंकि शिशु मां के स्नेह से अपने को सम्पूर्ण रूप से मां के प्रति समर्पित कर चुका है। इसी प्रकार जब कोई साधक भगवान की गोद में अपने को समर्पित कर देता है तो वह उसकी गोद में ही शान्ति का और परम् शान्ति का अनुभव करता है। वह परमात्मा की गोद से पृथक् नहीं होना चाहता। यदि संसार उसे खींचना भी चाहें तो वह संसार की ओर उन्मुख नहीं होता है। यही भक्तियोग की परिपक्वता है।

एक बालक घर में खेलता है और खेलते खेलते वह घर से बाहर निकल जाता है। खेलने में उसे जब प्रतिकूलता का आभास होता है तो वह तत्काल अपनी मां को पुकारता है अथवा मां की गोद की ओर तेजी से दौड़ता है, क्योंकि वह मां का आश्रय ग्रहण करना चाहता है। बालक का अपनी मां के प्रति अटूट विश्वास रहता है कि हमें मां की गोद में

सुरक्षा अवश्य प्राप्त होगी। उसका यह भाव दृढ़ रहता है कि वह मां की गोद में पहुंच जाने पर, समर्पित हो जाने पर मां उसकी रक्षा अवश्य करेगी। इसी प्रकार जब भक्त भगवान के प्रति समर्पित हो जाता है तो वह प्रत्येक स्थिति में भगवान की ओर ही भागता है। उसे यह ज्ञात रहता है कि हम प्रतिकूलता में यदि भगवान के प्रति समर्पित हो जायेंगे तो वह प्रतिकूलता स्वतः ही भाग जाएगी। प्रतिकूलता टिक नहीं सकती है। यह समर्पण भाव भक्ति योग का साधन है। उत्कृष्ट समर्पण भाव से भक्तियोग पुष्ट होता है, परिपक्व हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य जब अपने को भगवान के प्रति समर्पित कर देता है तो यह समर्पण का भाव ही भक्तियोग साधन कहलाता है।

(सात) भगवान को स्मरण में रखना :–

संसार में जो भी वस्तुऐं हैं, जो भी व्यक्ति है, जिनका हमारे से सम्पर्क हुआ है, रहा है, उनकी स्मृति हमारे अंतःकरण में संचित रहती है। मन स्मृति में संचित वस्तुओं, घटनाओं, दृश्यों का पुनः पुनः स्मरण करता है। यह सबका सब मन स्वतः ही करता रहता है। अर्थात् स्वतः ही चला करता है। सामान्यतः स्मरण में संसार के विषय रहते हैं। इस संसार के विषयों के स्थान पर यदि स्मरण में परमात्मा रहे तो यह भक्तियोग साधन का आरम्भ होना कहा जाएगा। हमारे स्मरण में संसार स्वतः ही आता है और रहता है। इसके लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ता है। सम्पूर्ण सांसारिक घटनाऐं स्वतः ही घूमती रहती है, उसके लिए हम कोई प्रयास नहीं करते हैं। उसी प्रकार हम जब भगवान का स्मरण करते हैं तो भगवान हमारे स्मरण में स्वतः ही रहते हैं और वह बिना प्रयास ही आ जाते हैं। जब भगवान हमारे स्मरण में बिना प्रयास आने लगते हैं तो समझों कि भक्तियोग साधन ठीक ठीक प्रकार से चल रहा है। पहले स्मरण में भगवान को लाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु स्मरण में भगवान के आ जाने पर स्वतः ही उनका स्मरण रहता है। यह स्थिति भक्तियोग साधन की पुष्ट स्थिति है। ऐसी स्थिति में परमात्मा का स्मरण जब नित्य हो जाता है तो इसे साधन की परिपक्वता कहा जाता है।

परमात्मा के प्रति स्मरण रखना तथा उसके प्रेम में डूब जाना यह समस्त प्रकार के साधनों में विशिष्ट साधन हैं तथा सभी साधनों का आधार है। जब तक साधक परमात्मा के प्रेम में और उसके स्नेह में डूबता नहीं है, सामाहित नहीं होता है। एकाकार नहीं होता है तब तक कर्मयोग, ज्ञानयोग, समत्वयोग साधन भी अच्छी प्रकार से फलदायी नहीं होते हैं। इस कारण परमात्मा के प्रति स्नेह और उसकी भक्ति सभी साधनों में उभयनिष्ठ तथ्य के रूप में रहती है। इसलिए साधक किसी भी साधन का अवलम्बन करे उसे परमात्मा का आश्रय और स्नेह अवश्य करना चाहिए।

(57) ध्यानयोग साधन :–

ध्यानयोग साधन परमात्मा के साक्षात्कार का एक प्रमुख साधन है। महर्षि पतंजलि ने ध्यानयोग पर आधारित योगदर्शन नामक ग्रंथ का प्रणयन किया था, जिस पर आज अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं। महर्षि पतंजलि ने ध्यानयोग के विशिष्ट ग्रंथ के अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण के ग्रंथ महाभाष्य तथा आयुर्वेद के ग्रंथ चरक संहिता का भी प्रणयन किया था जो अपने क्षेत्र के उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। योगदर्शन नामक ग्रंथ पर पहले व्यास नामक महानुभाव ने **व्यास भाष्य** नामक टीका लिखी। उसके पश्चात् वाचस्पति मिश्रा ने **तत्त्व वैशारदी टीका** तथा विज्ञान विक्षु ने व्यास भाष्य पर **वार्तिकी** नामक विस्तृत टीका लिखी। महाराज भोज ने **वृत्ति** नामक पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त योगदर्शन पर रामानन्द कृत **मणि प्रभा** तथा सदा शिवेन्द्र कृत **योग सुधाकर** टीकाऐं भी लिखी। उक्त के अतिरिक्त अनेक महानुभाव ने योग दर्शन पर अनेक टीकाऐं लिखी हैं।

सम्पूर्ण योगदर्शन चार अध्यायों में विभक्त ग्रंथ है, इसे 1– समाधिपाद 2– साधनपाद 3– विभूतिपाद, 4– कैवल्यपाद कहा जाता है। यह ग्रंथ सूत्र रूप में है और इस ग्रंथ की विशिष्टता अष्टांग योग है, जिसमें महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का वर्णन किया है, जिन्हें 1–यम 2–नियम 3–आसन 4–प्राणायाम 5–प्रत्याहार 6–धारणा 7–ध्यान और समाधि कहा जाता है। महर्षि पतंजलि ने यम के पांच प्रकार बताये हैं जिन्हें 1–अहिंसा 2–सत्य 3–अस्तेय 4–ब्रह्मचर्य 5–अपरिग्रह कहते है तथा नियम के भी पांच प्रकार कहे हैं जिन्हें 1–शौच 2–संतोष 3–तप 4–स्वाध्याय 5–ईश्वर प्राणिधान कहा जाता है। समाधि से परमात्मा की नित्य अनुभूति होती है यह ध्यानयोग की अंतिम स्थिति है।

भगवद्गीता के छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। इस अध्याय को आत्मसंयमयोग के नाम से कहा जाता है। गीताज्ञान के सातवें खण्ड में ध्यान का विशिष्ट वर्णन किया गया है, इस कारण गीताज्ञान का सातवां खण्ड ध्यान की जानकारी हेतु पढ़ना चाहिए।

(क) ध्यान की योग की प्राथमिक आवश्यकताऐं :–

ध्यानयोग साधन की चार प्रमुख आरम्भिक आवश्यकताऐं है। 1–उचित आहार ग्रहण करना 2–उचित विहार करना 3–कर्मो में उचित चेष्टा और 4–समय से सोना और जागना। ध्यानयोग के साधन में सर्वप्रथम साधक को सात्त्विक भोजन ग्रहण करना चाहिए। सात्त्विक भोजन का अर्थ है, जिसमें आरोग्यता रहती है शारीरिक बल बढ़ता हो, आयु का

विकास होता हो, सुख की प्रतीति हो और प्रसन्नता का अनुभव हो। यह सात्त्विक आहार रसयुक्त, स्थिर भाव वाले, हृदय को सामर्थ्य देने वाले चिकने होते हैं। फल, दूध तथा दूध से बनी वस्तुऐं, हरी सब्जी आदि सात्त्विक आहार में आते हैं। यह ध्यानयोग के लिए वास्तविक आहार है। उचित विहार का अभिप्राय यह है कि ध्यानयोग के साधक को ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिए जिससे रज और तम गुण की वृद्धि हो जाए। मंदिर, सत्संग आदि स्थानों पर उसे विशेष रूप से जाना चाहिए। ध्यानयोग की तीसरी आवश्यकता कर्मो में उचित चेष्टा का अभिप्राय है कि ध्यानयोगी को ऐसे कार्य कदापि नहीं करने चाहिए जिससे उसकी वृत्ति तथा विचार सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त हो जावे। यदि ध्यानयोगी ऐसे कार्य करता है जिससे उसका ध्यान सांसारिक विषयों और क्रियाओं की ओर जाता है तो यह ध्यानयोगी के लिए हानिप्रद है। चौथी आवश्यकता के रूप में उचित रूप से सोना और जागना सम्मिलित है। ध्यानयोगी को रात्रि में उतना विश्राम करना चाहिए जिससे उसमें आलस्य का समापन हो जाए और शरीर में स्फूर्ति बनी रहें। इस प्रकार ध्यान योगी के लिए उपर्युक्त चार मौलिक आवश्यकताऐं अनिवार्य हैं, जिनका पालन उसे अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।

(ख) ध्यानयोग हेतु आसन :–

ध्यानयोग हेतु जिस प्रकार के आसन की आवश्यकता होती है उसका भी वर्णन भगवद्गीता में किया गया है। इस आसन पर बैठने से ध्यानयोगी ध्यान का आभास करना चाहता है वह आसन स्थिर हो अर्थात् हिलता डुलता न हो। यह आसन की प्रथम आवश्यकता है। आसन के हिलने डुलने से अर्थात् स्थित न रहने से ध्यान साधना में विघ्न आता है, इस कारण जो भी आसन ध्यान योग हेतु हो वह स्थिर हो। दूसरी आवश्यकता आसन के लिए यह है कि आसन बहुत ऊंचा न हो और बहुत नीचा न हो। अर्थात् आसन सामान्य स्थिति का हो। बहुत ऊंचे आसन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस पर आसानी से सहजतापूर्वक पहुंचना संभव हो और उस पर बैठा जा सके। स्थिर तथा सामान्य श्रेणी के आसन पर वस्त्र, कुश तथा मृगछाला बिछा लेना चाहिए। वर्तमान में मृगछाला उत्पन्न होना दुष्तर है, इस कारण उसके स्थान पर ऊनी वस्त्र आदि बिछाकर ध्यान करना चाहिए। इससे ध्यान में सहजता होती है।

(ग) ध्यानयोग साधन में साधक की स्थिति :–

ध्यानयोग के साधन में साधक को शरीर की स्थिति किस प्रकार रखनी चाहिए ? इसका भी वर्णन गीताजी में हुआ है। साधक को ध्यान की साधना में पहला कार्य स्थिर

रखने का है। अर्थात् साधक को आसन पर बैठकर हिलना डुलना नहीं चाहिए अतः स्थिर रूप से बैठना चाहिए। बैठने में पीठ गर्दन, तथा सिर एक सीध में होने चाहिए। इस तथ्य से झुकने का निषेध हुआ है। ध्यानयोगी साधक के सम्पूर्ण शरीर को सिर के साथ एक सीध में रखने का प्राविधान है। शरीर स्थिर हो और एक सीध में रहे। आसन पर ध्यान योग की यह स्थिति लाकर अपने नेत्रों से नासिका के अग्रभाग को देखने का उपक्रम करे नासिका के अग्रभाग को देखने का अभिप्राय यह है कि ध्यान को एक स्थान पर एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहिए। नासिका के अग्रभाग को देखने का एक अभिप्राय यह भी है कि साधक की दृष्टि अन्यंत्र न जाए। जब साधक बैठने की स्थिति उक्त प्रकार से हो जाए तो उसे ध्यान में अन्य क्या क्रिया करनी पड़ती है इसे समझना चाहिए।

(घ) ध्यानयोग साधन की क्रिया :—

ध्यानयोग साधन में चार विशेष स्थितियां हैं जिन्हें समझ कर हम ध्यानयोग की सम्पूर्ण क्रिया को सफलतापूर्वक समझ सकते हैं। यह चारों स्थितियां निम्न प्रकार हैं—

(एक) इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करना :—

इन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों का अर्थ लेना चाहिए क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाऐं जब वश में हो जाती है तो कर्मेन्द्रियों की क्रियाएं स्वतः ही वश में आ जाती है। कथन का अभिप्राय यह है कि विशेष कर ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं को वश में कर लेने से कर्मेन्द्रियों की क्रियाऐं अधिक सीमा तक नियंत्रित हो जाती हैं, क्योंकि कर्मेन्द्रियों की क्रियाऐं ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं की अपेक्षा निम्न प्रकार की हैं। ज्ञानेन्द्रियां मानव शरीर में पांच हैं, जिसका वर्णन पूर्व में भी किया जा चुका है। इन ज्ञानेन्द्रियों को कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका कहते हैं। कर्ण की क्रिया सुनना है। नेत्र की क्रिया देखना है। जिह्वा की क्रिया रस लेना है, त्वचा की क्रिया स्पर्श करना है और नासिका की क्रिया गंध लेना है। नेत्र की क्रिया देखने में वह दृश्य कदापि न देखें जिससे मन में विकृति उत्पन्न हो तथा मन सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख हो जावें। मन पर नियंत्रण कर लेने से ध्यानयोग साधन में बहुत लाभ होता है। कर्ण की क्रिया सुनना है। हमें ऐसे शब्द कदापि नहीं सुनने चाहिए जिससे समस्त सांसारिक भोगों की ओर प्रवृत्ति हो जावें। रस, स्पर्श और गंध में भी हमें अपने को संयमित रखकर कार्य करना चाहिए। ज्ञानेन्द्रियों की जो क्रियाऐं हैं उनसे ही साधना के काल में मन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं और ध्यान की साधना प्रभावित होती है। इस प्रकार ध्यान योगी की साधना में इन्द्रियों की क्रियाओं को संयमित करने का आदेश दिया गया है।

(दो) मन को एकाग्र करना :—

ध्यानयोग की साधना में मन की एकाग्रता का बहुत विशेष स्थान है। मन के संयमन के अभाव में ध्यानयोग की साधना की परिपक्वता असंभव है। मन की चंचलता के विषय में सभी साधक जानते हैं और इसका पूर्व में भी उल्लेख हो चुका था। जब हम ध्यान का प्रयास करते हैं तो मन असंयमित होकर भागता है। मन के नियंत्रित न हो पाने के कारण ध्यान की साधना में अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त होती है। वस्तुतः ध्यान को संयमित मन का स्वरूप कहें तो उचित ही होगा। चंचल मन की एकाग्रता हेतु दो साधनों का उल्लेख किया जाता है। चूंकि मन पुनः पुनः भागता है इस कारण हमें यह अभ्यास पुनः पुनः करना पड़ता है। मन जहां जहां, जिन जिन सांसारिक विषयों में विचरता है उन उन सांसारिक विषयों से मन को हटाकर इष्ट में स्थापित करने की प्रक्रिया अभ्यास कहलाती है। अभ्यास की दृढ़ता हेतु हमें वैराग्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। वैराग्य का अर्थ है कि हमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का भाव समाप्त करना पड़ता है। सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति भाव ही साधना में मन को संयमित करने में बाधक होता है। इस कारण हमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का भाव समाप्त करना चाहिए। आसक्ति का अर्थ है कि हम सांसारिक वस्तुओं को अपना मानते हैं और उनके प्रति मोह रखते हैं। उसे हमें वैराग्य से छोड़ना चाहिए। अन्ततः सभी सांसारिक वस्तुऐं छूट जाती हैं। वे स्वतः ही छूट जायें उससे पहले हमें उनको छोड़ देना चाहिए। यही वैराग्य है जिसकी दृढ़ता से चंचल मन शीघ्र ही स्थिर हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति जो मोह होता है उसका परित्याग करना ही वैराग्य का पर्याय है। इस प्रकार साधक को मन की क्रियाओं को अभ्यास तथा वैराग्य से नियंत्रित कर लेना चाहिए।

(तीन) चित्त की क्रियाओं को वश में करना :—

चित्त की वृत्ति चिंतन है। चित्त से अधिकांशतः चिंतनरूपी कार्य होता है। यह चिंतन सांसारिक होता है। ध्यान में जब चित्त सांसारिक विषयों का चिंतन करता है तो ध्यान में अवरोध आ जाता है। सांसारिक विषयों का चिंतन ही ध्यान साधना के प्रतिकूल है। मन में सांसारिक विषयों के घूमने, चित्त के सांसारिक चिंतन में अंतर है। मन जब सांसारिक विषयों में घूमता है तो ठहरता कम है परन्तु चित्त के स्वरूप में ठहर कर सांसारिक विषयों का स्वाद लेता है। मन का न ठहरना तथा चित्त का किसी विशेष विषय में ठहर कर चिंतन करना यह पृथक्—पृथक् स्थितियां हैं। सामान्य लोग इस पर विचार नहीं करते हैं परन्तु साधक करता है। जैसे कई सुन्दर वस्तुऐं है तो मन प्रत्येक को बारी—बारी

से देखकर उस पर बिना ठहरे उसकी सुन्दरता का स्वाद ले लेता है, परन्तु चित्त उस पर ठहर कर उसकी सुन्दरता पर विचार करता है। एक के पश्चात् दूसरे में अंतर पर भी विचार कर लेता है। इस प्रकार चित्त की क्रियाओं तथा मन की क्रियाओं में अंतर रहता है। चित्त मनुष्य को परमात्मा के द्वारा दी गई विशेष शक्ति है, जिससे अनेक प्रकार के चिंतन होते हैं। मनीषी, दार्शनिक, चिंतक और विचारक इस चित्तरूपी शक्ति का अधिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार ध्यानयोग साधना में चित्त की क्रियाओं अर्थात् सांसारिक चिंतन को संयमित करना पड़ता है।

(चार) परमात्मा में चित्त को समाहित करना :–

ध्यानयोग का अभीष्ट परमात्मा है इस कारण परमात्मा में ही चित्त को समाहित करना पड़ता है। जिसे महर्षि पतंजलि ने समाधि की अवस्था कहा है, उसे श्रीगीताजी में परमात्मा में चित्त को समाहित होना कहा है। चित्त जो भी सांसारिक चिंतन करता है उसको समग्रता से समाप्त करने के लिए परमात्मा के स्वरूप में उसे स्थापित कर देना ही ध्यानयोग की परिपक्वता है। ऐसे भी इन्द्रियों की समस्त क्रियाऐं समाप्त हो जाती हैं मन एकाग्र हो जाता है और चित्त का चिंतन सांसारिक विषयों से समाप्त होकर परमात्मा के प्रति होने लगता है। चित्त जब सांसारिक विषयों के चिंतन को समाप्त करके परमात्मा के चिंतन में समग्रता से रत हो जावे तो इसे ध्यानयोग की सफलता समझनी चाहिए। यह स्थिति सहजता से नहीं आती है, अतिशय प्रयास के उपरान्त आ जाती है।

(ङ) सिद्ध ध्यानयोगी के चित्त की स्थिति :–

सिद्ध ध्यानयोगी की परख हेतु निम्नांकित स्थितियां हैं, जिन्हें जानकर साधक ध्यान योग की सिद्धता का आभास स्वयं कर सकता है और अपनी स्थिति को परख सकता है।

(एक) सांसारिक कामनाओं से स्पृहारहित होना :–

प्रत्येक मनुष्य के मन में सांसारिक कामनाऐं रहती हैं और यह कभी पूरी नहीं होती हैं। जीवन में हम जिन जिन सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करते हैं उनमें सदैव कुछ न कुछ कमी का आभास रहता है। यह कमी का आभास स्पृहा के कारण होता है। सांसारिक वस्तुओं की कमी का आभास रहना ही स्पृहा कहा जाता है। साधारणतया मनुष्य सांसारिक कामनाओं का आभास करता है और उनमें कुछ न कुछ कमी का भी आभास रहता है। यदि कमी का आभास न हो तो यह स्थिति स्पृहारहित कही जाएगी। ध्यानयोग में जब पूर्णता आ जाती है तो ध्यानयोगी का चित्त सांसारिक वस्तुओं की कमी का आभास नहीं करता है।

उसका चित्त सांसारिक वस्तुओं के बारे में विचार ही नहीं करता है जब सांसारिक वस्तुओं के बारे में विचार ही नहीं करता है तो सांसारिक वस्तुओं की कमी के आभास का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस कारण ध्यानयोग की पूर्णतः में सांसारिक कामनाओं का चिंतन नहीं होता है, जिसके कारण स्पृहारहित स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

(दो) चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है :–

सामान्यतः समस्त मनुष्यों का चित्त सांसारिक चिंतन में स्थित रहता है। यह स्थिति मनुष्य के स्वरूप में स्थित रहने के प्रतिकूल है। चित्त संसार की वस्तुओं का उनकी उपयोगिता का तथा वे हमारे लिए किस प्रकार उपयोगी हैं? इस विषय के चिंतन में लगा रहता है। मनुष्य का चित्त जो कुछ भी चिंतन करता है वह सबका सब विषय क्षणिक है, नाशवान है, समाप्त होने वाला है। मनुष्य का जो वास्तविक स्वरूप है वह सनातन है, अविनाशी है, कभी समाप्त होने वाला नहीं है। यह मनुष्य की कमी है कि वह क्षणिक नाशवान और अस्थायी वस्तुओं को निरन्तर अविनाशी तथा स्थायी समझ कर व्यवहार करता है। इस कारण वह अपने स्वरूप के बोध से भटक कर सांसारिक अनित्य वस्तुओं का चिंतन करता है और उनमें सुख मान कर रमा रहता है। ध्यानयोगी समस्त सांसारिक वस्तुओं की वास्तविकता को समझ कर अपने स्वरूप के चिंतन में स्थित हो जाता है तथा सांसारिक चिंतन का समापन कर देता है। यह ध्यानयोगी की पूर्णता की परख है।

(तीन) वायुरहित स्थान में दीपक की लौ के समान चित्त की स्थिति :–

जब वायु हल्की गति से चलती है तो दीपक की ज्योति भी वायु के संसर्ग से हिलती डुलती रहती है। दीपक की लौ का हिलना डुलना वायु के कारण ही होता है। यदि वायु शान्त हो तो दीपक की लौ चेष्टारहित होती है। हिलती डुलती नहीं है। वैसे ही चित्त जब तक सांसारिक वस्तुओं के संसर्ग में रहता है तब तक वह चलायमान रहता है स्थिर नहीं हो सकता है। सांसारिक वस्तुऐं वायु के समान ही गतिशील होती हैं। सांसारिक वस्तुओं में प्रियता की, सुख की अनुभूति होती है, इस कारण चित्त उनमें रमता है और पृथक्–पृथक् सांसारिक विषयों में घूमा करता है तथा चेष्टा करता है। जब साधक ध्यान योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसके चित्त की स्थिति शान्त हो जाती है और वह सांसारिक विषयों में नहीं रहती है। यह स्थिति ध्यानयोग की पूर्णतः की होती है। वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति हिलती डुलती नहीं है, वैसे ही ध्यानयोगी के चित्त में हिलना डुलना नहीं होता है। वहाँ पूर्णतः शान्ति हो जाती है और सांसारिक विषयों का परित्याग हो जाता है। यह ध्यानयोगी की पूर्णतः की परख है।

(च) ध्यानयोग की पूर्णतः का परिणाम :–

ध्यानयोग के साधन से जब साधक सिद्ध हो जाता है तो उसकी सिद्धता प्रकट होती है और उसे प्रत्यक्ष प्रतीत भी होती है। पूर्णतः के निम्नांकित परिणाम हैं–

(एक) स्वतः संतुष्टि रहती है :–

चित्त जब सांसारिक विषयों में रमण करता है, भ्रमण करता है तो वह अशान्त रहता है। चित्त का अनेक सांसारिक विषयों में रमण करना ही अशान्ति कही जाती है। यह चित्त की उपरामता की प्रतिकूल स्थिति है। चित्त जब सांसारिक विषयों में घूमता है तो वह असंतुष्ट रहता है, क्योंकि सांसारिक विषय ही असंतुष्टि के हेतु हैं। जैसे हमें भूख लगती है और हम भोजन कर लेते हैं तो हमें संतुष्टि प्राप्त होती है, परन्तु कुछ समय उपरान्त पुनः भूख लगती है। इस कारण असंतुष्टि हो जाती है। भूख की भांति ही प्रत्येक सांसारिक विषय का परिणाम भी असंतुष्टि है और उसमें कभी पूर्ण संतुष्टि नहीं हो सकती है। जब चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो वह सांसारिक विषयों का त्याग कर देने के कारण संतुष्ट हो जाता है। स्वस्वरूप के चिंतन में उसे पूर्ण संतुष्टि प्राप्त होती है और संतुष्टि नहीं रहती है। पूर्ण संतुष्टि हो जाना ही ध्यान योग की पूर्णतः है तथा उसका परिणाम है। यह स्थिति सहजता से नहीं आती है। ध्यान के निरन्तर सेवन से आ जाती है। ध्यानयोग का जब निरन्तर सेवन होता है तो आत्मसंतुष्टि का भाव प्रकट हो जाता है। यह स्वतः स्वाभाविक रूप से होता है।

(दो) ध्यानयोगी तत्त्वानुभूति के पश्चात् उससे पृथक् नहीं होता :–

ध्यानयोग के माध्यम से मनुष्य जब परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो वह उससे पृथक् नहीं हो सकता है। इसका कारण है जैसे हम संसार में कोई बहुत मूल्यवान, सुख प्रदान करने वाली वस्तु प्राप्त कर लें तो हमें उसके मूल्यवान स्थिति का तथा उसके द्वारा प्राप्त होने वाले सुख का अनुभव रहता है। इस कारण उसे हम अपने से पृथक् नहीं करना चाहते हैं। उसी प्रकार जब तत्त्वानुभूति हो जाती है तो वह सुख आत्यन्तिक सुख होता है। आत्यन्तिक सुख का अभिप्राय है कि उस सुख से बढकर अन्य कोई सुख नहीं होता है। हम सुखों का आभास अपनी इन्द्रियों के माध्यम से करते हैं तथा उस सुख की स्थिति को भी जानते हैं, परन्तु तत्त्व प्राप्त होने के उपरान्त जो सुख होता है वह इन्द्रियों से अनुभूति किये गए सुख से हजारों गुना अधिक होता है। उसकी तुलना में इन्द्रिय सुख निकृष्ट होते हैं। उस सुख की पहुंच इन्द्रियों तक नही है। अर्थात् वह इन्द्रिय सुख के

समान नही है। इस कारण उसे आत्यंतिक सुख कहा जाता है। परमात्मा के साक्षात्कार के उपरान्त जो सुख प्राप्त होता है वह बुद्धिग्राह्य भी होता है। क्योंकि बुद्धि के द्वारा उसकी अनुभूति होती है। हम उस सुख का आभास करते है, इन्द्रियों से प्राप्त सुख का, मन के सुख का आभास बुद्धि कर लेती है इस कारण बुद्धि को ही सुख के आभास की शक्ति कहा जाता है। तभी श्रीभगवान ने सुख की अनुभूति को बुद्धि के द्वारा ग्राह्य अर्थात् ग्रहण होना कहा है। इन्द्रिय तथा मन के सुख की तरह से उस सुख का आभास नहीं होता है। उसमें सैकड़ों गुना सुख स्वतः ही प्राप्त रहता है। यद्यपि यह बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। परन्तु आभासित होता है। वस्तुतः सुख की अनुभूति का साधन बुद्धि है। इसी कारण ऐसा कहा गया है। जब वह सुख प्राप्त हो जाता है तो उस आत्यंतिक सुख की अनुभूति के कारण ध्यानयोगी उससे पृथक् नहीं होता है।

(तीन) तत्त्वदर्शन सर्वोत्कृष्ट लाभ है :–

जगत का प्रत्येक मनुष्य जो भी कार्य करता है वह लाभ की दृष्टि को ही दृष्टिगत् रखकर करता है। संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसकी दृष्टि लाभ पर न हो। कृषक फसल बोता है तो वह लाभ की दृष्टि रखकर बोता है। उसे लाभ होता भी है। कोई व्यक्ति नौकरी करता है तो लाभ को ही दृष्टि में रखकर करता है। ऐसे ही व्यवसाय भी लाभ की आकांक्षा को दृष्टि में रखकर किये जाते हैं। हम खेती से, नौकरी से, व्यवसाय से जो भी अधिकतम लाभ ले पाते हैं उस सबसे अधिक लाभ तत्त्वदर्शन में है। हम जीवन भर बहुत परिश्रम करके जो कुछ भी उत्पन्न कर सकते हैं। जो कुछ भी उपार्जित कर सकते हैं, उस सबसे अधिक मूल्यवान तत्त्व की उपलब्धि है। तत्त्व की उपलब्धि से बढ़कर अन्य कोई लाभ इस जगत में नहीं है। यह तथ्य ध्यान योगी जान जाता है। इस कारण अतिशय प्रयास से वह उस तत्त्व को प्राप्त करना चाहता है और कर भी लेता है। यह ध्यानयोगी की पूर्णतः की परख है।

(चार) अत्यंत भारी दुख से विचलित नहीं होता हैः–

संसार में प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख दुख आते रहते है और दुख आने पर दुःखी हो जाना स्वाभाविक नियम है। संसार में मनुष्य दुःखी क्यों होता है ? इस प्रश्न पर जब हम विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि हमारे सम्पर्क में जो वस्तुऐं अथवा मनुष्य हैं उनसे वियोग हो जाने पर अथवा शारीरिक मानसिक पीड़ा होने पर अथवा कामनाओं की पूर्ति न होने पर मनुष्य दुःखी हो जाता है। दुख में मनुष्य शोक से आवृत्त हो जाता है। और दुख का आभास करता है। यदि हमारे व्यवसाय में जीविका उर्पाजन के साधन में कोई बाधा

रूकावट अथवा विनाश प्रकट होता है तो हमें दुःखी होना पड़ता है। यदि हमारा कोई प्रिय पात्र परिवारीजन, सगासम्बंधी का हमसे विक्षोह होता है तो भी हमें दुःखी होना पड़ता है। यदि हमारी कामनाओं में किसी प्रकार बाधा पहुंचती है तो भी हमें दुःखी होना पड़ता है। शारीरिक कष्ट, साध्य, असाध्य रोगों के शरीर में आ जाने पर हमें दुःख का आभास अवश्य होता है। हम सब उक्त परिस्थितियों में दुःखी होते हैं और विचलित होते हैं। तत्त्वदर्शी पुरूष यह तथ्य जान जाता है कि यह सब अंततः छूटने वाले हैं, समाप्त होने वाले हैं। इस कारण संसार की किसी वस्तु का विक्षोह हो जाने पर उस कदापि दुःख नहीं होता है और न ही वह विचलित होता है। यह ध्यान योग से प्राप्त तत्त्वदर्शन का परिणाम है।

(छ) ध्यानयोग की उत्कृष्ट स्थिति – श्रीभगवान का सर्वत्र दर्शन :–

आसन पर बैठकर तत्त्वदर्शन हेतु आवश्यक क्रियाऐं करना, ध्यान करना तो ध्यान योग की प्राथमिक स्थिति है। जो विशिष्ट ध्यानयोगी परमात्मा का सर्वत्र दर्शन करने लगता है वह उत्कृष्ट स्थिति में पहुंच जाता है। हम सभी जीवों में वह परमात्मा को देखता है। यह सृष्टि परमात्मा के द्वारा निर्मित है तथा परमात्मा के स्वरूप में है। प्रत्येक जीव को परमात्मा ने अपना अंश प्रदान किया हुआ है जिस कारण वह अपना अस्तित्त्व बनाये हुए है तथा चैतन्य है। यदि परमात्मा ने उसे न बनाया होता तो जीव का अस्तित्त्व ही न रहता और न ही वह चेतन हो पाता। इस तथ्य को सामान्य और निम्नकोटि का साधक भी समझ जाता है। यह तथ्य व्यवहार में आये कि हम प्रत्येक जीव के स्वरूप में परमात्मा का दर्शन करें तो यह ध्यानयोग की विशिष्टता है। इस विशिष्टता का दर्शन ध्यानयोगी कर लेता है तो वह परमात्मा का सर्वत्र दर्शन सब में करता है। प्रत्येक जीव में उसे परमात्मा का आभास होता है। परमात्मा उसे सर्वत्र दीखता है। यह ध्यानयोगी की उत्कृष्टता है जो शीघ्रता से प्राप्त नहीं हो सकती है। जो ध्यानयोगी सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता है उस पर परमात्मा की निरन्तर दृष्टि रहती है। ऐसा साधक परमात्मा की दृष्टि से ओझल नहीं होता है और न ही परमात्मा उसकी दृष्टि से कभी ओझल होता है। यह ध्यान योग की विशेष स्थिति है।

(59) तीन प्रकार के योगी :–

सामान्यतः योगी तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें सामान्य योगी, सर्वश्रेष्ठ योगी तथा परमयोगी कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के योगियों की पृथक्–पृथक स्थितियां है। इन स्थितियों का पृथक्–पृथक् प्रकार से अवलोकन कीजिए–

(क) सामान्य योगी :–

सामान्य योगी की दो विशेषताऐं हैं। एक तो वह संकल्पों का परित्याग कर देता है तथा दूसरे दुःखों के संयोग से वियोग होने की स्थिति प्राप्त कर लेता है। एक सामान्य योगी की उपरोक्त दोनों स्थितियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा रहा है।

(एक) संकल्पों का सर्वथा परित्याग :–

समस्त प्रकार के संकल्पों का परित्याग योगी का प्रथम लक्षण है। संकल्प क्या है ? इसे समझना अति आवश्यक होगा। हमारा मन विभिन्न प्रकार का जो सांसारिक विषय वस्तुओं का स्मरण करता है, उसे ही सामान्य भाषा में संकल्प कहा जाता है। मन की वृत्ति संकल्प है। प्रत्येक मनुष्य यह विचार करता है कि हमें अमुक अमुक कार्य करना है और उन विचारे गए विषयों के आधार पर बुद्धि विनिश्चय करके कर्मो का सम्पादन करती है। मनुष्य के जीवन निर्वाह हेतु किये गए कर्म, भगवान के यजन पूजन सम्बंधी कार्य तथा निष्काम भाव से सामाजिक हित के कार्यो के अतिरिक्त जो भी कार्य सकाम भाव से होते हैं उन्हें योगी त्याग देता है। वह न तो नवीन कर्मो का आरम्भ करता है और न ही सकाम भाव से कोई कर्म करता है। इस प्रकार उसमें संकल्पों का सर्वथा अभाव हो जाता है। संकल्पों का सर्वथा परित्याग कर देना ही योगी का प्रथम लक्षण है। यदि कोई मनुष्य योग का आचरण करके संकल्पों का त्याग नहीं करता है तो वह योगी नहीं हो सकता है, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला न तो योगी होता है और न संन्यासी होता है।

(दो) दुःखों के संयोग का वियोग :–

दुःखों के कारण पर पूर्व में भी विचार हुआ था। दुःखों का कारण हमारे संचित कर्मो के परिणाम का उदय हो जाना है। दुःखों का संयोग न हो अर्थात् दुःखों के संयोग का वियोग हो जावे इसके लिए दो प्रकार का प्राविधान है। एक तो हमें ज्ञानरूप अग्नि में अपने समग्र संचित कर्मो को भस्म करना पड़ता है। जब समस्त संचित कर्म भस्म हो जाते हैं तो उनका परिणाम प्रकट नहीं होता है। हम शास्त्र के प्रतिकूल कर्मो के परिणाम के रूप में अपने दुःखों का उपभोग करते हैं। जब हमारे समस्त जन्मों के संचित कर्म ज्ञानरूप अग्नि में भष्म हो जाते हैं तो हमारा दुःखों से संयोग भी समाप्त हो जाता है। दूसरी स्थिति यह है कि साधक दुःखों के आने पर विचलित नहीं होता है और दुःखों तथा सुखों को एक समान ही आभास करता है। दुःख रहते हैं या उनका आभास न करना दुःखों के आने पर जाने वाला मानकर समभाव से रहना भी दुःखों के संयोग से वियोग की स्थिति है। इस प्रकार योगी का दुःखों के संयोग से वियोग हो जाता है।

(ख) परमयोगी :–

परमात्मा का अंश जीव सभी जीवों को चैतन्य बनाये हुए है। जो जीव कीड़े, पशु, पक्षी, आदि में है वह मनुष्य में है। वह हम सब में है, इस कारण कीड़े, पशु–पक्षी हमारे समान ही हैं। हमारी उनसे सहधर्मिता है। जो साधक अपने समान समस्त जीवों को देखता है वह परमयोगी हो जाता है। जैसे हमारे शरीर में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख,पीड़ा, अनकूलता, प्रतिकूलता का आभास होता है, वैसा ही अन्य जीवों को भी होता है। हमें भूख लगती है तो अन्य जीवों को भी लगती होगी। हम यदि अपने लिए भूख में भोजन में की व्यवस्था करते हैं तो सामर्थ्य रहने पर अन्य गरीबों के लिए भी भूख निवारण हेतु भोजन की व्यवस्था करें। यदि हमने मात्र अपने लिए ही भोजन की व्यवस्था की तो हम स्वार्थी हुए। यह तथ्य योग के प्रतिकूल तथ्य है। हम कहीं कार्य करते हैं और कहीं आते जाते हैं तो सर्दी गर्मी का आभास हमें होता है। वैसा ही अन्य लोगों को भी होता होगा। जैसी पीड़ा हमको होती है, वैसी ही अन्य लोगों को भी होती होगी। यदि हम अन्य लोगों को उत्पीड़ित करेंगे अथवा हानि पहुंचायेंगे तो हमारी तरह से ही उनको कष्ट होगा। यह जानकर और अपने समान मानकर समस्त जीवों के साथ जो व्यवहार करता है वह परमयोगी कहलाता है। यह स्थिति देखने में और विचार करने में सरल मालूम पड़ती है परन्तु जब इसके क्रियान्वयन पर विचार करते हैं तो यह अत्यंत कठिन प्रतीत होती है। अपनी सादृश्यता का आभास करना बहुत कठिन है। यह आभास हो जाने पर हम परमयोगी कहलाते हैं।

(ग) सर्वश्रेष्ठ योगी :–

सर्वश्रेष्ठ योगी में तीन गुण विशेष होते हैं। एक परमात्मा में परम श्रद्धा रखना, दूसरा परमात्मा में पूर्ण तन्मयता प्राप्त कर लेना तथा तीसरा एक मात्र परमात्मा का ही भजन करना। तीनों स्थितियों का आचरण कर लेने वाला साधक सर्वश्रेष्ठ योगी कहलाता है। इन तीनों स्थितियों का क्रमशः अवलोकन कीजिए–

(एक) परमात्मा में परम श्रद्धा रखना :–

सर्वश्रेष्ठ योगी का पहला गुण है कि वह परमात्मा में परम श्रद्धा रखता है। जैसे हम सभी सामान्य लोग संसार में श्रद्धा रखते हैं और संसार के आश्रय में रहते हैं। संसार को सत्य मानते हैं, वैसा ही मानकर व्यवहार भी करते हैं। उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ योगी परमात्मा में ही श्रद्धा रखता है। परमात्मा के आश्रय में ही रहता है और उस परमात्मा को सत्य मान लेता है तथा शेष को असत्य मान लेता है। यह परम श्रद्धा संसार के आश्रय के परित्याग

तथा परमात्मा के आश्रय को ग्रहण करने के पश्चात् ही आती है। परमयोगी की श्रद्धा अटूट होती है उसे किसी भी प्रकार विचलित किया जा पाना संभव नहीं है। परमात्मा में परम श्रद्धा का हो जाना सर्वश्रेष्ठ योगी का प्रथम गुण है।

(दो) परमात्मा में पूर्ण तन्मयता :–

जैसे हमें कोई मुधर गीत सुनते हैं और यदि वह बहुत रूचिकर है तो हम उसमें तन्मय हो जाते हैं। आपने मधुर गीत सुन रहे, मधुर गीत में तन्मय हुए व्यक्ति को देखा होाग। वह गीत की मधुरता तथा भावों में खो जाता है। उसे दीन दुनियां की खबर नहीं रहती। इसी प्रकार अन्य प्रकार सांसारिक तन्यमताओं का आपने आभास किया होगा। यह तन्मयता सांसारिक विषयों में अच्छेपन के कारण होती है। साधक सांसारिक तन्यमता की तरह से परमात्मा के प्रति भी विशिष्ट प्रकार की तन्मयता को उपार्जित कर लेता है। परमात्मा के स्वरूप में संसार के क्रियाकलाप स्वतः ही खो जाते हैं। इस प्रकार जो योगी परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव, स्वरूप आदि में तन्मय हो जाता है उसे सर्वश्रेष्ठ योगी कहा जाता है।

(तीन) परमात्मा का भजन करना :–

सर्वश्रेष्ठ योगी परमात्मा के प्रति परम श्रद्धा का भाव रखता है। परमात्मा में पूर्ण तन्मय हो जाता है और श्रद्धा तथा तन्यमता के साथ परमात्मा का भजन करता है। परमात्मा के भजन करने का अभिप्राय यह है कि वह उसके स्वरूप, गुण आदि का बखान करता है तथा उसे निरन्तर स्मरण रखता है। जो साधक परमात्मा में परम श्रद्धा से, पूर्ण तन्मयता से भगवान के नाम में अपने को लगाये रखते हैं इसी साधन को अपनाने के कारण वह योगी सर्वश्रेष्ठ योगी हो जाता है। समस्त प्रकार की यौगिक क्रियाओं का लाभ परमात्मा की प्राप्ति ही है। परमात्मा प्राप्ति के जो साधन शास्त्रों में कहे गए हैं वह परमात्मा में श्रद्धा का उर्पाजन करते हैं और तन्मयता की उत्पत्ति कर देते हैं। ऐसी स्थिति आने पर साधक का चित्त शान्त हो जाता है। सर्वश्रेष्ठ योगी की श्रद्धा, तन्मयता तथा भजन तीनों तथ्य परमात्मा के प्रति समर्पण भाव से क्रियान्वित होते रहते हैं।

(59) योग भ्रष्ट की स्थिति :–

योग साधना में रत पुरूष यह आकांक्षा रखता है कि उसे मोक्ष प्राप्त हो जावे। पूर्वोक्त प्रकार से जितने साधनों का उल्लेख किया गया है उनका एकमात्र उद्‌देश्य

परमात्मा की प्राप्ति ही है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, समत्वयोग, ध्यानयोग आदि साधनों से परमात्मा प्राप्ति का प्रयास चलता है। साधक अपने साधन से अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहता है। यह क्रिया वैसे ही है जैसे हम विभिन्न प्रकार के वाहनों से चलकर किसी तीर्थ में जाने का प्रयास करते हैं। परमात्मा प्राप्ति का मार्ग तथा कार्य बड़ा ही दुष्कर है। इतनी शीघ्रता से सिद्ध होने वाला नहीं है। इस मार्ग में अनेक बाधाऐं उपस्थित होती हैं जिनसे उनकी प्राप्ति में बड़ी कठिनता रहती है। कई महानुभाव साधकों को, अपने अनुयायियों को शीघ्र ही तत्त्वदर्शन करा देने का प्रयास करते हैं यह कार्य दुर्लभ होने के कारण इतनी शीघ्र इसमें सफलता प्राप्त नहीं होती है। विशेषकर त्रिगुणमयी माया साधक के मार्ग में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न कर देती हैं, जिससे साधक संशयग्रस्त हो जाता है और वह अपने अभीष्ट तक नहीं पहुंच पाता है।

यह समग्र जगत त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से गति कर रहा है। प्रत्येक मनुष्य इन त्रिगुणों अर्थात् सत्व, रज, तम, से प्रभावित रहता है। परमात्मा प्राप्ति के जितने भी साधन हैं उनको त्रिगुणमयी माया के पार जाने के प्रयास के रूप में किया जाता है, परन्तु अधिकांशतः उनमें किसी त्रुटि के कारण सफलता प्राप्त नहीं होती है। साधक अपने अभीष्ट तक नहीं पहुंच पाता है। साधक अपने अभीष्ट तक त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से नहीं पहुंच पाता है, तो उसे योगभ्रष्ट कहा जाता है। जैसे हम किसी तीर्थ यात्रा के लिए प्रयास करते हैं और उसकी सफलता हेतु साधन अपनाते हैं। हमारा साधन यदि प्रबल है तो हम अपने अभीष्ट तक पहुंचने में सफल होते हैं और यदि साधन प्रबल नहीं है तो हम रास्ते में ही उलझते हैं। इससे हमारी तीर्थ यात्रा पूरी नहीं होती है। यह साधन की कमी और साधक का दुर्भाग्य है।

साधक परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करे और कतिपय कारणों से उसे सफलता न मिले तो वह निराश हो जाता है। सफलता न मिलने में त्रिगुणमयी माया ही बाधक होती है। वह अनेक प्रकार के लुभावने आकर्षण दिखा कर साधक को अपनी ओर खींच लेती है। इसी प्रकार यदि साधक अपने अभीष्ट तक न पहुंच कर अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर देता है तो उसकी क्या स्थिति होती है? यह तथ्य प्रत्येक साधक के मन में रहता है। जैसे हम किसी नाव से नदी पार करने का प्रयास करें और जब रास्ते में नदी की धारा में डूब जाऐं, तो हमारी क्या स्थिति होगी? हम उस धारा के पार जा पावेंगे अथवा नहीं यह विचार रहता है। यदि साधक अपने अभीष्ट तक नहीं जा पाता है तो वह योगभ्रष्ट साधक मृत्यु के पश्चात् स्वर्गादिक उच्च लोकों में जाकर वहां के सुख भोगता है और एक लम्बे समय तक अर्थात् दीर्घकाल तक वहां रहता है। उच्चलोकों, अर्थात् स्वर्गादिक लोकों के भोग यहां से

सैकड़ों गुना मोहक हैं। स्वर्गादिक लोकों के भोग भोगने से उस योगभ्रष्ट पुरूष के पुण्य कम हो जाते हैं। जब पूरी तरह से पुण्य समाप्त हो जाते हैं तो वह पुनः इस पृथ्वीलोक पर जन्म ग्रहण करता है।

मनुष्य के पृथ्वी लोक में जन्म ग्रहण करने की पृथक्–पृथक् स्थितियां हैं। यह परमात्मा की व्यवस्था है कि वह आपको किस परिवार में जन्म देता है। पृथक्–पृथक् परिवार है और पृथक्–पृथक् स्थितियां हैं। गरीब परिवार, मध्यम वर्गीय परिवार, उच्च्य वर्गीय परिवार, कृपण परिवार, राजधर्म में आस्था रखने वाला परिवार, आस्तिक वादी परिवार, भोगवादी परिवार, दुष्टात्मा परिवार, तामसी प्रवृत्ति का परिवार, राजसी भोग प्रवृत्ति का परिवार, सात्त्विक विचारधारा का परिवार आदि आदि। योगभ्रष्ट पुरूष उन परिवारों में उत्पन्न होता है, जिसमें सात्त्विक विचारधारा के लोग रहते हैं। सात्त्विक विचारधारा के कारण वह स्वतः ही स्वाभाविक रूप से पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। वह बचपन से ही उन परिस्थितियों में पलता बढ़ता है जिसमें आस्तिकता की बहुलता होती है। यह सब परमात्मा की व्यवस्था ही है कि वह योगभ्रष्ट पुरूष को उसी परिवार में उत्पन्न करता है जहां पर उसके अनुकूल पूजा उपासना की प्रमुखता का वातावरण प्राप्त होता है।

योगभ्रष्ट पुरूष जब इस प्रकार के परिवार में जन्म ग्रहण कर लेता है तो वह पुनः परमात्मा की प्राप्ति का उपाय करता है। यह ईश्वर की विशिष्ट व्यवस्था है। इस व्यवस्था में सत् पुरूष कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है। दुर्गति मात्र दुष्कर्मो के आचरण से दुष्कर्मी पुरूषों की होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सदैव, क्षण प्रतिक्षण ही परमात्मा के प्रति अपने को समर्पित करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयास से मनुष्य का सर्वप्रकारेण लाभ होता है। उसका कल्याण हो जाता है। हम यदि किसी प्रकार का साधन न जानते हो तो हमें एक मात्र परमात्मा के नाम के जप और उसके स्मरण का प्रयास करना चाहिए। इसमें कोई सांसारिक बाधा भी नहीं है। हमें परमात्मा को अपने दैनिक कार्यो में सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयास से हम एक न एक दिन परमात्मा को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं तथा हमें सांसारिक कष्ट और दुःख भी नहीं भोगना पड़ता है। इस प्रकार योगभ्रष्ट पुरूष की कभी भी दुर्गति नहीं होती है। वह सदा सर्वदा ही सुखों का उपभोग करता है। संसार में ऐसी स्थिति अत्यन्त दुर्लभ कही जाती है योग भ्रष्टता की स्थिति हमें प्राप्त न हो इसलिए हमें पूरे प्रयत्न से परमात्मा का साक्षात्कार करने का प्रयास करना चाहिए ।

(60) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विज्ञान :—

श्रीभगवान ने भगवद्गीता के 13वें अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वर्णन किया है। क्षेत्र क्या है ? क्षेत्रज्ञ क्या है ? इस विषय में भी जानना अति आवश्यक है। क्षेत्र में क्या विकार है? तथा उन विकारों को किस प्रकार समाप्त किया जा पाना संभव है। इस विषय में 13वें अध्याय में पर्याप्त वर्णन हुआ है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र के विकार तथा उनके समापन के उपायों का अवलोकन सरल रूप से कीजिए—

(क) क्षेत्र का स्वरूप :—

क्षेत्र के स्वरूप में निम्न तथ्यों का उल्लेख होता है, जिससे क्षेत्र के स्वरूप को हमें समझने में सहायता मिलती है। हम इस तथ्य को सहजता से प्रस्तुत करना चाहेगे जिससे क्षेत्र के स्वरूप में आपको जानकारी प्राप्त हो।

(एक) क्षेत्र क्या है ?हमारा जो स्थूल शरीर है इसे साधरणतया क्षेत्र कहा जाता है। इस शरीर के सूक्ष्म तथा कारण शरीर का वर्णन पूर्व में हुआ था। यह सम्पूर्ण शरीर क्षेत्र के रूप में जानना चाहिए, क्योंकि इसमें कर्मरूपी बीज से फल की उत्पत्ति उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार क्षेत्र अर्थात् खेत में बीज डालने पर फल अर्थात् फसल की उत्पत्ति होती है। इसी कारण इस मानव शरीर को आप क्षेत्र के नाम से कह सकते हैं। इसमें कर्मरूपी बीज पड़ता है और पाप पुण्यरूपी फल का उदय होता है।

(दो) क्षेत्रज्ञ क्या है ? इस मानव शरीर में चैतन्यता हेतु परमात्मा के अंश जीव की स्थापना की जाती है। यह जीव परमात्मा के गर्भ से ही शरीर में आ जाता है और मृत्युकाल तक निरन्तर रहता है। जीव शरीर में स्थित अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार और बाह्यकरण अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच कर्मेन्द्रियों तथा सम्पूर्ण शरीर को सम्यक् प्रकार से जानती है। मन की जो चेष्टा है। बुद्धि की जो चेष्टा है। अहंकार की जो चेष्टा है तथा उसके निर्देश से कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की जो चेष्टाऐं होती हैं उन सबको जीव साक्षी के रूप में देखता है और जानता है। इस तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीर में जो भी चेष्टाएं होती हैं वह सबकी सब जीव की संज्ञानता में होती है। इसी जीव को सहज रूप में क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।

(तीन) परमात्मा सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ है :— सृष्टि में अनेक प्रकार के प्राणी हैं। प्राणियों के प्रकार और उनकी संख्या को सही रूप में बता पाना असंभव है। जीवों की संख्या ज्ञात

न होने के कारण ही उन्हें असंख्य कहा जाता है, अर्थात् जीव असंख्य हैं। समस्त जीवों में परमात्मा का अंश जीव ही चैतन्यता प्रदान करने का प्रमुख आधार है। उन जीवों को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है परन्तु वास्तव में परमात्मा ने अपना अंश प्रदान किया है, इस कारण वह परमात्मा ही समस्त शरीरों में क्षेत्रज्ञ है। जैसे समुद्र से वर्षा होती है और वर्षा से नदियों का अस्तित्त्व है। नदियां पुनः समुद्र में मिल जाती है वर्षा का फल नदियां भी समुद्र का ही रूप है। इस प्रकार जीव परमात्मा का अंश होने के कारण क्षेत्रज्ञ नाम से कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः परमात्मा क्षेत्रज्ञ है क्योंकि जीव परमात्मा के अंश में है तो हम जीव को क्षेत्रज्ञ कहें अथवा परमात्मा को क्षेत्रज्ञ कहें, यह एक ही बात है।

(चार) क्षेत्र के 24 तत्त्व :–

सहजतापूर्वक आप यह समझें कि यह शरीर 24 तत्त्वों का मिश्रण है। इन तथ्यों का उल्लेख निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा रहा है–

1– मूल प्रकृति : मूल प्रकृति के द्वारा समस्त प्रकार के प्राणियों का निर्माण हुआ है। मूल प्रकृति परमात्मा की रचनात्मक शक्ति है। वह ही समस्त जीवों सहित चर और अचर जगत का निर्माण करती है। यह शरीर निर्माण का कारण होने से शरीर के स्वरूप के रूप में है। मूल प्रकृति बहुत ही महत्वूपर्ण शक्ति है।

2– बुद्धि : शरीर का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है जो शरीर की समस्त क्रियाओं पर नियंत्रण स्थापित रखती है। यह शरीर को प्रत्येक क्रिया हेतु आदेशित करती है। मन के द्वारा विचारित किये गए समस्त तथ्यों को देखती है तथा उस पर निश्चयात्मक निर्णय लेती है। शरीर का एक महत्वपूर्ण अंग होने के कारण क्षेत्र का स्वरूप है।

3– अहंकार : अहंकार शरीर का अव्यक्त तत्त्व है, जो मनुष्य के अस्तित्त्व के रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य शरीर की पृथक्–पृथक् चेष्टाओं में इसका व्यक्तिकरण होता है। यह अपरा प्रकृति का एक तत्त्व है तथा अंतःकरण का एक भाग है। अहंकार के विषय में पूर्व में भी कुछ वर्णन हुआ था।

4– पंच महाभूत : आकाश, अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी के समुच्चय को पंचमहाभूत कहा जाता है। इनकी तन्मात्रा क्रमशः शब्द रूप, रस, स्पर्श तथा गंध है। इन पांच महाभूतों से मिलकर ही प्रत्येक प्राणी के शरीर का निर्माण होता है। इस कारण यह पांच तत्व शरीर में विद्यमान रहते हैं। पंच महाभूतों की उत्पत्ति उनकी तन्मात्राओं से मानी जाती है।

5– दस इन्द्रियां : मानव शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और पांच कर्मेन्द्रियां हैं जिनका वर्णन उपरोक्त कई प्रकार से किया जा चुका है। पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों के विषय भी पंच महाभूतों की तन्मात्राओं के रूप में हैं, क्योंकि मानव शरीर का निर्माण पंच महाभूतों से होता है। इस कारण पंच महाभूतों की तन्मात्राऐं ही इन्द्रियों के विषय बन जाते हैं।

6– एक मन : शरीर में मन बहुत महत्वपूर्ण तत्त्व है। यह अत्यंत प्रमथनशील स्वभाव का है। संकल्प उसकी वृत्ति है। संकल्प का अर्थ है कि मन जाग्रत और स्वप्न अवस्था में अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों के बारे में विचार करता रहता है और सदैव क्रियाशील रहता है। यही इसका प्रमुख धर्म है, इसलिए इसको चंचल और प्रमथनशील कहते हैं, यह इन्द्रियों से श्रेष्ठ है तथा बुद्धि से निकृष्ट तत्त्व है। मन के सम्बंध में पूर्व में भी कुछ विचार प्रस्तुत किए गए थे।

(पांच) चौबीस तत्वों की गणना :–

1 मूल प्रकृति + 1 बुद्धि + 1 अहंकार + 5 पंचमहाभूत + 10 इन्द्रियां + 1 मन + इन्द्रियों के 5 विषय = 24 तत्त्वों को क्षेत्र के स्वरूप में जानना चाहिए। क्षेत्र का स्वरूप समझ करके इसके विकारों को भी हमें सहजतापूर्वक जानना चाहिए।

(ख) क्षेत्र के सात विकार :–

इस क्षेत्र अर्थात् मानव शरीर में सात विकार हैं, क्षेत्र के विकारों को भी आप सहजतापूर्वक समझिए। इस शरीर में सात विकार माने जाते हैं, जिन्हें 1–इच्छा 2– द्वेष 3–सुख 4–दु:ख 5–संघात 6–चेतना 7–धृति अर्थात् धारण शक्ति कहा जाता है। इस प्रकार क्षेत्र इन विकारों के रहते हुए ही विकारी कहा जाता है और इन विकारों के समाप्त होते ही अविकारी स्वरूप में आ जाता है। यह सात विकार प्रत्येक मानव शरीर में रहते हैं। जैसे शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जाता है तो यह कहा जाता है कि यह अमुक विकार उत्पन्न हो गया। उचित चिकित्सा कर देने से वह रोग समाप्त हो जाता है और शरीर पुनः विकाररहित हो जाता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि रोग की स्थिति आने जाने वाली है। परिवर्तनशील है। उक्त सभी विकार सभी में रहते हैं और समापन के प्रयास से उचित चिकित्सा से समाप्त हो जाते हैं। पहले उन विकारों के स्वरूप को समझें तथा पश्चात् उनके समापन पर विचार प्रस्तुत किये जायेंगे।

(एक) इच्छा : मनुष्य में इच्छा एक दोष अर्थात् विकार है तथा यह परिवर्तनीय भी है। संसार की वस्तुओं, विषयों को प्राप्त करने का जो भाव मन में रहता है उसे इच्छा कहते

हैं। यह भाव सभी के मन में रहता है कि अमुक वस्तु प्राप्त हो उस अमुक वस्तु के प्राप्त होने के पश्चात् दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने का भाव भी आ जाता है। दूसरी के मिलने के पश्चात् तीसरे की प्राप्ति का भाव रहता है। इस प्रकार यह परिवर्तन हुआ करता है। इच्छा अर्थात् सांसारिक वस्तुओं तथा विषयों की प्राप्ति का भाव चलता रहता है। यदि परिवर्तन न हो तो मनुष्य में क्रियाशीलता ही समाप्त हो जावे। इच्छा एक दोष है, अर्थात् विकार है क्योंकि इससे ही मनुष्य को बंधन हो जाता है। यह इच्छारूपी द्वेष से बंधा हुआ मनुष्य नाना प्रकार के तामसी, राजसी तथा सात्त्विक कर्मो को करता रहता है। यदि इच्छा न हो तो मनुष्य कुछ भी नहीं करेगा। इस प्रकार इच्छा दोष है, विकार है तथा परिवर्तन शीलता के गुण वाला है।

(दो) द्वेष : मनुष्य में द्वेष भी एक प्रकार का विकार है जिसके कारण मनुष्य नानाप्रकार के कार्य कर डालता है। किसी को अत्यधिक गुणवान देखकर किसी के द्वारा अपने अहित की आशंका को विचार कर, अपनी निन्दा का श्रवण करके, किसी को सांसारिक रूप से विकसित देखकर, ऐश्वर्यवान, प्रतिष्ठावान विशिष्ट पद को धारण करते हुए देखकर मनुष्य के मन में उसके प्रति विरोधी भाव उत्पन्न हो जाता है कि अमुक मनुष्य हमसे अधिक गुणवान, सौर्न्दयवान, बलवान, कीर्तिवान क्यों है? यह विरोधी भाव ही द्वेष के रूप में प्रकट होता है। द्वेषभाव भी परिवर्तनशील है अर्थात् विकारी है। द्वेष कभी कम होता है कभी अधिक हो जाता है और कभी समाप्त भी हो जाता है। द्वेषरूपी दोष प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान रहता है।

(तीन) सुख : मनुष्य में सुखरूपी विकार भी है, दोष है जिसकी प्राप्ति हेतु मनुष्य जीवनपर्यन्त संघर्ष करता है। प्रारब्धवश मनुष्य को जब अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त हो जाती हैं तो उसके मन में प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है। यह भाव स्वतः ही अनुकूलताऐं प्राप्त होने पर प्रकट होता है। सुख का अनुभव सदैव नहीं रहता है और यह परिवर्तनशील है, इस कारण यह विकार के रूप में है। सुख इस कारण विकारी है क्योंकि सुख की प्राप्ति हेतु मनुष्य जीवनपर्यन्त प्रयत्न करते हैं और नाना प्रकार के शुभ और अशुभ कर्मो का सम्पादन करते रहते हैं। उससे शुभ और अशुभ फल मिलते हैं जो हमारे बंधन का प्रमुख कारण माने जाते हैं।

(चार) दुःख : मानव शरीर में दुःख भी एक विकार है। यह दुःखरूपी विकार निरन्तर परिवर्तनशील है। जब हमारे संचित दुष्कर्म परिणाम देने को उन्मुख हो जाते हैं तो हमें अपने जीवन में प्रतिकूलताओं का आभास होता है। यह प्रतिकूलताओं का आभास दुःख के

रूप में रहता है। दुःखरूपी दोष के निवारण हेतु ही मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करते हैं। दुःख कभी निवृत होता हुआ प्रतीत होता है और कभी इसका निवारण नहीं हो पाता है। तामसी प्रवृत्ति के लोग दुःखों के निवारण के लिए दुष्कर्मो का आश्रय लेते हैं। राजसी प्रवृत्ति के मनुष्य दुःख के निवारण के लिए नाना प्रकार के सांसारिक कर्मो का आश्रय लेते हैं और सात्त्विक स्वभाव के मनुष्य दुःख के निवारण के लिए सकाम देवोपासना का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार दुःख एक विकार है, शारीरिक दोष है तथा परिवर्तनशील है।

(पांच) संघात : इस मानव शरीर को संघात कहा जाता है। यह मानव शरीर शिशु अवस्था में प्रकट होता है, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था को होता हुआ अंततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह परिवर्तनशील है। इस कारण इसे विकारी कहा जाता है। परिवर्तन होना, मृत्यु की ओर स्वतः ही जाना इसका विकार है। शिशुवस्था से लेकर वृद्धावस्था तक इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन किसी भी प्रयत्न से रोका जा पाना संभव नहीं है। जैसे संसार की प्रत्येक वस्तु किसी भी प्रकार से विनिष्ट होने से नहीं बचाई जा सकती है, उसी प्रकार यह शरीर भी विकारी है तथा परिवर्तनशील है जिसे विनाश से बचाया जा पाना असंभव है, इस कारण इसे विकारी कहते हैं।

(छह) चेतना : मनुष्य में समस्त जीवों में चेतना होती है जिससे मनुष्य अथवा समस्त प्राणी गति करते हैं। यह चेतना समस्त प्राणियों में रहती है। चेतना परिवर्तनशील है। आपने देखा होगा कि मनुष्य कभी–कभी बड़ी सक्रियता से कर्म करता है और उसका शरीर इस कर्म में पूर्णरूपेण संवेदनशील होता है और कभी–कभी यही शरीर आलस्य तथा प्रमाद आदि के कारण कम सक्रियता से कार्य करता है। यह चेतना के परिवर्तन के कारण ही होता है। चेतना के परिवर्तनशीलता के कारण इसे शरीर का विकार कहा जाता है। जब मनुष्य में सात्त्विक गुणों की प्रधानता रहती है तो चेतना की स्थिति सक्रिय रहती है। राजसी गुणों के प्रभाव से शरीर में सात्त्विक गुणों की अपेक्षा कम सक्रियता रहती है। तामसी गुणों से प्रभावित शरीरों में पर्याप्त अक्रियता रहती है। इस प्रकार चेतना की स्थिति में परिवर्तन के कारण ही इसे विकारी कहा जाता है।

(सात) धृति : धारणा अर्थात् धारण शक्ति को धृति कहा जाता है। मनुष्य प्रत्येक कार्य धारणा शक्ति के कारण ही करता है। जब हम कोई भी कार्य आरंभ करते हैं तो उस कार्य के करने की अवधारणा रहती है। आपने देखा होगा कि किसी कार्य को आरंभ करने के पूर्व पर्याप्त उत्साह रहता है और समय के साथ यह उत्साह कम होता जाता है। कभी हमें असफलता प्रतीत हो अथवा दिखे तो यह उत्साह शांत सा हो जाता है। संसारिक कर्मों में

सक्रियता का न रहना और अक्रियता का आ जाना धारणशक्ति के कारण ही होता है। यह धारणशक्ति परिवर्तनशील है। कभी स्थिर नहीं रहती है। इस कारण यह शरीर का विकार कही जाती है।

(ग) विकार के समापन के उपाय– क्षेत्र के सात विकारों इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, चेतना तथा धृति के समापन हेतु श्रीभगवान ने उन उपायों का वर्णन किया है जिससे विकारों को समाप्त किया जा पाना संभव होता है। जिन उपायों का वर्णन हुआ है वे ज्ञान के पर्याय कहे जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान के प्रकट होने पर ही मनुष्य में विकारों का समाप्त होना संभव हो सकता है, इसलिए इन विकारों के समापन के उपायों को बहुत गहनता पूर्वक समझना चाहिए तथा इनके समापन के लिए मनुष्य को प्रयास करना चाहिए। संसार में जिसे ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान इन उपायों के पर्याय के रूप में होता है। अगर हम ज्ञान शब्द को परिभाषित करें तो यह परिभाषा बीस ज्ञान के विशिष्ट गुणों के रूप में प्रकट हो जाती है। विकारों के समापन के लिए जो बीस उपाय हैं उनका अवलोकन कीजिए–

(एक) अमानित्वम् (उत्कृष्टता के भाव का समापन)– समाज में उत्कृष्ट दिखने की भावना प्रत्येक मनुष्य में बलवती रहती है। प्रत्येक मनुष्य में यह भाव रहता है कि लोग हमें जानें तथा किसी भी कारण से हमें सम्मान दें। यह भावना सत्पुरुषों में तथा सामान्य लोगों में यहां तक कि दुष्कर्मी स्वभाव के मनुष्यों में भी प्रबलता से रहती है। एक दुष्कर्मी मनुष्य भी समाज में अपने को उत्कृष्ट दिखाने हेतु प्रयास करता है। सामान्यता यह भावना शीघ्र समाप्त नहीं होती है। यदि हम अपने को उत्कृष्ट सिद्ध करने की भावना का त्याग कर दें तो उससे विकारों का समापन हो जाता है।

उत्कृष्टता का भाव तो स्वयं में एक इच्छा है जिसके प्रदर्शन हेतु नाना प्रकार की इच्छाओं का प्रादुर्भाव होता है। जब हमारे अंतःकरण में उत्कृष्टता के प्रदर्शन का भाव रहता है तो उससे अनेक इच्छाएं समाप्त नहीं होती हैं और जब उत्कृष्टता के प्रदर्शन का भाव समाप्त हो जाता है तो अनेक प्रकार की इच्छाऐं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। उत्कृष्टता के भाव में बाधा आने पर द्वेष भाव की उत्पत्ति हो जाती है और उत्कृष्टता के भाव की पूर्ति से सुख का प्रादुर्भाव होता है। शरीर से ही उत्कृष्टता के भाव का प्रदर्शन होता है। उत्कृष्टता के भाव के समापन से वे क्रियाऐं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं जिससे उत्कृष्टता का भाव प्रदर्शित होता है। चेतना एवं धारण शक्ति भी उत्कृष्टता के भाव के समापन होने के उपरांत उत्कृष्ट कोटि की रहती है तथा अपरिवर्तनीय जैसी हो जाती है।

(दो) अदम्भित्वम् (दंभाचरण का अभाव)– मनुष्य यदि दंभाचरण का परित्याग कर दे तो भी विकार के समापन की क्रिया पूरी हो जाती है। हमारी जैसी स्थिति है वैसा न प्रदर्शित करके उससे अधिक प्रदर्शित करना दंभ का आचरण कहा जाता है। दंभ के आचरण से प्रत्येक मनुष्य सामान्य रूप से आवृत रहता है। उसके रहने पर इच्छा, द्वेष आदि विकार भी रहते हैं। दंभाचरण इसी इच्छा को लेकर होता है। द्वेष भी दंभाचरण से उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अन्य विकार भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए दंभाचरण का यदि अभाव हो जाए तो भी विकारों का समापन समझना चाहिए।

(तीन) अहिंसा – किसी भी प्राणी को मानसिक, वाचिक और शारीरिक रूप से कष्ट देना हिंसा कहा जाता है। चूंकि हम किसी प्राणी को मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक प्रकार से ही कष्ट दे सकते हैं। इस कारण यदि इस भाव का समापन हो जाए कि हमें किसी को कष्ट नहीं देना है तो इसे ही अहिंसा कहा जाता है। अहिंसा भी विकारों के समापन का एक उपाय है।

(चार) क्षान्तिः (क्षमाभाव)– किसी व्यक्ति के द्वारा परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अपराध किए जाने से क्षमा करना ही क्षान्तिः है। क्षमाभाव कोई सामान्य गुण नहीं है। यह अत्यंत उत्कृष्ट साधना से मनुष्य में आ पाता है। मनुष्य समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों के कारण ही करता है। यदि कोई अपराध करता है तो वह भी प्रकृतिजन्य के गुणों के वशीभूत होकर उनकी प्रेरणा से करता है। यह तथ्य समझ लेने पर साधक किसी के द्वारा किए गए अपराध को उसके द्वारा किया जाना हुआ नहीं मानते हैं और उसे क्षमा दे देते हैं। क्षमा का भाव भी विकारों के समापन हेतु एक उपाय है।

(पांच) आर्जवम् (मन, वाणी में सरलता)– मानसिक तथा वाचिक रूप से मृदुभाषिता को आर्जवम् कहा जाता है। मन में जब मृदु व्यवहार का विचार रहता है तो वह वाणी में भी प्रकट हो जाता है। यह क्षेत्र का विकार समाप्त करने का एक उपाय है। मन और वाणी के पवित्र होने से मनुष्य में बहुत परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि वस्तुतः मन ही प्रत्येक क्रिया का आधार है।

(छह) आचार्योपासनम्– गुरूजनों की यथायोग्य सेवा करना आचार्योपासनम् कहा जाता है। आचार्यों की सेवा करने से हमें उनके द्वारा साधना के साधन बताए जाते हैं। इनके अनुपालन से हम विकारों को समाप्त कर सकते हैं। इस कारण आचार्योपासनम् भी विकारों के समापन का एक साधन है।

(सात) शौचम्– शौचम् का अर्थ शुद्धि से है। साधक को आंतरिक एवं बाह्यशुद्धि से शरीर को शुद्ध रखने का प्रयास करना चाहिए। आंतरिक शुद्धि से द्वेष आदि विकार समाप्त हो जाते हैं तथा बाह्यशुद्धि से हमारे मन में स्वतः ही प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार शौच भी विकारों के समापन में एक उपाय कहा जाता है।

(आठ) स्थैर्यम्– स्थैर्यम् स्थिर रहने को कहते हैं। स्थिर रहने का भाव विशेष धृति नामक विचार के समापन में साधन होता है। आध्यात्म पथ पर चलकर हम तत्त्व प्राप्ति का प्रयास करते हैं। तत्त्व प्राप्ति तभी होती है जब हम स्थिर रहकर अध्यात्म पथ पर आरूढ् रहते हैं। अस्थिरता से तत्त्व की उपलब्धि में अनेक बाधाएं आती हैं, इसलिए इसमें स्थिर रहकर प्रयास करने की आवश्यकता होती है।

(नौ) आत्मविनिग्रहः– सामान्य रूप से हम सभी का मन अनेक प्रकार के संसारिक विषयों में घूमा करता है और नाना प्रकार के अनावश्यक विषयों का चिंतन करता रहता है। यह मन की वृत्ति है। नाना प्रकार के विषयों के घूमने से, अनावश्यक विषयों के चिंतन से अनेक प्रकार के अनावश्यक कर्म भी होते हैं जिसे ही विकार के रूप में समझना चाहिए। जब साधक मन को नियंत्रित कर लेता है अर्थात् अनावश्यक विषयों का चिंतन नहीं करता है और ग्रहण करने योग्य विषयों को ग्रहण करता है तो इसे ही आत्मविनिग्रहः का स्वरूप कहा जाता है। इससे विकारों के समापन में बड़ी सहायता मिलती है। अनावश्यक इच्छाओं का समापन कर देना ही इसका प्रमुख कार्य है। जब अनावश्यक चिंतन नहीं होता है तो अनावश्यक कार्य भी नहीं होता है और इससे इच्छाऐं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। इसलिए विकारों के समापन हेतु आत्मविनिग्रहः एक विशेष साधन है।

(दस) इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्– इन्द्रियों के अर्थों में अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य का हो जाना भी विकारों के समापन का एक साधन है। हमारी जितनी इन्द्रियां हैं उनके पृथक्–पृथक् विषय हैं। कान का विषय शब्द है, नेत्र का विषय रूप है, जिह्वा का विषय रस है, त्वचा का विषय स्पर्श है तथा नासिका विषय गंध है। इन्द्रियों के विषय में वैराग्य के होने पर संसारिक वस्तुओं से आनंद लेने का भाव समाप्त हो जाता है। हमारी इन्द्रियां अपने विषयों में आसक्त नहीं होती हैं। इन्द्रियां जब अपने विषयों में वैराग्य ग्रहण कर लेती हैं तब भी शरीर में विकारों का समापन हो जाता है।

(ग्यारह) अनहंकार– अहंकारविहीन स्थिति प्राप्त कर लेने से भी विकारों के समापन में सहायता मिलती है। अहंकार से इच्छा, द्वेष, सुख–दुख आदि भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाते

हैं। अहंकार कई विकारों का एक कारण है, इस कारण साधक को अहंकार का भी समापन करके विकारों से निवृत्ति कर लेनी चाहिए।

(बारह) जन्म–मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियों का चिंतन– दुख दोष है। जन्म होता है तब भी अत्यंत दुखद स्थिति होती है। विशेष कर मां के गर्भ में होती है और जब मृत्यु होती है तो भयानक पीड़ा होती है। इसका अनुभव हम सभी ने हजारों बार किया होगा। वृद्धावस्था में भी कष्ट और दुख होता है जब शरीर में व्याधियां, रोग होते हैं तो भी बहुत कष्ट होता है। इन सबका पुनः पुनः विचार करना ही विकारों का शरीर में समापन का कारण है। इन पर विचार करने से हमें मुक्ति के लिए प्रयास करने की प्रेरणा मिलती है। जब हम यह विचार करते हैं कि जन्म के समय भी दुख होता है। मृत्यु और वृद्धावस्था भी दुख का कारण है तथा रोग तो अत्यंत कष्टदायक हैं, इसलिए हमें मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

(तेरह) अनासक्ति– संसारिक विषयों में आसक्त न होना ही अनासक्त कहा जाता है। जब मनुष्य में संसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के भाव का समापन हो जाता है तब भी इच्छा, द्वेष आदि विकारों का स्वतः समापन होता है। इस कारण आसक्तिरूप दोष का त्याग करके मनुष्य विकारों से मुक्त हो सकता है। इसलिए अनासक्ति विकारों से मुक्त होने का एक साधन है।

(चौदह) पुत्र, स्त्री, गृह में आसक्ति का त्याग– हमारे जीवन में जो संयोग है अर्थात् माता, पिता, पुत्र, स्त्री परिवारीजन आदि में हम आसक्त रहते हैं और हम जहां रहते हैं वहां भी हमारी आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति हमारे बंधन का हेतु होती है तथा विकारों का मूल कारण है। इस कारण जो लोग हमारे संपर्कित हैं जो वस्तु हमारे संपर्क में है उससे आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह वस्तुओं और व्यक्तियों से आसक्ति का समापन विकारों के समापन में सहायक होता है।

(पन्द्रह) इष्ट–अनिष्ट में चित्त का सम रहना– विकारों के समापन हेतु एक विशेष साधन है। जब परिस्थितियां अनुकूल रहे तो उसे इष्ट कहते हैं और जब व्यक्ति की परिस्थितियां प्रतिकूल हो जावें तो उसे अनिष्ट कहा जाता है। अनुकूलता में मनुष्य का चित्त उदिग्न नहीं होता है और उसमें प्रसन्नता का भाव रहता है तथा अनिष्ट होने पर दुख की स्थिति आती है इसलिए चित्त चलायमान रहता है। इन दोनों स्थितियों में यदि चित्त एक समान रहे चंचल न हो तो यह स्थिति विकारों के समापन के लिए एक साधन हो जाती है।

(सोलह) अव्यभिचारिणी भक्ति– मनुष्य या तो संसारिक विषयों में विचरता है या भगवान की ओर उन्मुख होकर भगवान के गुण, स्वरूप, ऐश्वर्य आदि में रहता है। कभी–कभी संसारिक आश्रय भी रखता है और परमात्मा का आश्रय ग्रहण करने का प्रयास करता है। जो संसार के आश्रय के साथ–साथ परमात्मा का आश्रय भी ग्रहण कर लेते हैं उनकी इस प्रकार की भक्ति को व्यभिचारिणी भक्ति कहा जाता है। जब साधक एक मात्र परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण कर लेता है तो इसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। यह विकारों के समापन हेतु एक साधन है।

(सत्रह) विविक्तदेशसेवित्वम्–जहां पर शांति, निर्जनता हो उस स्थान पर रहना विविक्तदेशसेवित्वम् कहा जाता है। साधना के हितार्थ शास्त्रों में निर्जनता का बड़ा ही उल्लेख आता है। संसारिक विषयों प्रपंचों से दूर साधक की साधना बलवती हो जाती है। प्रमुख रूप से इच्छा, द्वेष विकार संसार के संपर्क में आने से ही होते हैं और जब संसार का संपर्क समाप्त हो जाता है तो इच्छा, द्वेष आदि विकार स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यह विकारों के समापन हेतु एक विशेष साधन है।

(अट्ठारह) जनसंसदिअरतिः– मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अधिक मनुष्यों के साथ रहना चाहता है। जहां अधिक मात्रा में मनुष्यों की हलचल हो वहां पर सामान्य व्यक्ति रहने की इच्छा करता है परंतु साधक अधिक लोगों के समुच्चय में रहने की इच्छा नहीं करता है। जहां मनुष्यों की इच्छा अधिक होगी वहां इच्छा, द्वेष आदि विकार स्वतः ही उत्पन्न होंगे। इस कारण हमें इच्छा, द्वेषादि विचारों को समाप्त करना है तो हमें अधिक लोगों के स्नेह रखने की प्रवृत्ति का त्याग करना पड़ेगा।

(उन्नीस) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्– जीव से संबंधित ज्ञान को अध्यात्म कहा जाता है जिसमें उसके स्वरूप को समझकर उसकी प्राप्ति की चर्चा होती है। जीव और परमात्मा की एकात्मता का बोध हो जाने पर मनुष्य को तत्काल तत्त्वदर्शन होता है। तत्त्वदर्शन यदि हो जाए तो इच्छा, द्वेष आदि विकार स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। इसलिए अध्यात्म में नित्य स्थिति ही विकारों के समापन हेतु एक साधन है।

(बीस) तत्वज्ञानार्थदर्शनम्– तत्त्वज्ञान के अर्थ का अभिप्राय ही परमात्मा है जिसके दर्शन मात्र से इच्छा, द्वेष आदि विकार स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। यह अत्यंत विलक्षण और उत्कृष्ट स्थिति है। तत्त्वज्ञान के अर्थ स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार होते ही विकार स्वतः ही भाग जाते हैं और मनुष्य को सहजभाव से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रकार से विकारों के समापन हेतु बीस उपायों का वर्णन हुआ है जो विशिष्ट हैं, उन्हें ज्ञान की संज्ञा से भी विभूषित किया गया है। उक्त बीस तथ्यों के प्रतिकूल जो भी कुछ है वह अज्ञान नाम से कहा जाता है। जैसे–यदि हम श्रेष्ठता का भाव रखें। दंभाचरण, हिंसा आदि के भाव रखकर कटुभाषिता का व्यवहार करें। अपने मुक्ति हेतु प्रयास न करें। मन को मनमाने ढंग से संसारिक विषयों में घूमने दें तो इसे वस्तुतः अज्ञान ही कहा जाएगा। इसलिए इन बीस तथ्यों का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हुआ है वह सब ज्ञान के स्वरूप में हुआ है और उसके प्रतिकूल जो कुछ है वह अज्ञान के रूप में है।

61– संसाररूपी वृक्ष की स्थिति–

संसार में जो वृक्ष होते हैं उन सबकी जड़ें नीचे की ओर होती हैं और उस जड़ से तना, शाखाऐं, प्रशाखाऐं, फल, फूल, पत्ती आदि निकलते हैं। पृथ्वी को आधार लेकर यह वृक्ष खड़े रहते हैं और निरंतर जलवायु, वातावरण आदि के सहयोग से फलते फूलते रहते हैं। पृथ्वी की ओर आधार तथा आकाश की ओर शाखाऐं होना यह प्रत्येक वृक्ष का नियम है। पीपल वृक्ष का भी यही नियम है। उसकी जड़ नीचे तथा शाखाऐं फल, फूल, पत्ते ऊपर होते हैं, परंतु यह संसार वृक्ष है उसकी स्थिति संसारिक वृक्षों के नितांत प्रतिकूल है। संसार वृक्ष की स्थिति क्या है? इसे समजता से समझें–

(क) संसार वृक्ष का मूल ऊपर है– संसार वृक्ष की जड़ ऊपर है। वस्तुतः श्रीभगवान का जो परमपद है वह संपूर्ण लोकों से ऊपर है और श्रीभगवान ही जगत की उत्पत्ति का कारण हैं। श्रीभगवान ने सृष्टि के आदिकाल में एक से बहुत होने का संकल्प लिया और प्रकृति को इस ब्रह्माण्ड की रचना का आदेश दिया। प्रकृति ने श्रीभगवान की आज्ञा समस्त ब्रम्हाण्ड की रचना कर डाली। इसी प्रकार श्रीभगवान के परमधाम को इस संसार वृक्ष का मूल मान लिया जावे तो वह उचित रहेगा। श्रीभगवान ने इस सृष्टि का यदि संकल्प न लिया होता तो इस ब्रह्माण्ड का निर्माण ही नहीं होता। इस संसार का मूल ऊपर ही है। जगत की उत्पत्ति का कारण परमधाम होने से पृथ्वी की तरह से परमधाम में संसार की जड़ें हैं। वहीं से सृष्टि का शुभारंभ माना जाता है।

(ख) संसार वृक्ष की शाखा नीचे की ओर है– पुराणों में, शास्त्रों में यह उल्लेख आता है कि सृष्टि के आदिकाल में सृष्टि के प्रथम पुरूष के रूप में भगवान ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान ब्रह्मा के पश्चात् चार सनकादि, सात महर्षियों तथा 14 मनुओं की उत्पत्ति हुई। यह सब आरम्भिक सृष्टि श्रीभगवान के संकल्प से हुई थी। यही सृष्टि का आरम्भ होने के कारण संसार की मुख्य शाखा तने के रूप में है। इस उपरोक्त सृष्टि से ही संसार

रूपी वृक्ष विकसित हुआ। जैसे वृक्ष का मूल अर्थात् जड़ पृथ्वी के अन्दर रहता है, इसी प्रकार इस संसार वृक्ष का मूल भी परमधाम के भीतर है। तने के रूप में ब्रह्मा, सनकादि ऋषि आदि हैं। वह समस्त लोक नीचे हैं। इसकारण संसार वृक्ष का तना नीचे की ओर है।

(ग) संसार वृक्ष के पत्ते वेद हैं :–

जब सृष्टि की रचना हुई तो वेदों की भी रचना की गई। सृष्टि के आदिकाल में यज्ञ, दान तथा ब्राह्मण की रचना भी हुई। सृष्टि के आदिकाल में वेदों का प्राकट्य इसी लिए हुआ ताकि मनुष्य को उसके नित्यकर्म, कर्तव्यकर्म का बोध हो सके और मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को समझ सके। संसार की जड़ परमधाम में है, इसकी शाखा के रूप में ब्रह्मा आदि हैं तथा पत्तों के रूप में वेद हैं। जब वृक्ष बड़ा होता है तो शाखा के साथ उसमें सबसे पहले पत्ते ही निकलते हैं। पत्तों के निकलने से वृक्ष का आकार प्रतीत होता है। आपने किसी वृक्ष को पत्ताविहीन देखा होगा तो वह वृक्ष सा प्रतीत नहीं होता है। पतझड़ के समय जब पत्ते गिर जाते हैं तो वृक्ष की स्थिति सूखे वृक्ष की सी हो जाती है। इस संसार लोक में जब वेद पत्ते के रूप में है तभी यह हरे भर वृक्ष की तरह सुन्दर प्रतीत होता है। वेदों में अनेक अनुष्ठानों का, प्रकृति, माया, जीव और ब्रह्म के बारे में वर्णन हुआ है तथा विशिष्ट वर्णन परमात्मा की अनुभूति की प्रक्रिया के सम्बंध में हुआ है, इसलिए इस संसार वृक्ष के पत्तों को वेद के रूप में कहा गया है।

(घ) संसार वृक्ष त्रिगुणों द्वारा सिंचित है :–

यह संसार सम्पूर्ण ब्रह्मांड में फैला हुआ है और प्रकृतिजन्य त्रिगुणों का प्रभाव भी समस्त ब्रह्मांड में है। कोई भी प्राणी इससे पृथक् नहीं है। इस समस्त ब्रह्मांड में त्रिगुणों का बड़ा प्रभाव है। प्रत्येक जीव इससे मोहित है। मनुष्य इसी सत्त्व, रज, तम की प्रेरणा से ही नाना प्रकार के कर्म करता रहता है। जीवन भर वह त्रिगुणों से मोहित रहता है और इसके प्रभाव को समझ नहीं पाता है। यह विशेष तथ्य है कि इसकी क्रियाविधि सामान्य मनुष्य समझ नहीं पाता है। वह संसार वृक्ष त्रिगुणों के द्वारा ही सिंचित है ऐसी अवधारणा नहीं वरन् यथार्थ तथ्य है। जब समस्त जगत इसके प्रभाव से प्रभावित है, तब यह संसार वृक्ष उससे ही वृद्धि कर रहा है। ऐसा मानना उचित है।

(ङ) त्रिगुणों से वृद्धि प्राप्त संसारवृक्ष की विषयरूप शाखाऐं सर्वत्र फैली हैं :–

इस संसार वृक्ष की शाखाऐं प्रशाखाऐं ऋषियों के रूप में सर्वत्र फैली हुई हैं।विषयों का उद्‌भव त्रिगुणों से होता है। अर्थात् संसार के समस्त विषय त्रिगुणों के कारण है।

विषयों के हेतु त्रिगुण ही है। सात्त्विक गुण अनेक प्रकार के लौकिक, पारलौकिक विषयों से मनुष्य को लगा देते है तथा उनकी प्राप्ति हेतु सकाम कर्मो का क्रियान्वयन करवाते है। रजो गुण विषयों का विशाल भंडार है। जगत में जो कुछ भी अच्छा प्रतीत होता है उसे प्राप्त करने की चाहना उत्पन्न होती है। यह सबका सब रजो गुण का ही कार्य रूप है। समस्त ज्ञानेन्द्रियां शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध विषयों की जो भी क्रियाएं है वह अधिकांशतः रजोगुण से आवृत्त है। तमो गुण ने भी अपने प्रभाव से अनेक विषय संसार में फैला दिए है। मदिरा, मांस आदि में जो सुख का आभास होता है उसे तमो गुण का ही कार्य रूप मानना चाहिए।

संसार वृक्ष में त्रिगुणों से वृद्धि प्राप्ति करके जो शाखाएं फैली हुई है वे हमें प्रतीत नहीं होती पर उनके प्रभाव का स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। संसार वृक्ष की विषय रूपी शाखाओं ने संसार में अपना संजाल बिछा दिया है। स्वर्गादिक लोक भी इससे अछूते नहीं है। यह आश्चर्य ही है कि हम संसार वृक्ष की शाखा प्रशाखाओं को देख नहीं पाते है। वह अव्यक्त रहकर भी अपना पूर्ण प्रभाव जगत पर रखते है। जैसे किसी वृक्ष की शाखा प्रशाखा से हमें छाया की प्रतीती होती है। वह जो छाया की प्रतीती होती है परन्तु संसार वृक्ष की विषय रूपी शाखा हमें प्रतीत नहीं होती है। उसके प्रभाव का उत्कृष्ट साधक अनुमान लगा लेता है और आभास कर लेता है इस प्रकार संसार वृक्ष की प्रशाखाएं सम्पूर्ण ब्रम्हांड में सर्वत्र फैली हुई है।

(च) संसार वृक्ष की प्रशाखाएं मनुष्य लोक में कर्मो के अनुसार बांधती है :–

संसार वृक्ष की जो प्रशाखाएं मनुष्य लोक में फैली हुई है उन्हीं के प्रभाव से कर्म बंधन होता है। ऐसा मनुष्य लोक में ही है अर्थात् मनुष्य योनी में ही है। अन्य लोकों में कर्म का अधिकार नहीं है। कर्म का अधिकार मात्र मनुष्य लोक में ही है। मनुष्य लोक में मनुष्य सात्विक, राजस गुणों से प्रभावित होकर कर्म करते है तथा उन कर्मो के परिणाम से उसे बंधन हो जाता है। सात्विक गुण का परिणाम सुख कहा जाता है। रजो गुण का परिणाम दुःख कहा जाता है और तमो गुण का परिणाम अद्यापतन होता है। इन कर्मो का जो परिणाम है उसे ही कर्म बंधन कहते है और विभिन्न प्रकार की योनियों में यही जन्म ग्रहण करने का कारण है। ऐसा मात्र मनुष्य लोक में ही है अन्य लोकों में नहीं है।

(छ) यह संसार वृक्ष अविनाशी है :–

अविनाशी का अर्थ होता है कि यह संसार वृक्ष विनाश से रहित है। मनुष्य अपने जीवन में संसार रूपी वृक्ष को देखता है या धीरे–धीरे विनाश की ओर बढ़ रहा है। इसमें

एकदम विनाश प्रतीत नहीं होता है। हम जिस संसार में रह रहे है वह लाखों वर्षो से अस्तित्व में है। निरन्तर चल रहा है। इन हजारों लाखों वर्षो से चल रहे संसार का विनाश प्रतीत नहीं होता है। वह आज भी प्रतिष्ठित है कल भी प्रतिष्ठित था और आने वाले समय में भी प्रतिष्ठित रहेगा। इन तीनों कार्यो की प्रतिष्ठा रहने के कारण ही संसार वृक्ष अविनाशी कहा जाता है। परन्तु अविनाशी के रूप में प्रतिष्ठित है। सृष्टि का चक्र सदैव चलता रहता है। सृष्टि आरम्भ होती है उसकी स्थिति प्रतीत होती है। तत्पश्चात् प्रलय होकर पुनः शान्त हो जाती है और शान्त होने के उपरान्त पुनः आरम्भ हो जाती है। इस कारण यह आदि अंत से रहित है। इसीलिए इस संसार वृक्ष को अविनाशी कहा जाता है।

(ज) आसक्ति रूप दोष का परित्याग करें :–

मनुष्य के लिए आसक्ति रूप दोष ही सर्वप्रकारेण बंधन है। हम सब सांसारिक वस्तुओं की और व्यक्तियों की आसक्ति में फंस जाते है। हम जिन वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्पर्क में रहते है उनसे स्नेह करने लगते है। यह स्नेह आसक्ति के कारण ही होता है। आसक्ति के कारण हम जीवन पर्यन्त सम्पर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों का साथ छोड़ नहीं पाते है। यह आसक्ति रूप दोष साधारणतः सभी में होता है और यह त्रिगुणों के कारण ही होता है। शास्त्रों के अध्ययन से हम जीवन तथा जगत की वास्तविकता को समझ जाते है। जीवन की वास्तविकता को समझ कर आसक्ति का विनाश कर सकते है। यदि हमने आसक्ति का विनाश नहीं किया तो जिस प्रकार हम करोड़ों वर्षो से जीवन मरण के चक्र में घूम रहे है वैसे ही घूमते रहेंगें। आसक्ति रूप दोष के परित्याग से ही मनुष्य को मुक्ति सहज रूप से प्राप्त हो जाती है।

(62) मुक्ति प्राप्ति की छः स्थितियां :–

भगवद् गीता में परम पद की प्राप्ति मोक्ष की प्राप्ति, परमधाम की प्राप्ति आदि आदि की ओर संकेत करके मुक्ति की ओर संकेत किया गया है। यह मुक्ति की प्राप्ति आवागमन के चक्र से मनुष्य को मुक्त कराने के लिए होती है। श्री गीता जी में 6 विशेष स्थितियां प्राप्त करने का उदेश दिया गया है। इन 6 स्थितियों की परख साधक स्वयं कर सकता है और अपने को मुक्ति के योग्य बना सकता है। यह 6 स्थितियां निम्न प्रकार से है।

(क) निर्मानमोहा (सम्मान तथा मोह से रहित हो जाना) :–

प्रत्येक मनुष्य सम्मान का आकांक्षी होता है और मोह से आवृत्त रहता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति रहती है कि उसे सम्मान प्राप्त हो। साधारण से लेकर प्रत्येक क्षेत्र के उच्च

मनुष्यों में यह वृत्ति निश्चित पायी जाती है कि वे सम्मान के आकांक्षी होते है और मान सम्मान की प्रतिकूल स्थिति आने पर तत्काल उद्विग्न हो जाते है। साधक, शास्त्रज्ञ और संत जन भी मान सम्मान चाहते है। मान सम्मान न मिलने पर, प्रतिकूल बाते कहने पर तथा प्रतिकूल व्यवहार करने पर वह उद्विग्न हो जाते है और कहते है कि हमारा अपमान कर दिया। यह निर्मान के प्रतिकूल स्थिति है। हमारा मान सम्मान न हो और हमारे मान सम्मान के प्रतिकूल कोई कुछ कहे तो हमारे मन में कोई हलचल न हो तो हम निर्माण की स्थिति को प्राप्त कर लेते है। परमात्मा के साक्षात्कार की यह पहली स्थिति है जिसको साधक स्वयं ही परख सकता है।

जिन सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के सम्पर्क में हम रहते है उसके प्रति हमारा मोह अनावश्यक रूप से जागृत हो जाता है। हम सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के मोह से आवद्ध रहते है। सांसारिक मोह के कारण ही नाना प्रकार के दुष्कर्म करके मोह से सम्बंधित वस्तुओं का संग्रह करते है। तथा सम्पर्कित लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रयास करते रहते है। यह मोह रूपी दोष की प्रबलता के कारण ही होता है। साधक की जब सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति मोह की शून्यता आ जाती है तो वह परमात्मा के साक्षात्कार के योग्य हो जाता है। इसलिए मोह से विगत हो जाना मुक्ति की प्राप्ति के योग्य हो जाने की स्थिति है।

(ख) जितसंगदोषा :–

आसक्ति रूप दोष को जीतने को जितसंगदोषा कहा जाता है। संसार में अनेक प्रकार की आसक्तियां जिनमें आसक्त रहकर मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है। जैसे एक भंवरा फूलों के प्रति आसक्ति होता है और वह उसकी गंध में आसक्त रहकर उसके चारों ओर घूमा करता है। इसी प्रकार संसार में अनेक आसक्तियां है। जैसे धन में आसक्त मनुष्य अति कृपणता से जीता है और वह घृणा शक्ति के कारण न तो स्वयं ही उसका उपभोग करता है और वह नहीं चाहता है कि अन्य लोग भी उसका उपयोग करें। कृपण मनुष्य धन की आसक्ति के कारण सांसारिक वस्तुओं में भी आसक्त हो जाते है और अपने स्वामित्व की वस्तुओं के प्रति जीवन पर्यन्त उन्हें अपने अधीन रखने का प्रयास करते है। यह धन की बड़ी प्रबलता है। इसकी कृपणता तो आती ही है और भी अन्य दोष आ जाते है। इस प्रकार हम अपना आत्म निरीक्षण करें कि हम किस प्रकार से संसार में आसक्त है और वे कौन सी वस्तुएं है जिनके प्रति हमारी आसक्ति हो गई है उस आसक्ति को खोज खोज कर हमें उसका परित्याग कर देना चाहिए। जैसे कोई सुस्वाद भोजन की ओर

आसक्त हो जाता है और वह नाना प्रकार के व्यंजनों का स्वाद लेना चाहता है। जीवन पर्यन्त इसी में आसक्त रहता है। जैसे कोई मधुर गीतों में आसक्त हो जाता है और वह मधुर गीतों को सुनना चाहता है। ऐसे ही नाना प्रकार की आसक्तियां माया ने अपनी शक्ति से संसार में उत्पन्न कर दी है जिनमें हम सभी फंसे हुए है। साधक जब सांसारिक समस्त प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर एक मात्र परमात्मा में आसक्त हो जाता है तो वह परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

(ग) अध्यात्मनित्या :–

अध्यात्म जी को कहा जाता है और जीव से सम्बंधित जितना विषय है वह सबका सब अध्यात्म विषय ही है। हम सब जीव जिस अवस्था में है जो भी है जैसे भी है यह मान कर चलते है कि हम वह ही हैं यही मानकर व्यवहार करते है कि हम अमुक है। जब हमारा यह व्यवहार समाप्त हो जाएगा तो हम जो भी है वह अपने को समझ लेंगे हम संसार में जो है वह वास्तव में नहीं है। अपने को जो मान रहे है वैसी वास्तविकता नहीं है। जब यह तथ्य हमारी समझ में आ जाएगा। गहरे से बैठ जाएगा तो हमारी अपने स्वस्वरूप में स्थिति हो जाएगी। जैसे हम है वैसा हम नहीं मान रहे है यही बंधन का कारण हैं हमने अपने को संसार में जैसे हम है वैसे ही मान लिया है। हम अपने को शरीर मानते है हम शरीर नहीं है हम परमात्मा अंश जीव है जो विनाश रहित और शीघ्रता से जानने में नहीं आता है। नित्य रहने वाला है। उसका जन्म नहीं होता है वह विकार रहित है जबसे सृष्टि है तब से वह है। वह अच्छेद अदाहय अक्लेद अशोष्य गुण वाला है। सर्वगत है। अचल और स्थिर है। वह जीव व्यक्त नहीं होता है जिस कारण अव्यक्त है। चिंतन का विषय नहीं है। इस कारण अचिंतय स्वरूप है। यह मानकर चलने से तत्व प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। जैसे हम शरीर को मानकर व्यवहार करते है। वैसे हम जीव को मानकर व्यवहार करने लगे तो यह स्थिति अध्यात्म में नित्य स्थिति मानी जाती है। अध्यात्म में नित्य स्थिति हो जाने पर हम मुक्त हो जाते है और जब तक अपने को शरीर मानकर चलते है, सांसारिक स्थिति वाला मानकर चलते है तब तक मुक्त नही होते है। मुक्ति की यही योग्यता है।

(घ) विनिवृत्तकामा :–

हम सभी का जीवन कामनाओं के वशीभूत होकर ही अनेक प्रकार की क्रियाएं करता रहता है। कामनाएं असंख्य है और प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी कामनाओं में ही संलग्न रहकर जीवन पर्यन्त यंत्रवत कार्य करता रहता है। कामनाओं का संजाल इतना वृहद गूढ़

रहस्यप्रद एवं विशाल है कि इनसे निवृत्ति हो जाना असंभव रहता है। मनुष्य मृत्यृ के निकट पहुंच कर भी अनेक कामनाएं करता रहता है और विचारता है कि हमारी मृत्यु निकट है और हमारी अमुक अमुक इच्छाएं पूरी नहीं हो पायी है। यह विचार तो सदैव रहता है कि हमारी अनेक इच्छाएं अभी अधूरी है। इसे कामनाओं की प्रबलता ही कहा जाएगा। वस्तुतः कामनाएं ही परमात्मा के साक्षात्कार में मुख्य बाधा हैं जब मनुष्य कामनाओं से अपने को निवृत्त कर लेता है अर्थात् उनसे हट जाता है तो परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है और उसे धीरे–धीरे परमात्मा की सत्ता की अनुभूति होने लगती है।

एक स्थिति ऐसी आती है कि मनुष्य अपने को कामनाओं से निवृत्त करने का प्रयास करता है। इसमें प्रयास विशेष ही सिद्धि का मूल मंत्र है। असंख्य कामनाएं एकदम समाप्त नहीं होती। यह एक सामान्य बात है। किसी विशेष स्थिति में ही कामनाएं पूरी तरह से समाप्त हो जाती है परन्तु अधिकांश साधक ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है। वैसे ही कामनाओं से निवृत्ति होती जाती है। यह क्रमिक तथ्य अधिकांशतः धीरे–धीरे होता है। जब कामनाएं धीरे–धीरे अर्थात् सम्पूर्णता से भली प्रकार निवृत्ति हो जाती है तो मनुष्य परमात्मा के साक्षात्कार के योग्य हो जाता है। कामनाओं से पूरी तरह निवृत्ति हो जाएगी तो परमात्मा में ही प्रवृत्ति हो जाएगी। इस कारण कामनाओं को पूरी तरह से निवृत्त कर लेना मुक्ति का एक साधन है। यदि मनुष्य चाहे तो एक क्षण में अपनी धारण शक्ति से कामनाओं को छोड़ सकता है। परन्तु जो कामनाएं असंख्य वर्षो से हमारे साथ में है वह तत्काल हमारा साथ नही छोड़ती। इसके लिए हमें प्रयास करना पड़ता है।

(ङ) सुख दुःख आदि द्वंद्वों से मुक्त होकर :–

मानव जीवन में सुख और दुख विशेष प्रकार के द्वंद्व है जो शीघ्र निवृत्त नहीं होते है। जब हमारे समक्ष अनुकूलताएं आ जाती है तो हमारी समस्याएं स्वतः ही निवृत्ति होती प्रतीत होती है और हमें सुख का आभास होता है तथा प्रसन्नता होती है। यह स्थिति सामान्य रूप से रहती है। जब प्रतिकूलताएं आती है तो कष्ट की अनुभूति अर्थात् दुख का आभास होता है। यह भी स्वतः ही होता है। सुख और दुख के आभास की स्थिति प्रत्येक मनुष्य में रहती है। अब एक विचार आता है क्या इन दोनों स्थितियों से मुक्त हुआ जा सकता है। प्रतिकूलताओं में दुःख का आभास एवं अनुकूलताओं में सुख का आभास न हो क्या ऐसा संभव हैं जब साधक सुख और दुख की स्थितियां समझ जाता है तो उसे सुख और दुःख की अनुभूति होना समाप्त हो जाती है। सुख दुःख हमारे अपने संचित कर्मो के परिणाम के रूप में ही स्वभावतः प्रकट होते है। यदि हम शुभ कर्म करते है तो उसका

परिणाम हमें सुख के रूप में स्वतः ही प्राप्त होता है। इसके विपरीत हम जब दुष्कर्म करते है तो दुख के रूप मे उसका परिणाम प्रकट हो जाता है। इसलिए यह सब हमारे कर्मो का ही परिणाम है। यह तथ्य समझ में आ जाने पर हम अनुकूलताओं के आने पर सुखी नहीं होते है और प्रतिकूलताओं के प्रकट हो जाने पर दुःखी नहीं होते है। साधक जब साधना से परमात्मा के निकट आ जाता है तो उसे यह अनुभूति समाप्त हो जाती है और जब पूरी तरह से वह इससे निवृत्त हो जाता है तो वह मुक्ति के योग्य होता है।

(च) अमूढ़ हो जाने पर :–

मूढ़ मनुष्य मूर्ख को कहा जाता है। जो मनुष्य जीवन की और जगत की वास्तविकता को समझ नहीं पाता है, जानता नहीं है वह मूर्ख ही है। यह जीवन स्वप्न में नाना प्रकार के दृश्यों को देखता रहता है। उनकी संलग्नता में सुखी दुःखी होता रहता है। उसकी प्रका यह जीवन है। उसमें भी स्वप्न की तरह से पृथक–पृथक दृश्य आया जाया करते हैं स्वप्नावस्था में स्वप्न को हम सही मानकर सुखी दुःखी होते है पर जब जागृत अवस्था आती है तो स्वप्न अवस्था के दृश्यों की वास्तविकता को समझकर हम सब सुखी दुःखी नहीं होते है। अर्थात् रोते हंसते नहीं है। क्योंकि स्वप्न में रोना हसना वास्तविक नहीं होता हैं इसी प्रकार जीवन में जो कुछ भी है वह वास्तविक नहीं है। यह तथ्य जब हम जान लेते है तो साधक हो जाते है और हमारे अंदर से जो मूर्खता है अर्थात् जीवन की वास्तविकता की ना समझी है वह समाप्त हो जाती है। अमूढ़ मनुष्य ज्ञानी कहा जाता है। वह मूर्खता को त्याग करके परमात्का की ओर बढ़ता है। उसे इसी अमूढता रूपी गुण के कारण मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार साधक जब सांारिक मोह से विगत हो जाता है। आसक्ति रूप दोष को जीत लेता है अपने स्वस्वरूप में स्थित होकर नित्य उसमें स्थित रहता है तथा समस्त प्रकार की सांसारिक कामनाओं से निवृत्त हो जाता है तथा दुःख और सुख रूपी द्वंद्व से रहित होकर ज्ञानी हो जाता है तो वह मुक्ति के योग्य होता है। उक्त प्रकार से वर्णित 6 स्थितियां परमात्मा के साक्षात्कार के विशेष साधन के रूप में यहां पर वर्णित किये गए है जिनमें एक स्थिति में भी दृढता आने पर हम परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त कर लेते है। प्रत्येक साधक को इन उक्त वर्णित 6 तथ्यों को ध्यान से देखना चाहिए तथा उनसे अपने साधन को परखना चाहिए। इससे साधक को अपनी वास्तविक स्थिति का आभास हो जाता है कि हम परमात्मा के साक्षात्कार रूपी पथ पर किस स्थान पर पहुंच चुके है।

(63) गीता जी में देवोंपासना के प्रकरण :–

श्री गीता जी में देवताओं की उपासना से सम्बंधित अनेक प्रकरणों का उल्लेख विस्तार से किया गया है। विशेष रूप से श्री गीता जी के सातवें अध्याय में श्री भगवान ने इसका उल्लेख किया है तथा अन्य स्थलों पर भी इसे वर्णित किया है। देवोत्पासना के प्रकरा के जो मूल तथ्य है उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है–

(क) श्री भगवान ही देव श्रद्धा की स्थापना करते है :–

हम सब जब भी सकाम भावना से किसी देवता की उपासना, पूजन, स्मरण, जप आदि करना चाहते है तो यह श्रद्धा हमारे अंतःकरण में कहां से आती है ? कि हम देवता की उपासना करने को उन्मुख होते है। बिना श्रद्धा के उपासना संभव नहीं है। इस तथ्य को इस प्रकार कहे कि किसी भी देवता की उपासना का शुभारम्भ श्रद्धा के आधार पर ही होता है। बिना श्रद्धा के पूजा उपासना आरम्भ नहीं हो सकती है। यह श्रद्धा हमारे अंतःकरण में कौन स्थापित करता है जिससे वसीभूत होकर हम अनेक प्रकार के देवी देवताओं की उपासना करते रहते है। हमारे अंतःकरण में किसी देवता के प्रति जो श्रद्धा बनती है, उपार्जित होती है वह परमातमा की कृपा से ही होती है। परमात्मा की कृपा के अभाव में नही हो सकती है। वह परमात्मा ही हमारे अंतःकरण में श्रद्धा को उपार्जित करता है, उत्पन्न करता है जब परमात्मा की कृपा से श्रद्धा का उर्पाजन हो जाता है तो हम उस देवी देवता की उपासना में लग जाते है।

(ख) कामनाओं से अपहृत ज्ञान वाले देवताओं की उपासना करते है :–

साधारणतः जब मनुष्यों अनेक प्रकार की कामनाएं उत्पन्न हो जाती है तो मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के देवी देवताओं की उपासना करता है। हम जानते है कि जब कोई मनुष्य किसी देवता की उपासना आरम्भ करता है तो वह अपनी कामना की पूर्ति के लिए ही करता है। कामना की पूर्ति के लिए की जाने वाली उपासना को सकाम उपासना कहते है। जब हम अपनी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति स्वयं करने में अपने को असमर्थ पाते है तो हमारा प्रयास रहता है कि हम देवताओं की कृपा से उन कामनाओं की पूर्ति के साधन प्राप्त कर लें। इस प्रकार जब हमारी कामनाएं प्रबल हो जाती है और साधरणतः हमें वे पूरी होते प्रतीत नहीं होती है तो हमारे सम्मुख देवताओं की उपासना का विकल्प रहता है। चूंकि कामनाएं ही हमारे बंधन का कारण है। इसलिए कामनाएं ही मनुष्य

के ज्ञान का अपहरण कर लेती है। इस प्रकार जब मनुष्य में अनेक कामनाओं का उद्भव हो जाता है तब वह देवताओं की उपासना करता है।

(ग) देवोत्पासना अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार होती है :–

हमारे शास्त्रों में 33 कोटि देवताओं का उल्लेख आता है। हम सब पृथक्–पृथक् प्रकार से अनेक प्रकार के देवी देवताओं की उपासना करते है। क्योंकि हमारी कामनाएं भी अनेक प्रकार की होती है। हमारी प्रकृति ही इस तथ्य का निर्धारण करती है कि हम किस देवता की उपासना करें। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में पृथक–पृथक् कामनाओं की पूर्ति के लिए पृथक–पृथक देवताओं की उपासना का प्राविधान है। जिसका वर्णन विस्तार से हुआ है। उससे भी देवोत्पासना हेतु प्रकृति का उदय होना कहा जाता है। विभिन्न प्रकार की कामनाएं किस किस देवता की उपासना से पूरी होती है यह तथ्य शास्त्रों में वर्णित है। उसका भी अवलोकन प्रसंग वश कर लें।

ज्ञान प्राप्ति के लिए भगवान शंकर की उपासना की जाती है। धन की प्राप्ति के लिए वरूण देवता की उपासना की जाती है। यज्ञ के लिए यज्ञ पुरूष की उपासना होती है। सौर्न्दय की प्राप्ति के लिए गंध्र्वो की उपासना होती है। ब्रम्ह तेज के लिए ब्रहस्पति की उपासना होती है। इन्द्रियों में विशिष्ट तेज के लिए इन्द्र की उपासना होती है। लक्ष्मी के लिए माया देवी की उपासना होती है। तेज प्राप्त करने के लिए अग्नि देव की उपासना होती है। संतान के लिए प्रजापति की उपासना होती है। धन की के लिए वसु की उपासना होती है। सांसारिक भोगों के लिए चन्द्रमा की उपासना होती है। वंश परम्परा के लिए पितरों की उपासना होती है। मुक्ति के लिए श्री भगवान की उपासना होती है। इस प्रकार देवोत्पासना अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु पृथक–पृथक प्रकार से की जाती है और मनुष्य में वैसी ही प्रकृति का निर्माण हो जाता है।

(घ) देवताओं की शरण हेतु निमयों का पालन करते है :–

सकाम उपासना में मनुष्य जो भी आकांक्षा करता है उसी के विचार से उसकी प्रकृति वैसी ही बन जाती है जैसे हम ज्ञान की आकांक्षा करते है तो ज्ञान प्राप्ति की प्रकृति बन जाती है। यहां पर ज्ञान का अभिप्राय सांसारिक ज्ञान से ही है। ज्ञान प्राप्ति की प्रकृति बन जाने पर शास्त्रों में उल्लिखित नियमों के आधार पर भगवान शंकर की उपासना का प्रयास करते है। भगवान शंकर की उपासना किस प्रकार से की जाए यह जानने के लिए हम शास्त्रों में उल्लिखित नियमों का पालन करते है। उन उन नियमों का उचित पालन

करने से ही देवगण प्रसन्न होते है और हमें हमारी वांछित वस्तु प्रदान कर देते है। किसी भी देवता की उपासना सकाम भाव से करने में नियम विशेष होते है। जिसके आधार पर देवोत्पासना पूरी होती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के देवताओं की उपासना ही पृथक–पृथक नियमों का उल्लेख है। जिससे अपने देवता की उपासना का सम्पादक होता है।

(ङ) देवताओं को कामना पूर्ति के वरदान देने का अधिकार भगवान प्रदत्त है :–

ब्रम्हांड की विशाल व्यवस्था हेतु परमात्मा ने पृथक–पृथक कार्यो हेतु पृथक पृथक देवताओं की नियुक्ति कर रखी है। जैसे किसी राष्ट्र की व्यवस्था के संचालन हेतु पृथक–पृथक प्रकार के विभाग बनाये जाते है। जैसे विधायिका, कार्य पालिका, न्याय पालिका आदि आदि प्रत्येक विभाग का पृथक–पृथक कार्य और अधिकार होता है। कार्यो को और अधिकारों को सर्वोच्च सत्ता द्वारा प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार परमात्मा ने इस सम्पूर्ण ब्रम्हांड की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु लाखों देवताओं को नियुक्त कर रखा है तथा प्रत्येक देवता को पृथक–पृथक अधिकार प्रदान किये है। जब कोई मनुष्य किसी देवता की उपासना करता है तो वह देवता व अपने अधिकारों के अधीन रहकर मनुष्य को उसकी पूजा उपासना का परिणाम दे देता है। इस प्रकार जिन अधिकारों के अधीन देवगण वरदान देते है वह समस्त अधिकार परमात्मा के द्वारा ही उस देवता को प्रदान किया जाता है और उसका उपभोग देवगण करते है।

(च) देवोत्पासना से प्राप्त परिणाम नाशवान होता है :–

देवोत्पासना करने वाले सकाम उपासकों को जो जो फल देवताओं के द्वारा प्रदान किये जाते है वह सबके सब नाशवान ही होते है और अंततः उनका विनाश हो जाता है। देवताओं की उपासना से देवगण इस जगत की वस्तुएं धन सम्पत्ति, ऐश्वर्य पुत्र आदि की प्राप्ति करवा देते है और मृत्यु के उपरान्त अधिक से अधिक अपने लोकों में ले जाते है। लोकों में मनुष्य मृत्यु के पश्चात् निवास भी कर सकता है। मृत्यु के पश्चात् जब देवताओं का भक्त देव लोकों में निवास करता है तो वहां के दिव्य भोगों का अनुपालन करता है तो उनका उपभोग भी करता रहता है। देवताओं के दिव्य लोकों के उपभोग से उसके संचित पुण्य समाप्त होते जाते है और जैसे ही संचित पुण्य पूरी तरह से समाप्त होते है वह उन लोकों से हटकर पुनः जन्म ले लेता है। इस प्रकार उन लोकों में निवास का समय निश्चित है और वह निरन्तर घटता जाता है। सम्पूर्ण पुण्यों का उपभोग कर लेने के पश्चात् पुनः इसे इसी दुःख रूप मृत्यु लोक में आना पड़ता है। इस कारण जो फल उसे प्राप्त होता है

वह अंततः नाशवान प्रकृति का होता है। संसार में भी देवताओं की उपासना से जो फल मिलता है वह भी नाशवान होता है। और मृत्यु के पश्चात् जो उसे प्राप्त होता है वह भी नाशवान होता है। इस प्रकार देवताओं की सकाम उपासना का फल नाशवान कहा जाता है।

(छ) देवोत्पासना से देवताओं की प्राप्ति होती है :–

देवताओं की स्थिति और उनके अधिकारों के विषय में पूर्व में भी वर्णन हो चुका है। उपासना प्रमुखता से चार प्रकार की होती है। जिसे भूत प्रेतों की उपासना, पितरों की उपासना, देवताओं की उपासना तथा परमात्मा की उपासना कहा जाता है। इन समस्त प्रका की उपासनाओं से परमात्मा की उपासना श्रेष्ठ मानी जाती है। परमात्मा की उपासना इस कारण श्रेष्ठ मानी जाती है क्योंकि परमात्मा ही हमें जन्म और मृत्यु के चक्र से निकाल कर मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है। जब मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है तो वह परमात्मा के परमधाम में निवास करता है। अर्थात् परमात्मा की उपासना करने वाले निष्काम भक्त परमात्मा को ही प्राप्त हो जाते है। जो भूत प्रेतों की उपासना करते है वह भूत प्रेतों को प्राप्त होते है। जो पितरों की उपासना करते है वह पितरों को प्राप्त होते है। तथा देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते है और परमात्मा की उपासना करने वाले परमात्मा को प्राप्त होते है। यह निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्त और नियम है जिसका उल्लेख शास्त्रों में होता है।

(ज) सात्विक स्वभाव के मनुष्य देवताओं की उपासना करते है :–

प्रत्येक मनुष्य अपनी उपासना अपने गुणों के आधार पर करता है। अर्थात् जिस मनुष्य में जिस प्रकार का गुण होता है। वह उसी प्रकार की उपासना करता है। जैसे तमो गुण से आवृत्त मनुष्य भूत प्रेतों की उपासना करते है। राजसी गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य यक्ष और राक्षसों की उपासना करते है और सात्विक गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य देवताओं की उपासना करते है। यह उपासना का आधार गुणों के कारण होता है। यदि साधक में देवताओं की इच्छा की उपासना जागृत हो जाए तो समझना चाहिए कि वह सात्विक गुण से आवृत्त है और इसी कारण वह देवताओं की उपासना करने का प्रयास कर रहा है। देवताओं में भी सात्विक गुणों की प्रधानता रहती है। इस कारण देवताओं की उपासना वाले साधकों में सात्विक गुणों की भी प्रधानता होती है और वे भी देवोत्पासना की ओर अनायास ही उन्मुख हो जाते है।

श्री भगवान ने उपरोक्त प्रकार से देवताओं की उपासना के संदर्भ मे कुछ तत्वों का उल्लेख भगवत गीता में किया है तथा उसी के आधार पर देवताओं की उपासना के संदर्भ में उपरोक्त प्रकार से उल्लेख हुआ है। वस्तुतः सम्पूर्ण ब्रम्हांड की व्यवस्था के संचालक श्री भगवान ही है और वह सभी मनुष्यों के लिए पूजनीय है। हम सभी को उनका यथोचित आदर, सत्कार, पूजा उपासना वंदन, नमन, आदर पूर्वक प्रेम भाव से करना चाहिए। यही हमारा कर्तव्य कर्म हैं देवताओं की उपासना सकाम भाव से न करके फल इच्छा का त्याग करके निष्काम भाव से करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि वह हमसे श्रेष्ठ है तथा हमारी स्थिति और व्यवस्था करने के लिए उद्वत रहते है।

भगवद्गीता के पूरक विषय :-

(64) भगवद्गीता के विशिष्ट विषय :—

पूर्वोक्त प्रकार से जिन जिन विषयों का वर्णन हुआ है वह भगवदगीता के विशेष प्रकरण है तथा मूलभूत ज्ञान हेतु अति आवश्यक है। यद्यपि गीता ज्ञान को सीमांकित किया जा पाना संभव नहीं है फिर भी यह विचार है कि इस लघु पुस्तिका में श्री गीता जी के समस्त विषयों को समाहित किया जाए। इसी विचार को दृष्टिगत रखकर अन्य अवशेष विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है तथा उन्हें पूरक विषय के रूप में यहां वर्णित किया जा रहा है। वे विशिष्ट विषय निम्न प्रकार है।

(एक) जीवात्मा पुराने शरीरों को पुराने वस्त्रों की तरह से त्यागती है :—

जब से सृष्टि हुई तभी से हम अस्तित्व में है। हमारे तुम्हारे सभी के असंख्य जन्म हो चुके है। शास्त्रों में यह उल्लेख आता है कि 84 लाख योनियों में हमें घूमना पड़ता है। चौरासी लाख योनियों का अर्थ है कि ब्रम्हांड में 84 लाख प्रकार के प्राणी है। इन सबमें हम सभी का निरन्तर घूमना हुआ करता है। यह पृथक प्रकार की योनियों में भ्रमण ही सृष्टि का चक्र कहलाता है। जब सृष्टि आरम्भ हुई तब से जीव का अस्तित्व प्रथम शरीर में प्रकट हुआ। यह शरीर जब समाप्त हुआ तब उसी जीव ने दूसरे शरीर को ग्रहण कर लिया दूसरे शरीर के काल के प्रभाव से समाप्त होने पर तीसरा शरीर अस्तित्व में आया। उसी प्रकार इस मूल जीव ने शरीरों का निरन्तर परिवर्तन किया। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर, त्याग कर नये वस्त्रों को धारण कर लेता है उसी प्रकार शरीर के वृद्ध हो जाने पर यह जीव नये शरीर को धारण कर लेता है। उस जीव का तो जन्म नहीं होता

वह अजन्मा ही रहता है। परन्तु पुराना शरीर वह छोड देता हैं। आज तक इस एक जीव ने असंख्य शरीरों को धारण किया है। ग्रहण किया है और अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में घूमा है। इस प्रकार एक जीव पुराने शरीरों को पुराने वस्त्रों की तरह से त्याग कर नवीन शरीर को ग्रहण कर लेती है।

(दो) हम सब मध्य में प्रकट है :–

मनुष्य माता के गर्भ में प्रकट होकर चेष्टा करता है। मनुष्य माता के गर्भ में अव्यक्त रहकर व्यक्त रहता है। अर्थात् हम जानते है कि मां के गर्भ में हमारी तरह से एक शरीर पल रहा है। बढ रहा है। जब हमारा जन्म होता है। तब हम प्रकट हो जाते है। शिशु के रूप में हमारा प्रकटीकरण होता है। शिशु के रूप में प्रकटीकरण अथवा गर्भ में आने से पूर्व हम कहा थे यह ज्ञान हमें नहीं है। परन्तु कहीं अवश्य थे यह निश्चित है। शिशु के पश्चात् जीवन गति करता है। स्वतः ही आगे बढ़ता है। शिशु से बाल्यावस्था, कुमारावस्था, युवा वस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था स्वतः ही आती है। यह परिवर्तन अपने आप हुआ करता है। समय के प्रभाव से हमारी स्थिति स्वतः ही परिवर्तित हुआ करती है। यह स्थिति जब परिवर्तितत होती है तो हम व्यक्त रहते है। हमें शिशु अवस्था में भी देखा जा सकता है। कुमारावस्था तथा युवावस्था के रूप में भी हम व्यक्त रहते है। प्रौढ़ होकर वृद्ध होते हुए भी हम देखे जा सकते है। यह सबका सब प्रकटीकरण है।

वृद्ध होकर मनुष्य मृत्यु को प्रापत हो जाता है। वह शिशु से वृद्ध होने तक प्रकट रहता है और मृत्यु के पश्चात् अप्रकट हो जाता है। इसी प्रक्रिया को मध्य में प्रकट होना काहा जाता है। मध्य में प्रकट होकर ही हम नाना प्रकार के कर्म करते है। मध्य में मनुष्य का जो प्रकटीकरण है वह महत्वपूर्ण है। समग्र साधनों का हेतु इसी मध्य में हम चाहे तो देवता बन सकते है चाहे राक्षस असुर बन सकते है और चाहे तो हम मुक्ति की योग्यता प्राप्त करके मुक्त हो सकते है। इस कारण यह मध्य काल महत्वपूर्ण है। जिसमें मनुष्य प्रकट रहता है। दिखाई पड़ता है। व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है। मध्य काल के अतिरिक्त मनुष्य प्रकट नहीं रहता। अप्रकट रहता है। अप्रत्यक्ष रहता है। अप्रतीत होता है। यह विशेष बात है।

मध्य काल में जब हम प्रकट रहते है तो हम जो व्यवहार करते है जिस प्रकार चलते है वह सांसारिक स्थिति को देखकर चलते है। तब हमारी स्थिति आप्रकट काल में पतन की ओर जाती है। यदि मनुष्य अपने जन्म से पूर्व तथा मृत्यु के पश्चात् की स्थितियों पर विचार कर ले तो वह प्रकट काल अर्थात् मध्य काल में करने योग्य कर्म ही करेगा।

नैतिक रूप से कर्तव्य कर्मो का आचरण करेगा। मध्य काल में हम जो है वह मानकर जब हम चलते है तो बंधन में हो जाते है। हमारे पूर्व तथा अतीत भूत एवं भविष्य की स्थिति को निर्धारित करने वाला मध्य काल इस कारण बहुत महत्वपूर्ण है। यदि हम चाहे तो अपने कर्तव्य कर्मो का सम्यक आचरण करके मध्य काल को समाप्त कर सकते है। और जीवन मरण के चक्र से मुक्त हो सकते है।

(तीन) संयमी पुरूष जगत के प्रपंचों में सोता हैः—

इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य है। एक तो असंयमित पुरूष है और दूसरे संयमित पुरूष है। संयमित मनुष्य संसार की अनावश्यक चेष्टाओं से अपने को पृथक कर लेता है कि जगत में जो कुछ हो रहा है वह उसे निरपेक्ष भाव से उदासीनवत होकर देखता है और उसमे ंआसक्त भी नहीं होता है। सांसारिक चेष्टाओं में आसक्ति न होने के कारण सांसारिक क्रिया कलापों में संयमी मनुष्य संलग्न नहीं होता है। इसका स्पष्ट ओर सरल अभिप्राय यह है क जगत में क्या हो रहा है ? कोई क्या कर रहा है ? उस सबका संयमी मनुष्य से कोई सम्बंध नहीं होता। इसके प्रतिकूल जो मनुष्य असंयमित होते है। वे जगत की चेष्टाओं में जगत के नाना प्रकार के कार्यकलापों में, गतिविधियों में अपने को संलग्न रखते है। असंयमित मनुष्य नाना प्रकार के कर्मो में आसक्त होकर उनका क्रियान्वयन किया करता है। यही बंधन का हेतु है।

संयमी मनुष्य का संसार और असंयमी मनुष्य का संसार पृथक—पृथक प्रकार का होता है। संयमी मनुष्य असयंमी के मनुष्य के संसार में सोता है। अर्थात् सयंमी मनुष्य भगवान के प्रति आस्क्त रहकर पूजा उपासना आदि करता है और असयंमी मनुष्य भगवान के प्रति आश्रित रहकर पूजा उपासना आदि करता है और असंयमी मनुष्य जगत की वस्तुओं को एकत्र करके उनके उपभोग में लगा रहता है। उसे भगवान के विषय में चिंतन का अवसर नहीं मिलता है। इस प्रकार संयमी मनुष्य का कार्य क्षेत्र पृथक है और असंयमी मनुष्य का कार्य क्षेत्र पृथक है। दोनों की गतिविधियों पृथक—पृथक प्रकार की है। एक भगवद चिंतन में रमता है तो दूसरा संसार के विषयों में रमता है। एक अध्यात्म के विषय में जागता है और दूसरा अध्यात्म के विषय में सोता है। एक संसार की उपेक्षा करता है और दूसरा भगवान की उपेक्षा करता है। एक के समस्त कार्य संसार के लिए होते है और दूसरे के समस्त कार्य भगवान के लिए होते है। एक भगवान की अनुभूति करता है और दूसरा संसार की अनुभूति करता है। इस प्रकार संयमी तथा असंयमित पुरूष के विषय पृथक—पृथक प्रकार के है और प्रतिकूल है।

(चार) कर्मो में कुशलता ही योग है :–

मनुष्य प्रतिक्षण कर्म करता है वह अकर्मकृत नहीं रह सकता है। प्रकृति जन्य गुणों के परवश रहकर वह अनेकों प्रकार के कर्म करता है। मनुष्य जिन कर्मो का सम्पादन करता है। उनके दो प्रकार होते है। एक कुशलता पूर्वक कर्मो क करना और दूसरे अकुशलता पूर्वक कर्मो का करना। हम जब किसी कर्म को अच्छी प्रकार से करते है। सूक्ष्मता से निरीक्षण करके करते है तो यह कहा जाता है कि हम कुशलता पूर्वक कर्म कर रहे है इसके विपरीत असावधानी से अकुशलतापूर्वक जब कर्म करते है तो यह कहा जाता है कि यह कर्म ठीक से नहीं किया गया है। कर्म करते जाना और उस पर कोई विचार न करना यह उचित नहीं है। यह लौकिक तथ्य है तथा लौकिक कर्मो की परिभाषा है।

अध्यात्म के मार्ग में अर्थात् भगवद प्राप्ति के पथ को समझ कर सैद्धान्ति सिद्धान्त को जानकर उसी के अनुसार भगवद् प्राप्ति के मार्ग पर चलने को उद्धत होना कुशल कर्म कहा जाता है। अकुशल साधन अनेक सिद्धान्तों के भ्रमजाल में फंसाता है और सही मार्ग चुनने नहीं देता हैं। जिससे हमें अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो पाती है। यह भगवदप्राप्ति के मार्ग में अकुशलता है। ऐसा अकुशल साधक संशयग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो साधक कुशल और भगवद प्राप्ति के मार्ग को ठीक ठीक रूप से जानने वाला है तथा उनका अनुगमन करता है उसका ही कार्य कुशल तथा वही योगी है। इस प्रकार कार्य की कुशलता का नाम ही योग है जैसे कुशल नाविक अपनी नाव को भारी बाधाओं से, भयंकर बाढ़ से कुशलतापूर्वक खेकर निकाल लेता है। उसी प्रकार कुशल साधक भी अपने कार्य को कुशलतापूर्वक करके इस संसार साधक से तर जाता है।

(पांच) विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रतिकूलता तत्व प्राप्ति में बाधक है:–

शास्त्र अनेक है इसलिए उनके सिद्धान्त भी हमें कभी–कभी प्रतिकूल प्रतीत होते है। साधक जब उत्कृष्ट हो जाता तो विभिन्न प्रकार के प्रतिकूल शास्त्रीय सिद्धान्तों में सामंजस्यता स्थापित कर लेता है। साधन के प्राथमिक स्तर पर साधक को विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों से संशय नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। शास्त्रों के अध्ययन से शास्त्रों के सेवन से विभिन्न प्रकार की पूजा उपासना की पद्धतियों को देखकर समझ कर भी संशय उत्पन्न हो जाता है। यही संशय भगवद्प्राप्ति में बाधक है। साधक को विभिन्न प्रतिकूल सिद्धान्तों को समझ कर उन सब में सामंजस्यता, एकरूपता, स्थापित कर लेनी चाहिए। इस सम्बंध में एक तत्व बहुत लाभपद्र होता है कि हमें कोई सिद्धान्त प्रतिकूल, भ्रमपूर्ण प्रतीत हो तो उस पर हमें अधिक विचार नहीं करना चाहिए। जो जो सिद्धान्त सही प्रतीत

हो उनका सरलता से आचरण कर लेना चाहिए। यह साधक के लिए उचित रहता है और विभिन्न प्रकार के प्रतिकूल शास्त्रीय सिद्धान्तों को एक रूप कर देता है।

तत्व प्राप्ति की ओर प्रयास करने वाले साधक को विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्त उद्विग्न करते है। शास्त्रीय सिद्धान्तों में वस्तुतः अनुभव के आधार पर प्रतिकूलता है। जैसे एक अभीष्ट स्थान तक पहुंचने के कई मार्ग है जो जिस मार्ग का अनुकरण करता है वह उस मार्ग के बारे में उल्लेख कर देता है। सृष्टि के आदिकाल से ऐसा ही होता आया है। हमारे विभिन्न पूज्यनीय महार्षियों ने तत्व दर्शन करके अपने अपने पृथक–पृथक अनुभवों का उल्लेख अपने अपने प्रकार से किया है। इस कारण भी सिद्धान्तों में पृथकता है और प्रतिकूलता भी है। यदि हमें विभिन्न प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्तों के संशय से बचना है तो भगवद्गीता के सिद्धान्त का अध्ययन करना चाहिए तथा इसे ही आधारभूत मानकर उसका आचरण करना चाहिए। इस प्रकार हम विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय सिद्धान्त की प्रतिकूलता से बचे रहते है और सही मार्ग को चुनकर व्यवहार करके तत्व प्राप्ति कर लेते है।

(छः) आत्म कारणात कर्म, पाप का प्रत्यक्ष स्वरूप है :–

मनुष्य बाल्यावस्था से ही अपने लिए कार्य करता है। एक छोटा बालक अपने लिए ही खिलौनों को एकत्र करता है यदि उन खिलौनों को अन्य कोई बालक लेना चाहता है तो उसमे क्रोध की उत्पत्ति होता है। बालक अप्रसन्न हो जाता है रोता है। दूसरे बच्चे से अपने खिलौने छीन लेता है। छीनने का प्रयास करता है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति है जो बाल्यावस्था से ही प्रकट हो जाती है। कुमारावस्था में वह अपने लिए पढ़ता है तथा अधिकांश प्रतिद्वंद्वी भाव से दूसरों से द्वेश करता है। कुमारावस्था में जो प्रतिस्पर्धा का भाव आ जाता है यह भाव आत्म कारणात के कारण ही आता है। युवावस्था आते आते मनुष्य में पूरी तरह से स्वार्थपरत आ जाती है और अधिकतम स्वार्थी भावना से कार्य करता है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही उसे अपने तथा अपने सम्पर्कित लोगों के हित लाभ के लिए कार्य करने के बाध्य करती है। युवावस्था में भी मनुष्य नाना प्रकार कीसांसारिक भोग वस्तुएं एकत्र करने का प्रयास बडी तेजी से करता है। वह अपने मन बार बार विचार करता है कि हमें किन किन वस्तुओं की अभी और आवश्यकता है। वह उन्हें चुन चुन कर एकत्र करना चाहता है तथा प्रयास करके एकत्र भी कर लेता है। यह सब आत्मकारणात ही होता है। मनुष्य अपने लिए वस्तुओं को संचय करने का प्रयास करता है। युवा वस्था के पश्चात् प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था में भी मनुष्य अपने लिए कार्य करता है। जो संचित की गई

वस्तुएं है उनमें आसक्ति कर लेता है। यह सब आत्मकारणात कार्य है। अर्थात् अपने लिए ही किये जाने वाला कर्म है।

पशु पक्षी अपने लिए भोज्य पदार्थो का संचय कर लेते है तथा अपना और अपने बच्चों का पेट पाल लेते है। यह तथ्य हम सभी जानते है। एक जंगल में हजारों की सं0 में पशु पक्षी रहते है। वे जंगल में ही अपने लिए भोजन की व्यवस्था कर लेते है। जंगल में साधन विहीनता होने पर भी वह अपना जीवन चलाते है। मनुष्य साधनों के साथ अपने लिए वस्तुएं एकत्र करता है और स्वयं ही उनका उपभोग भी कर लेता है। यह सबकी सब पशु वृत्ति है। इस पशु वृत्ति से जो भी कार्य हम करते है वह सबका सब मूल रूप से पाप का कारण होता है। हम अपने लिए कमाकर अपनी उदर की पूर्ति और अपनी भोग वृत्तियों की पूर्ति यदि करते है तो इसे ही पाप कहा जाता है। जब हम प्रयास से अपना पेट तो भरते है परन्तु उन लोगों की सहायता भी करते है जो सहायता के पात्र है तो यही स्वार्थविहीन सहायता पुण्य का हेतु हो जाती है। इस कारण हम जो भी कार्य करे वह आत्मकारणात भाव से कभी न करें। यदि हम ऐसा करते है तो हमें उसका परिणाम पाप ही प्राप्त होगा। यह निश्चित तथ्य है।

(सात) श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण का अनुसरण होता है :—

सृष्टि के आदिकाल से अब तक बहुत से श्रेष्ठ पुरूष उत्पन्न हुए है। हमारा इतिहास श्रेष्ठ पुरूषों से भरा पड़ा है। अनेक महापुरूष, महर्षि, मनीषी, संत आदि हुए है। उन्होंने जो भी आचरण किया है वह सबका सब हम दार्शनिक, ऐतिहासिक और पौराणिक ग्रंथों में उपलब्ध है। जीवन की प्रत्येक अवस्था के कर्तव्य कर्म निर्धारित किए है। यदि हम उन कर्तव्य कर्मो का आचरण नहीं करते है तो हमें पाप लगता है और उनके निर्वहन से हमे पुण्य प्राप्त होता है। यह क्रम चलता रहता है। प्रत्येक के जीवन में यह तथ्य रहता है जो किसी भी अवस्था में अपने आचरण से उत्कृष्ट कार्य करता है। उसका विशिष्ट आचरण श्रेष्ठ जाना जाता है। वह व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है। जैसे ध्रुव ने पांच वर्ष की अवस्था में भगवान के दर्शन किये थे यह उस वायु का अतिविशिष्ट कार्य है। ध्रुव श्रेष्ठ हो गए और हमारे समक्ष एक उदाहरण के रूप में है। हम आज भी उनका नाम लेते है। भगवान श्रीराम ने बाल्यावस्था से अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक मर्यादापूर्ण आचरण किया जिसका उल्लेख इतिहास में आज भी है। रामायण में श्रीराम के मर्यादा पूर्ण आचरण का वर्णन आज भी होता है। भगवान तो इसी कारण श्रेष्ठ हो गए क्योंकि उन्होंने मर्यादापूर्ण आचरण किया था।

समाज में आज भी श्रेष्ठ आचरण को सराहा जाता है। उसकी प्रशंसा अन्य लोग भी करते है। कोई भी विख्यात पुरूष जब श्रेष्ठ आचरण करता है तो लोग उसका ही अनुकरण करते है और उसको सरहाते है। यदि श्रेष्ठ पुरूष श्रेष्ठता से हटकर कोई आचरण करता है तो भी लोग उसकी निन्दा करते है परन्तु उसके कार्य को आचरित करना चाहते है। श्रेष्ठ पुरूष जो भी आचरण करेगा वैसा ही अन्य लोग भी प्रत्येक कार्य में करने का प्रयास करते है क्योंकि वह उदाहरण के रूप में समाज में रहते है। सामान्य लोग यह कहते कि अमुक श्रेष्ठ व्यक्ति ऐसा कर रहा है तो हम क्यों न करें हम भी वैसा करेंगे। इस कारण श्रेष्ठ पुरूषों के आचरण का समाज में अनुकरण होता है।

(आठ) प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल व्यवहार करता हैः –

प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के आधार पर आचरण करता है। जैसी प्रकृति वैसा आचरण मनुष्य की प्रकृति तीन प्रकार की होती है जिससे सात्विक राजस्व और तामस प्रकृति कहा जाता है। सात्विक प्रकृति का मनुष्य दूसरों को उद्विग्न नहीं करता है और कर्तव्य कर्मो का आचरण करता है। अपने बारे में विचार करता है कि हमारा मनुष्य जन्म क्यों हुआ है ? भगवान की उपासना करना चाहता है। देवताओं की उपासना में लगा रहता है। समाज के कल्याण के लिए कार्य करता है। गरीबों की सहायता करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसे मनुष्यों में रहती है। राजसी मनुष्य को संसार की भोग वस्तुएं एकत्रित करने में आनन्द आता है और उसके लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील होता है। निरन्तर नई कामनाओं के वशीभूत होकर उनकी प्राप्ति हेतु प्रयास करता है। लोभ की अधिकता ऐसे मनुष्यों में विशेष पायी जाती है। तामसी प्रकृति लोग प्रमाद, आलस्य में फंसे रहते है और अनायास ही दुष्कर्मो का सम्पादन करते है। समाज के लोगों का उत्पीडन करना, लोगों को प्रताड़िन करना, हत्या, लूट, व्यवविचार आदि दुष्कर्म करना इनकी सहज प्रवृत्ति है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार, प्रकृति के अनुरूप कार्य करने को बाध्य है। सात्विक प्रकृति का मनुष्य सात्विक भोजन करता है। राजसी प्रकृति का मनुष्य राजसी भोजन करता है तथा तामसी प्रकृति का मनुष्य सहजतापूर्वक सात्विक भोजन में प्रवृत्त होता हैं इसमें भी उसकी प्रकृति विशेष प्रतीत होती है। समाज में जो पृथक–पृथक प्रकार का व्यवहार हम देख रहे है वह प्रकृति का ही कार्य रूप है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल ही बरतता हैं। वह अपनी प्रकृति के अनुकूल आचरण नहीं कर सकता। मनुष्य की प्रकृति के निर्माण के कई आधारभूत तथ्य है। जैसे पूर्व जन्म के संचित कर्म। माता पिता की प्रकृति, वातावरण, शिक्षा, संगति आदि। इससे ही मनुष्य की प्रकृति का निर्माण होता

है। यह सब प्रकृति के आधारभूत तथ्य है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही आचरण करता है।

(नौ) सन्यासी कौन है ?

साधारणतः सन्यासी उसे समझते है जो गेरूए वस्त्र धारण करता है तथा सन्यास धर्म की दीक्षा ले लेता है। भगवद् गीता में सन्यासी की विशिष्ट परिभाषा अंकित की गई कि मनुष्य किसी भी जाति धर्म अवस्था का हो वह सन्यासी हो सकता है। सन्यासी होने के लिए उसमें दो गुणों का प्रार्दुभाव अनिवार्य है। वे गुण है एक तो किसी द्वेष न करना और दूसरे किसी से आकांक्षा न करना। हम साधारणतः जिस स्थान पर रहते है हम वहां पर अपने सम्पर्कित लोगों से किसी न किसी कारण से द्वेष करते है। द्वेष के पीछे वस्तुतः आकांक्षा का ही आधारभूत कारण होता है। हम जब अपने जीवन में पृथक–पृथक प्रकार की असंख्य आकांक्षाएं करते है तो उनकी पूर्ति हेतु प्रयास भी करते है। उन आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रयास करने पर किसी प्रकार की बाधा आती है तो द्वेष भाव की उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण साधारण व्यक्ति आकांक्षा और द्वेष के चक्र में ही घूमा करता है।

जब कोई व्यक्ति आकांक्षाओं का सम्पूर्णता से त्याग कर देता है। अर्थात् उसे कुछ नहीं चाहिए तो वह सन्यास की ओर बढ़ जाता है। आकांक्षा ही बंधन का मूल कारण है। हम आकांक्षाएं करते है तो उन आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रयास भी करते है। आकांक्षा पूर्ति पर हमारी दृष्टि रहने से हम कर्म, अकर्म, विकर्म पर विचार नहीं करते है और नाना प्रकार के अनैतिक कर्मो का सम्पादन करते रहते है। जब आकांक्षाओं का त्याग हो जाता है तो हम द्वेश के भाव से भी पृथक हो जाते है। यह सिद्धान्त है। इस प्रकार जो मनुष्य समस्त प्रकार की सांसारिक आकांक्षाओं का त्याग कर देता है तो उसे सन्यास धर्म का पालन करने वाला माना चाहिए। और ऐसा मनुष्य संन्यासी के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस जो मनुष्य न तो आकांक्षा करता है और न ही द्वेष करता है वह ही सन्यासी है। सन्यासी की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करने योग्य है।

(दस) मुक्ति प्राप्त के पांच गुण :–

जो साधक अपने में निम्नांकित पांच गुणों का विकास कर लेता है वह मुक्ति का पात्र हो जाता है। यह गुण विशिष्ट है। जिनका सहजता से अनुशरण करना कठिन है। श्री गीता जी ने इन गुणों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया है।

(क) तदात्मानः : साधारणतः मन सांसारिक विषयों के बारे में चितन किया करता है। सांसारिक विषय ही मन में समाये रहते है। आप अपनी मन की गति का तथा उसके द्वारा विचारे गए विषयों पर जब दृष्टि डालेंगे तो पायेंगे कि मन इन्द्रियों के सहारे सांसारिक विषयों का सेवन करता रहता है और कभी–कभी अकेले ही सांसारिक विषयों का स्वाद लेता रहता है। साधक जब समस्त प्रकार के सांसारिक विषयों को निकाल कर उनके स्थान पर एक मात्र परमात्मा के स्वरूप को स्थापित कर देता है तथा उसी में रमण करता है तो उसे तदात्मानः कहा जाता है। मनुष्य का मन परमात्मा में पूर्ण रूप से समाहित हो जावे तो यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। जो सहज नहीं है। अत्यंत प्रयास से मिलने वाली है।

(ख) तद्बुद्धयः– मन जो कुछ भी विचार करता है उस विचार को बुद्धि देखती रहती है और सामान्यता उसको अपनी सहमति भी प्रदान करती है। साधारणतः तो मन के द्वारा विचार किए गए विषयों पर बुद्धि अपनी सहमति देती है परन्तु कभी–कभी मन के विचारों पर बुद्धि अपनी असहमति भी व्यक्त करती है और मन के द्वारा प्रेषित किये गए विचारों निरस्त कर देती है। मन के द्वारा जब परमात्मा के स्वरूप का विचार चलता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप में जब मन रम जाता है तो बुद्धि भी उसमें रमती है और परमात्मा के स्वरूप का विनिश्चय करती है। बुद्धि तो मन से श्रेष्ठ है पर मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करना ही उसका कार्य हैं इस कारण मन के परमात्मा में रमण करने से बुद्धि भी परमात्मा में रमती है। यह स्थिति तद्बुद्धया कही जाती है। तद्बुद्धियः मुक्ति की दूसरी स्थिति है।

(ग) तन्निष्ठाः – परमात्मा में निष्ठा होना और जगत में निष्ठा होना यह दो पृथक–पृथक स्थितियां है। साधारणतः मनुष्य की निष्ठा संसार मे रहती है। इस कारण जगत को प्राप्त करने का वह प्रयास करता है। जगत में निष्ठा रहने पर जगत को प्राप्त करने का प्रयास करने पर हमें जगत प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि हमारी निष्ठा परमात्मा में हो जावे तो हमें परमात्मा की प्राप्ति सहज भाव से हो जाती है। संसार से हम जब अपनी निष्ठा हटाते है तो उस निष्ठा को परमात्मा में स्थापित कर देते है। ऐसी स्थिति में हमें परमात्मा का सर्वत्र दर्शन होता है। जगत से निष्ठा हटे और परमात्मा में समाहित हो तो हम परमात्मा के आभास का प्रयास करते है क्योकि मनुष्य निष्ठा के अनुकूल ही कार्य करता है। उस परमात्मा में निष्ठा का समाहित हो जाना ही मुक्ति प्राप्ति का तीसरा गुण है।

(घ) तत्परायणाः – मनुष्य साधारणतः जब परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है तो उसके सहारे ही उसमें स्थित रहना चाहता है। यह इसकी परायणता कही जाती है। अधिकांश लोग जगत के आश्रय में रहते है। जगत के सहारे जीते है और जगत को ही चाहते है तो यह उनकी स्थिति जगत की परायणता कही जाती है। अव्यक्त परमात्मा के आश्रय को ग्रहण करना तथा उसमें समाहित हो जाना ही उसके परायण होना है। चूंकि परमात्मा हमें प्रतीत नहीं होता है। इसलिए वह अस्तित्व विहीन सा लगता है। वस्तुतः अव्यक्त से अस्तित्व के विषय में संशय का प्रार्दुभाव हो जाता है। जो अव्यक्त होता है उसको हम शीघ्रता से स्वीकार नहीं करते है। इस कारण परमात्मा के परायण होना कठिन है परन्तु मुक्ति के लिए हमें उसका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। यह आश्रय ही मुक्ति का चौथा गुण है।

(ङ) ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः – ज्ञान रूप अग्नि में पापों का भस्मीभूत हो जाना मुक्ति की पांचवी स्थिति है। जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि जगत असत्य है और परमात्मा सत्य है तो जगत को असत्य मानकर हम जगत के साथ वैसा ही व्यवहार करते है तथा परमात्मा को सत्य समझ कर परमात्मा के साथ सत्य जैसा व्यवहार करके अपने को पापों से उन्मोचित कर लेते है। हम सभी जगत के साथ सदैव रहने वाला मानकर व्यवहार करते है और बंधन में रहते है। यह जगत नित्य प्रति विनिष्ट हो रहा है और हम इसे अविनाशी समझकर व्यवहार में रत है। यही पाप का हेतु है। जब पापों का संचय होता है तो हम अनेक प्रकार के दुःखों को सहते है। परमात्मा को सत्य समझ कर उससे जब व्यवहार करते है तो हमारे पुण्यों का उदय होता हैं और पापों का क्षय हो जाता है। इसलिए ज्ञाननिर्धूत कल्मषा मुक्ति की पांचवीं स्थिति है।

(ग्यारह) ब्रह्म में स्थिति ब्रह्मवेदता के विशिष्ट गुण :–

ब्रह्म में स्थित ब्रह्मवेदता मनुष्य की स्थिति विशेष हो जाती है। ब्रह्म में स्थित तथा ब्रह्म को जानने वाला साधक कुछ विशेष गुणों से युक्त हो जाता है। ब्रह्म में स्थित ब्रह्म वेदता को यदि कोई प्रिय वस्तु प्राप्त होती है तो वह प्रिय का संयोग होने पर प्रसन्न नहीं होता है। अर्थात् उसमे प्रसन्नता की प्रतीती नहीं होती है। उसके प्रतिकूल अप्रिय वस्तु और स्थिति आने पर वह उद्विग्न नहीं होता है। इस प्रकार प्रिय की प्राप्ति में तथा अप्रिय की प्राप्ति में वह एक समान रहता है। यह विशेष प्रकार की स्थिति है जो सामान्य मनुष्यों में नहीं रहती है। साधारणतः पुरूष जब अनुकूलता पाता है तो स्वतः ही प्रसन्न हो जाता है। उसके मन में सुखद अनुभूति काप्रार्दुभाव होता है। इसी प्रकार प्रतिकूल स्थितियों के आ

जाने पर वह दुखी हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता दोनों ही परिस्थितियों अर्थात् प्रतिकूलता और अनुकूलता में एक समान रहता है। एक समान रहने के कारण उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और उसकी बुद्धि स्थिरप्रद कही जाती है। ब्रम्हवेत्ता ब्रम्ह में स्थित रहने वाले साधक का यह विशिष्ट गुण है जिसे परख कर हम ब्रम्ह वेतता को समझ सकते है। ब्रम्ह वेत्ता की स्थिति ही उसकी परख है। विशेषकर वह उद्विग्नता में नहीं रहता और शान्त भाव से विचरता रहता है।

(बारह) मृत्यु पूर्व कामना तथा क्रोध के वेग को सहने वाला योगी है :–

कामना तथा क्रोध दो ऐसे वेग है जिन्हें सामान्य मनुष्य सहन नहीं कर पाता है। कामना का वेग तथा क्रोध का वेग यदि हम सहन कर ले अर्थात उसे रोक ले तो हम योगी हो सकते है। कामना का वेग तथा क्रोध का वेग बहुत तीव्र है जिसे सहन करना रोक पाना अत्यंत कठिन है। कामनाओं का सम्पूर्णता से विनाश कर देना तथा क्रोध के प्रार्दुभाव को सर्वप्रकारेण्य रोक देना कामना तथा क्रोध के वेग को सहन करना है। सामान्य मनुष्यों में कामनाएं ही रहती है जिसके कारण वह नाना प्रकार के कार्य करता है और जीवन पर्यन्त उन्हीं में व्यस्त रहता है। उन कामनाओं में यदि कोई बाधा आती है तो क्रोध की उत्पत्ति तत्काल हो जाती है। इस कारण कामना और क्रोध का वेग का साथ है। कामनाएं जब तक रहेगी तब तक क्रोध भी रहेगा। यह नियम है। कामनाएं न रहे तो क्रोध भी समाप्त हो जाएगी।

कामना और क्रोध के वेग को सहन करना कोई सामान्य स्थिति नहीं है इसका परीक्षण हम स्वयं कर सकते है। हम सामान्य जीवन में जो व्यवहार करते है उसमें हमें अनायास ही क्रोध आ जाता है। जब कभी क्रोध आने पर उसके कारण पर हम विचार करेंगे तो यह पायेंगे कि उसका कारण सार्थक नहीं है। क्रोध का क्या कारण है जब इस विषय पर हम गहनता पूर्वक सोंचेंगे तो यह स्पष्ट हो जायेंगा कि हमारे क्रोध के मूल्य में कामना ही एक मात्र कारण है। अर्थात् कामनाओं में किसी प्रकार का अवरोध आने पर हमारे अंतःकरण में स्वतः ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए जब तक कामनाएं शून्य नहीं होंगी तक क्रोध का उद्भव होता रहेगा। हमें अपनी मृत्यु के पूर्व कामनाओं और क्रोध विजय प्राप्त करनी चाहिए जो साधक ऐसा कर लेता है वह योगी हो जाता है।

(तेरह) ब्रह्म प्राप्ति की पात्रता :–

ब्रह्म प्राप्ति की क्या पात्रता है। इस पर हम जब हम गहनता से विचार करते है तो हमें यह ज्ञात होता है कि हमें यह पात्रता प्राप्त करने के लिए अपने में कुछ गुणों का

उपार्जन करना पड़ता है। जैसे हम जगत में पद प्रतिष्ठा, धन आदि प्राप्त करने के लिए अपने में योग्यता का उर्पाजन करते है वैसे ही ब्रम्ह प्राप्ति हेतु कुछ गुणों का उर्पाजन हमें अपने में करना पड़ता है तथा योग्यता का प्रार्दुभाव होने पर हमें ब्रम्ह की अनुभूति होती है। वह कौन सी योग्यताएं है जिनके उर्पाजन से मनुष्य ब्रम्ह प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इस पर विचार करना अत्यावश्यक है। ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता अर्थात् योग्यता पर श्री गीता जी ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया है। यह योग्यताएं निम्न प्रकार है।

(क) शरीर इन्द्रियों तथा मन को संयमित कर लेना :–

शरीर को नियंतित्र कर लेना, इन्द्रियों सहित मन को संयमित कर लेना ब्रह्म प्राप्ति की प्रथम पात्रता है। हमारी इन्द्रियां सांसारिक विषयों को मन के सहयोग से ग्रहण करती रहती है। मन द्वारा विषयों को ग्रहण करने के पश्चात् उसका कार्यान्वयन शरीर के द्वारा होता है। इस प्रकार शरीर, मन, तथा इन्द्रियां सांसारिक विषयों का उपभोग करती है। सांसारिक विषयों के उस उपभोग को इन्द्रियां, मन तथा शरीर से न करना अर्थात् अपने को संयमित कर लेना ही ब्रम्ह प्राप्ति की प्रथम पात्रता है। इस स्थिति में इन्द्रियां न तो दूसरों को ग्रहण करती है न ही मन विषयों का चिंतन करता है। इस क्रिया से हमारा शरीर विषयों का उपभोग नहीं कर पाता है। यह शरीर इन्द्रियों और मन का संयमन है। कठिनता से प्राप्त होता है।

(ख) समस्त प्राणियों के हित में लगा रहना :–

संसार में समस्त मनुष्य अपने हित में रत रहते है। अपने लिए भोजन की, आवास की, रहन सहन के अन्य साधनों की आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करते रहते है। यह प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। सामान्य रूप से मनुष्य के समस्त क्रियाकलाप अपने शरीर के पोषण हेतु होते है। तथा इसके अतिरिक्त हम अपने से सम्पर्कित लोगों के हित के लिए कार्य करते है। यह स्वार्थपरता है। इसके प्रतिकूल जब हम समस्त प्राणियों के हित हेतु प्रयास करते है तथा स्वार्थी भावना का त्याग कर देते है। तो ब्रम्ह प्राप्ति के पात्र हो जाते है। समस्त प्राणियों के हित रत रहने में स्वार्थी भावना का त्याग करना पड़ता है। यह साधन की विशेषतः है। जिससे ब्रह्म प्राप्ति की पात्रता विकसित हो जाती है।

(ग) संशय रहित हो जाना :–

ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता में संशय भी अत्यंत बाधक है। संसार में अनेक प्रकार के संशय होते है। और समस्त प्रका के संशयों से निवृत्त होने पर ही ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता

आती है। जब साधक आधत्मिक पथ पर आरूढ होता है तो इस पर अनेक संशय स्वतः ही होते है। चूंकि परमात्मा अव्यक्त है। अव्यक्त की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना अंधेरे में मार्ग खोजने जैसा है। परमात्मा कैसा है ? वह किस साधन से प्राप्त होगा ? हमें किस प्रकार का प्रयास करना चाहिए ? जो साधन हम कर रहे है वह उचित है अथवा नहीं है। हम जिस मार्ग पर चल रहे है इसका अन्त क्या होगा ? अमुक शास्त्र में ऐसा लिखा है और दूसरे शास्त्रों में ऐसा कहा गया है। इसमें प्रतिकूलता है आदि आदि संशय साधक में रहते है। जब तक समस्त प्रकार के संशयों की निवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता भी नहीं आती हैं इस कारण साधक को उक्त प्रकार के समस्त संशयों से निवृत्त होना ही पड़ता है तब ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता स्वतः प्रकट हो जाती है।

(घ) समस्त पापों के समापन से :–

समस्त पापों से जब मनुष्य उन्मोचित हो जाता है तो वह ब्रम्ह प्राप्ति का पात्र हो जाता है। हमारे जो संचित पाप कर्म है उनका समापन दो प्रकार से होता है एक तो भुगतने से और दूसरे संचित कर्मो को ज्ञान रूप अग्नि में भस्म कर देने से। उक्त दोनों उपायों मे ंजो उपाय सहज लगता हो उसको साधक को अपनाना चाहिए। पापों की सम्पूर्णता से निवृत्त हो जाने पर ब्रम्ह प्राप्ति की पात्रता स्वतः ही आ जाती है जब तक जल में थोड़ी भी मल की मात्रा रहती है तब तक जल को पूर्ण रूपेण शुद्ध नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार पापों के पूर्ण रूप से समापन के बिना हम ब्रह्म प्राप्ति की पात्रता नहीं प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार उपरोक्त चार तथ्यों से ब्रह्म प्राप्ति की पात्रता आ जाती है। इनमें पहले के तीन साधनों की परख हो जाती है। चौथे साधन की स्थिति अव्यक्त है। स्पष्ट नहीं हो सकती है। इसलिए यह अत्यंत दुर्लभ है।

(चौदह) योगारूढ़ सन्यासी की स्थिति :–

जितने भी संकल्प हैं उनका परित्याग के बिना कोई भी सन्यासी योग पर आरूढ़ नहीं हो सकता है। संकल्प मन की वृत्ति को कहते हैं और जब तक मन की वृत्ति रूपी संकल्प का त्याग नहीं हो जाता तब तक योग पर सन्यासी की आरूढ़ता नहीं हो सकती हैं। पूर्व में सन्यासी की परिभाषा में यह कहा जा चुका है कि जिसने आकांक्षा और द्वेष का परित्याग कर दिया है वह सन्यासी है। इसमें आकांक्षा ही प्रमुख तथ्य है। आकांक्षा ही सर्वसंकल्प के रूप में है। जब तक मनुष्य में, साधक में आकांक्षाएं रहती हैं तब तक वह सन्यासी नहीं रह सकता है। यह निश्चित नियम है। इसका अतिक्रमण नहीं हो सकता है।

सामान्य मनुष्य संकल्पों में ही जीता है और संकल्पों में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जो संसारिक कामनाएं मनुष्य में रहती हैं उनकी पूर्ति हेतु मनुष्य बहुत प्रयत्न करता है यह क्रिया जीवनपर्यंत चला करती है। साधक को सन्यासी की उपाधि से यदि विभूषित होना है तो उसे समस्त प्रकार के संकल्पों का त्याग करना पड़ता है। यह स्थिति शीघ्र नहीं आती है। समस्त प्रकार के संकल्पों का त्याग इतनी शीघ्र नहीं हो सकता है। संकल्पों का जब तक त्याग नहीं होता तब तक सन्यासी योग पर आरूढ़ नहीं कहा जा सकता है। यह किसी भी साधक के योग पर आरूढ़ होने की प्रथम शर्त है।

(पन्द्रह) मनुष्य स्वयं का शत्रु व मित्र है– मनुष्य यदि चाहे तो देवता की तरह बन सकता है और यदि चाहे तो राक्षस हो सकता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि मनुष्य स्वयं का मित्र है और वह स्वयं का शत्रु है। परमात्मा ने मनुष्य को कर्म के संपादन की स्वतंत्रता प्रदान की है। इसी स्वतंत्रता के आधार पर वह कर्मो का संपादन करता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है परमात्मा उसे वो कर्म करने देता है उसमें प्राथमिक स्थिति पर कोई व्यवधान नहीं उत्पन्न करता है। इसी का रण मनुष्य सत्कर्मों का तथा दुष्कर्मों का संपादन अपनी इच्छा के अनुसार करता है। सत्कर्मों का संपादन वह जब भी करता है तब वह अपना स्वयं का मित्र है और जब वह दुष्कर्मों का संपादन करता है तब वह अपना स्वयं का शत्रु है। क्योंकि दुष्कर्मो के संपादन से वह अपने लिए पापों का संचय करता है और उसके परिणाम में उसे दुख ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार सत्कर्मो के संपादन से वह पुण्य अर्जित कर लेता है और उसके परिणाम में उसे सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपना स्वयं का मित्र भी है और शत्रु भी है।

मनुष्य कर्म करने हेतु पूर्ण स्वतंत्र है। वह अपनी स्वेच्छा से, मनमाने ढंग से कार्य करता भी है जैसा वह करता है वैसा फल उसे अवश्य प्राप्त हो जाता है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की है जिसकी शक्ति को विवेक कहा जाता है। परमात्मा ने मनुष्य को यह विवेक इसलिए प्रदान किया है ताकि वह उचित अनुचित, धर्म अधर्म, कर्म विकर्म, कर्तव्य–अकर्तव्य का निश्चय कर सके तथा उचित, धर्म, कर्तव्य तथा कर्म का आचरण करे। इस आचरण से मनुष्य स्वयं का मित्र है और अनुचित, अधर्म, विकर्म, अकर्तव्य के आचरण से वह अपना स्वयं का शत्रु है। उन दोनों से उसे पुण्य और पाप स्वतः ही प्राप्त होता है। पुण्य और पाप का प्रगटीकरण परमात्मा की व्यवस्था में हुआ करता है जिसे साधारण भाषा में परिणाम कहा जाता है। परिणाम अर्थात फल देने का अधिकार परमात्मा के अधीन है। इस प्रकार सत्कर्म के आचरण करने से मनुष्य स्वयं में अपना मित्र है और दुष्कर्मों के आचरण से मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है।

(सोलह) परमात्मा किसे नित्य प्राप्त है?– जैसे संसार में नित्य प्राप्त है वैसे ही परमात्मा भी नित्य प्राप्त हो सकता है। जैसे हम संसार से नित्य व्यवहार करते हैं वैसे ही परमात्मा से भी नित्य व्यवहार कर सकते हैं। परमात्मा की नित्य प्राप्ता की कुछ शर्तें हैं जिन्हें समझकर उनका पालन करके हम परमात्मा से नित्य संबंध रख सकते हैं। परमात्मा से नित्य संबंध रखने हेतु पहले मनुष्य को अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण करना पड़ता है। परमात्मा यह कदापि नहीं चाहता कि मनुष्य स्वेच्छाचारिता से अर्थात मनमाने ढंग से आचरण करे। वह स्वयं भी संयमित आचरण करता है और यह चाहता है कि मनुष्य संयमित आचरण करे। संसारिक विषय भोगों में फंसकर असंयमित आचरण करना परमात्मा को प्रिय नहीं है। इस कारण जो परमात्मा को नित्य प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम अपने ऊपर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी।

जब मनुष्य अपने ऊपर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात वह अपनी समस्त इन्द्रियों तथा मन को संयमित कर लेता है तो शांत हो जाता है उसकी संसारिक चेष्टाएं भी शांत हो जाती है। संसार के प्रति शांत हो जाने पर वह परमात्मा की ओर आकर्षित होता है। संसार में शांत होना तभी होता है जब मनुष्य में परमात्मा का आकर्षण प्रबल हो जाता है। ऐसे साधक को परमात्मा का आशय प्राप्त हो जाता है। वह अपनी परख हेतु अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियों में समान व्यवहार करता है। यह व्यवहार जब एकरस हो जाता है तो परमात्मा का नित्य संबंध हो जाता है। जगत में जो घटनाएं हो रही हैं वह मनुष्यों के कर्मो। के परिणाम से घटित हो रही हैं, जो भी संयोग वियोग हो रहा है वह सब हमारा कर्मफलित हो रहा है। यह विचार दृढ़ हो जाता है। इससे समता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। चाहे हमारी परिस्थितियां किसी प्रकार की हो साधक जब उनमें किसी प्रकार भी उदग्नि नहीं होता है तो परमात्मा को नित्य प्राप्त कर लेता है।

(सत्रह) परमात्मा की प्राप्ति कठिन भी है– परमात्मा की प्राप्ति कठिन है जो आध्यात्मिक संगठन सहजता पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति अथवा ज्ञान देने का कार्य कर रहे हैं वे साधकों को भ्रमित कर रहे हैं। इस प्रकार का भ्रम हमें कदापि नहीं करना चाहिए। इस जगत में तीन प्रकार के मनुष्य प्रमुखता से निवास करते हैं जिन्हें सात्विक, राजसी तथा तामसी प्रकृति का मनुष्य कहा जाता है। सात्विक मनुष्य शुभ कर्म करता है, राजसी मनुष्य संसारिक कर्म करता है और तामसी पुरुष दूषित कर्म करता है। तामसी और राजसी कर्म करने वालों की संसार में बहुलता है। सात्विक विचारधारा के मनुष्यों की संख्या अत्यंत अल्प और कम है। अधिक मनुष्य तामसी स्वभाव के हैं और उससे कम राजसी स्वभाव के हैं तथा उनसे बहुत कम सात्विक विचारधारा के मनुष्य हैं। अधिक मनुष्य तामसी स्वभाव के

हैं इस कारण वे साधना आरंभ ही नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार राजसी स्वभाव के पुरुष संसार में लगे रहते हैं इसलिए वे परमात्मा की ओर मुड़ नहीं पाते हैं। सात्विक स्वभाव के पुरुष परमात्मा की ओर थोड़ा मुडते हैं। तामसी बहुत दूर रहता है, राजसी कम दूर रहता है और सात्विक थोड़ा समीप रहता है।

अब आप परमात्मा की प्राप्ति की दुर्लभता को समझ गए होंगे। समस्त मनुष्य त्रिगुणों में रहकर चेष्टा, गति, व्यवहार करते हैं और उससे परे जाने में असमर्थ रहते हैं। यद्यपि सात्विक गुण से परमात्मा की प्राप्ति का उपाय आरंभ होता है। सात्विक गुण परमात्मा की प्राप्ति पथ का प्रवेश द्वार है जहां से हम परमात्मा की ओर अग्रसर होते हैं, बढ़ते जाते हैं। इस कारण जब तक हमारी सबकी चेष्टाएं त्रिगुणों में रहती हैं तब तक हम संसार के कार्यों में अपने को लगाए रखते हैं। परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास भी नहीं करते हैं। त्रिगुणी से परे जाने पर ही परमात्मा प्राप्त होता है। यह परमात्मा की प्राप्ति की दुर्लभता है, कठिनता है। प्रत्येक साधक इसे अनुभव कर सकता है। इस कारण जो कोई भी महानुभाव सहजता से तत्वदर्शन का प्रलोभन देकर के तत्व प्राप्ति करवाते हैं वे मिथ्या आचरण ही करते हैं। परमात्मा की प्राप्ति वस्तुतः बहुत दुर्लभ है।

(अट्ठारह) परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है :–

परमात्मा ने जब सृष्टि आरंभ की तब वह एक था, अकेला था। उस परमात्मा ने यह इच्छा की कि अकेलापन समाप्त हो, तो उसने सृष्टि का विस्तार किया। उसने अपनी रचनात्मक शक्ति प्रकृति को ब्रह्मांड की रचना का आदेश दिया। गुणों में क्षोभ आदि से से प्रकृति ने निर्माण का कार्य आगे बढ़ाया। प्रकृति ने पंच महाभूतों की रचना की। इस कारण पंच महाभूतों को प्रकृति का कार्य कहा जाता है। चर अचर जगत की रचना प्रकृति ने की। यह तथ्य स्पष्ट प्रतीत होता है। मनुष्य शरीर को ही ले वह प्रकृति जन्य पंच महाभूतों का कार्य है। अन्य कुछ भी नहीं है। इस ब्रम्हांड में जो कुछ भी है वह सबका सब प्रकृति का कार्य है और प्रकृति परमात्मा का कार्य है। इस भाव से इस ब्रम्हांड में जो कुछ भी है वह सबका सब परमात्मा के रूप में ही है।

एक माला में सूत्र अर्थात् धागा और मणियां होती है। सूत्र तथा मड़ियों से ही माला का अस्तित्व होता है। सूत्र मड़ियों को अपने में पिरोये रखता है जिससे माला का अस्तित्व रहता है। यदि धागा टूट जाए तो मणियों के बिखरने से माला का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। मणियां पृथक हो जाती हैं और धागा पृथक हो जाता है। इसी प्रकार वह परमात्मा भी इस ब्रह्मांड में पिरोया हुआ है। ब्रम्हांड की प्रत्येक वस्तु में उसका अस्तित्व है।

परमात्मा जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों ही है। उसने ब्रम्हांड का निर्माण किया और उस निर्माण में स्वयं को उसने जगत के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार इस ब्रम्हांड में उस परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस तथ्य को जो समझ जाता है उसकी दृष्टि में परमात्मा सर्वत्र प्रतीत होता है। जैसे एक जगत की प्रत्येक वस्तु को उस वस्तु के रूप में देखते है, जानते है परन्तु ज्ञानवान पुरूष उसे परमात्मा के रूप में देखता है। यह सामान्य व्यक्ति और ज्ञानवान मनुष्य में अन्तर हो जाता है। इस प्रकार वस्तुतः परमात्मा के अतिरिक्त इस ब्रम्हांड में कुछ भी नहीं है।

(उन्नीस) मनुष्य को किसी को मारने तथा प्रताड़ित करने का अधिकार नहीं है :–

इस जगत में मनुष्य तथा समस्त प्रकार के प्राणियों की रचना परमात्मा के द्वारा की गई है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म के आधार पर अपना शरीर धारण करता है तथा अनुकूल और प्रतिकूल भोगों को भोगता है। यदि कोई मनुष्य दुष्कर्म करता है तो उसे परमात्मा अपनी व्यवस्था के अधीन दुःख देता है। उसके समक्ष प्रतिकूलताएं उपस्थित करता है। उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य सत्कर्म करता है तो वह परमात्मा अपनी व्यवस्था के आधार पर उसे सुख देता है तथा उसके समक्ष अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर देता है। कर्म करने की स्वतंत्रता मनुष्य को है परन्तु उस फल के भोगने में मनुष्य बाध्य है। ऐसा नहीं है कि हम दुष्कर्म करें ओर उसका प्रतिकूल परिणाम न भुगतें। हमें अवश्य ही प्रतिकूल परिस्थितियां झेलनी पड़ती है। यह कर्म व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य पर लागू है। इस व्यवस्था से कोई भी मनुष्य पृथक नहीं है।

कर्म व्यवस्था के अनुसार यदि कोई मनुष्य दुष्कर्म करता है तो मनुष्य को प्रताड़ना परमात्मा की ओर निश्चित प्राप्त होती है। उसको प्रताड़ित करने का अधिकार मनुष्य के पास नहीं है। यह अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है। वह अपनी व्यवस्था में किसी मनुष्य को प्रताड़ित करे अथवा मारे यदि कोई हमारा अहित करता है अथवा शत्रु भाव हमारे प्रति रखता है तो हमें उसे क्षमा ही करना चाहिए। उसे प्रताड़ित नहीं करना चाहिए और न ही मारना चाहिए। मनुष्य अपने कर्मो का भोक्ता है हम यदि किसी मनुष्य को किसी जीव को मारते पीटते है तो हम परमात्मा के अधिकार का उपभोग करने का दुस्साहस करते है। और अपने लिए दुष्कर्म करते है। हमें जो अधिकार नहीं है वह कर्म हमें कदापि नहीं करना चाहिए। दूसरे भाव से इस जगत में जो कुछ भी है वह परमात्मा के रूप में है। इस कारण यदि हम किसी को प्रताड़ित करते है तो उसे परमात्मा को ही प्रत्यक्ष रूप से प्रताड़ित करने का कार्य करते है। इस प्रकार हमें किसी जीव को, प्राणी को कभी प्रताड़ित

नहीं करना चाहिए कभी मारना नहीं चाहिए तथा किसी को प्रताड़ित करने और मारने का भाव भी नहीं रखना चाहिए। यदि ऐसा भाव रखते है तो यह मानसिक दोष है। हमें यह जो अधिकार है उसका पालन हमें करना चाहिए। यदि हम नहीं करते है तो दोषयुक्त हो जाएगे।

(बीस) त्रिगुणमयी माया अत्यंत दुष्तर है :–

परमात्मा अव्यक्त है अर्थात व्यक्त नहीं है। इसको सरल भाव से कहें तो यह स्पष्ट होता है कि वह परमात्मा हमें दीखता नहीं है। वह परमात्मा हमें दीखता नहीं है फिर भी अनेक प्रकार के कर्मो को करता रहता है। इस जगत की व्यवस्था को बनाये रखे है। उसमें अपनी पराशक्ति के रूप में माया का प्रादुर्भाव कर दिया है। वह माया भी अव्यक्त है। इस कारण हमें प्रतीत नहीं होती है, दिखाई नहीं पड़ती है। माया अव्यक्त रहकर जगत को लुभाने का कार्य करती है। यह कार्य प्रत्यक्ष प्रतीत तो नहीं होता है परन्तु उसका सर्वत्र बड़ा व्यापक प्रभाव है। सामान्य मनुष्य इसका अनुभव नहीं करता है परन्तु साधक उसके प्रभाव को जान लेता है और उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

परमात्मा की पराशक्ति माया के तीन रूप है। जिन्हे सात्विक माया, राजसी माया, तामसी माया कहा जाता है। इस त्रिगुणमयी माया ने जगत को अपने संजाल में ले लिया है। हमें इस संसार में अनेक प्रकार की मोहक और लुभावनी वस्तुएं जो प्रतीत होती है वे सभी माया के द्वारा उत्पन्न की गई हैं बनायी गई हैं इन्हीं लुभावनी और आकर्षक वस्तुओं में मनुष्य फंसा हुआ है और जीवन पर्यन्त की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है। तामसी माया मनुष्य को दुष्कर्मो की ओर प्रेरित करती है तथा वह दुष्कर्मो के आचरण से सुख मिलने की मिथ्या अनुभति कराती है। मनुष्य जब तामसी माया के वशीभूत हो जाता है तो वह नाना प्रकार के दुष्कर्म करता है और उसके परिणाम से सुख चाहता है। जैसे तामसी माया से ग्रसित मनुष्य समाज में अन्य लोगों को मूर्ख बनाकर लूटपाट करके उससे उपार्जित धन से सुख लेने की बात विचारता है और इसके लिए वह प्रयास भी करता है। यह तामसी माया कि प्रबलता है और दुष्तरता है। इसी प्रकार सात्विक माया से प्रभावित मनुष्य सकाम पूजा उपासना करके, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि उपार्जित करता है और उसमें सुख का आभास करता है। यह माया के पृथक–पृथक रूप ही है जो मनुष्यों को विविध प्रकार के कर्मो में लगाये रखते है। यही माया की दुष्तरता है। त्रिगुणीमयी माया बहुत कठिन हैं इसके प्रभाव को जान पाना भी कठिन है। और उसके प्रभाव से मुक्त हो पाना और भी कठिन है, जो साधक, संतजन परमात्मा का एक मात्र आश्रय ग्रहण कर लेते है वे ही इस दुष्तर त्रिगुणीमयी माया से पार जा पाते है। यह निश्चित सिद्धान्त हैं।

(इक्कीस) भगवान के चार प्रकार के भक्त :–

साधारणतः मनुष्य परमात्मा का स्मरण नहीं करता है। उसे याद नहीं करता है क्योंकि वह अनेक प्रकार के सांसारिक प्रपंचों में फंसा रहता है। सांसारिक प्रपंचों में फंसा मनुष्य जब प्रतिकूल परिस्थितियों को देखता है तो उसे भगवान का स्मरण आदि होता है। यह प्रतिकूल परिस्थितियां दो प्रकार की होती है। एक सांसारिक वस्तुओं की अनुपलब्धता की तथा दूसरे किसी संभावित अथवा प्रत्यक्ष संकट की। जब मनुष्य यह देखता है कि अनेक सांसारिक वस्तुएं हमारे पास नहीं है और उन्हें होना चाहिए तो वह भगवान का स्मरणकरता है कि हे भगवान हमारे लिए सांसारिक भोग वस्तुओं का संग्रह कर दों। जो इस प्रका की याचना करता है उस भक्त को अर्थार्थी भक्त कहा जाता है। जब कोई संकट आ जाता है। अथवा संकट प्रतीत होता है तो भी मनुष्य भगवान का स्मरण करता है और उसका आश्रय चाहता है। तो इस प्रकार के भक्त को आर्त कहा जाता है। यह दो प्रकार के भक्त अपनी आवश्यकता हेतु अथवा आवश्यकता में श्री भगवान का स्मरण करते है। अर्थात् उन्हें याद करते है। भगवान के यह दो भक्त परिस्थितियों के अनुसार भगवान के भक्त हो जाते है।

सांसारिक प्रपंचों तथा भोगों से जब मनुष्य उब जाता है तो वह श्री भगवान को जानना चाहता है। क्योंकि वह संसार की वास्तविकता को जान चुका होात है। संसार में आनन्द नहीं है। सुख नहीं हैं क्षणिकता है यह समझ परमानन्द तथा वास्तविक सुख की खोज में जब मनुष्य भगवान के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहिता है। तो वह जिज्ञासु कहलाता है। उसमें यह जिज्ञासा होती है कि भगवान के गुण कर्म स्वरूप स्वभाव को जाने। ऐसे भगवान के भक्त को जिज्ञासु भक्त कहा जाता है। भगवान ही सब कुछ है भगवान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह इस जगत को चलाते है और इसका आधार है तथा वही प्रतिष्ठा भी है। भगवान को सब कुछ समझ कर निर्विकार भाव से अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भगवान में जो अपने को समाहित कर लेता है वह ज्ञानी भक्त है। ज्ञानी भक्त भगवान को परम प्रिय होता है और वह भगवान का साक्षात् स्वरूप भी माना जाता है। इस प्रकार भगवान के चार भक्त है। जिन्हें अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा ज्ञानी कहते है। ज्ञानी तो सबसे उत्कृष्ट भक्त है।

(बाइस) वासुदेव सब कुछ है ऐसा महात्मा दुर्लभ है :–

हम सभी को संसार दीखता है, संसार में जो वस्तु है वह दीखती है संसार की हजारों वस्तुओं का मनुष्य ने नामकरण कर दिया है। संसार में जितनी प्रकार की भाषाएं है

उनमें प्रत्येक वस्तु के पृथक–पृथक नाम अर्थात् सम्बोधन है। मनुष्य ने अपने उपयोग की वस्तुओं के नाम गढ़े है और अपने लिए अनुपयोगी वस्तुओ के नामों की रचना भी की है। जिस किसी का नाम हम लेते है हमारे सम्मुख उस वस्तु की आकृति, गुण आदि प्रकृट हो जाते है जैसे हम जल कहते है तो हमारे सम्मुख तरल पदार्थ की आकृति प्रकृट होती है जो नाना प्रकार के कार्यो में हमारे उपयोग में आती है। जल से हम नहाते धोते है भोजन भी तैयार करते है और अपनी प्यास बुझाने के उपयोग में भी उसे लाते है। खेतों में फसल उगाने के लिए वह सिंचाई के रूप में काम में आता है। इस प्रकार जल के अनेक कार्य है। जल को पंच महाभूत का एक तत्व माना जाता है। इसी प्रकार संसार की हजारों लाखों वस्तुओं के नाम है और हम उन्हें नाम से ही जानते है।

जगत की समस्त वस्तुओं को पृथक–पृथक नामों से जानते है और उनकी पृथकता का बोध भी करते है। यह सब कुछ सर्वत्र परमात्मा के रूप में है। यह भावना उत्पन्न कर लेना तथा उसी भावना से कर्म करना सबसे उत्कृष्ट बात है। ऐसा मानने वाला तथा ऐसा मानकर व्यवहार करने वाला अत्यंत दुर्लभ है। इस जगत में जो कुछ भी है वह परमात्मा के स्वरूप में ही है। परमात्मा द्वारा उत्पन्न किया गया है तथा उनके द्वारा रचित है। उस परमात्मा को सर्वत्र देखना भक्ति की उत्कृष्टता है। परमात्मा को सर्वत्र देखने से मनुष्य में अनेक परिवर्तन स्वतः ही हो जाते है। हम सबसे पूज्यता का व्यवहार करते है। किसी को उद्विग्न नहीं करते है तथा नैतिक आचरण करते हैं यह स्थिति शीघ्र नहीं आती है और जब आ जाती है तो वह साधक सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। ऐसा मनुष्य जिधर भी देखता है अर्थात उसकी दृष्टि जहां भी जाती है उसे परमात्मा ही प्रतीत होता है। प्रत्येक जीव में, उसकी गति में, चेष्टा में, परमात्मा ही रहता है। चराचर जगत में उसके ही दर्शन होते है। ऐसा मनुष्य अत्यंत दुर्लभ है। जो सर्वत्र वासुदेव को ही देखता है।

(तेईस) मूर्ख लोग श्री भगवान को सामान्य मनुष्य समझते है :–

श्री भगवान का अवतरण महाभारत काल में हुआ था तथा उन्होंने साक्षात् प्रकट होकर भगवद् गीता का उपदेश दिया। उनके अवतरण काल में अनेक प्रकार आसुरी स्वभाव के लोग समाज में अन्याय और अत्याचार उत्पन्न किये हुए थे जिसके विनाश हेतु उन्होंने साक्षात् अवतरित होकर आतताइयों का विनाश किया। उस काल में कंस जरासंध, शिशुपाल, दुर्योध्न आदि आदि प्रमुख थे जो अन्याय और अत्याचार के समर्थक थें जरासंध ने हजारों राजाओ ंको जीत कर उन्हें अपनी बंदी गृह में डाल दिया था। जरासंध के कारागार से हजारों राजाओं की मुक्ति श्री भगवान ने जरासंध को मार कर करायी थी।

कंस ने अपने पिता को ही बंदी गृह में डाल कर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया था। उनके अन्याय और अत्याचार से परेशान होकर श्री भगवान ने कंस का वध किया था। शिशुपाल भी आतंकवाद का पर्याय था वह भी भगवान के द्वारा मारा गया। दुर्योध्न ने अपने चचेरे भाईयों अर्थात् पाण्डवों को राज्य को हडपने का प्रयास किया था तथा उसने महाभारत के युद्ध में लाखों क्षत्रियों का विनाश करा दिया। यह सब अंत तक श्री भगवान को सामान्य मनुष्य की तरह ही मानते रहे और अंततः मारे गए। यदि यह आततायी श्री भगवान के वास्तविक स्वरूप को जान गए होते तो वह श्री भगवान से बैर नहीं लेते और अपना विनाश नहीं कराते। यह भक्ति भाव का ही परिणाम था जिससे उनका विनाश हो गया।

श्री भगवान धृतराष्ट्र की सभा में महाभारत युद्ध के पूर्व संधि प्रस्ताव लेकर गए और उन्होंने भरी सभा में दुर्योध्यन को समझाने का प्रयास किया तथा कहा कि इस युद्ध में क्षत्रियों का बडा ही विनाश हो जाएगा। राज्य सभा में दुर्योध्न तथा उनके पक्ष के लोग श्री भगवान के वास्तविक स्वरूप को समझ नही सकें तथा श्री भगवान के संधि एवं शान्ति प्रस्ताव को स्वीकार न करके उनको मारने और पकड़ने का प्रयास किया। वे भी उन्हें व्यक्ति भाव का मानकर सामान्य मनुष्य मानते रहे। श्री भगवान ने राज्य सभा में अपने विशिष्ट ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट कर दिया जिससे सभी लोग चकाचौंध हो गए। इस पर भी दुर्योध्न आदि की बुद्धि में श्री भगवान सामान्य मनुष्य की तरह ही रहे और अंततः उन्होंने अपना स्वयं विनाश कर लिया। भगवान के प्रभाव को समझ कर जो लोग उन्हे ईश्वरीय सत्ता के रूप में स्वीकार करते है उसे ही अंततः मुक्ति प्राप्त होती है और जो नहीं मानते है वे अंततः नष्ट हो जाते है।

(चौबीस) योग माया से आवृत्त श्री भगवान सबके समक्ष प्रकृट नहीं होते :–

परमात्मा अव्यक्त रहकर समस्त ब्रम्हांड की रचना करता है और उसकी समस्त रचना को देखता है। ब्रम्हांड की समग्र व्यवस्था सुचारू रूप से चल रही है। कहीं कोई अव्यवस्था प्रतीत नहीं होती है। पर परमात्मा अव्यक्त ही है अर्थात् वह प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता है। यह परमात्मा की विशिष्टता है कि वह अव्यक्त रहकर इतनी विशाल व्यवस्था को संचालित कर रहा है। इस तथ्य से यह विचार मन में आता है कि वह जगत को रचता है। और प्रकट रहता है। प्रत्यक्ष नहीं होता परे रहकर कर्म करता है। वह परमात्मा प्रकट क्यों नहीं होता है प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ? प्रतीत क्यों नहीं होता है ? यह अत्यंत विचारणीय प्रश्न है। इस कारण जब इस तथ्य पर हम विचार करते है कि हमें स्वीकार

करना पड़ता है कि कोई विशिष्ट शक्ति ही परमात्मा को आवृत्त रखती है अर्थात् ढके रहती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति उसे सामान्य रूप से देख पाने में असमर्थ है।

ब्रम्हांड में बहुत सी ऐसी रचनाएं है जिन्हें हम सूक्ष्म होने के कारण साधारणतः अपनी आंखों से नहीं देख पाते है। वे रचनाएं अति सूक्ष्म जीवों के रूप में भी है उसका रचनाकार परमात्मा उससे भी अधिक सूक्ष्म है। हमारी नेत्रों की देखने की क्षमता है। उस क्षमता से अधिक हम नहीं देख सकते है। जैसे हम जब समुद्र के किनारे खड़े होते है तो सामने बहुत दूर समुद्र का जल और आकाश एक में मिला हुआ प्रतीत होता हैं जबकि ऐसा नहीं है। परन्तु हमारी आंखों की देखने की क्षमता उससे आगे नहीं है। इस कारण हमें समुद्र का जल और आकाश का मिला हुआ दृश्य प्रतीत होता है। यह मिथ्याभास ही है। हमारे नेत्रों की क्षमता उस परमात्मा को भी देखने की नहीं है वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम है। उसे इस प्राकृत नेत्रों से देखा जा पाना संभव नहीं है। इसी तथ्य को कहा जाता है कि वह परमात्मा अपनी योग माया से भली प्रकार आवृत्त है, ढका हुआ है और योग माया से आवृत्त होने के कारण ही वह हमें प्रतीत नहीं होता है। यदि हमें परमात्मा का दर्शन करना है तो माया के इस पर्दे को हमें हटाना पड़ेगा। यदि हमे योग माया के इस पर्दे को हटा सकें तो वह परमात्मा निश्चित ही हमारे समक्ष प्रकट हो जाएगा। प्रतीत होगा। हमारी आंखों की दृष्टि में दिखेगा।

(पच्चीस) परमात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त प्राणियों को जानता है :—

सृष्टि का आरम्भ आज से लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ था। तबसे यह सृष्टि अस्तित्व में है और निरन्तर गति कर रही है। आज सृष्टि में कितने जीव है अर्थात् वर्तमान में पृथ्वी पर कितने जीव है इन सबका विवरण श्री भगवान के पास है। यह कुछ सरल तथ्य है कि वर्तमान जीवों का समस्त लेखा जोखा श्री भगवान की व्यवस्था में संग्रहित है। यह आशाजनक तथ्य है। भूतकाल मे जितने भी जीव हुए कौन सा जीव किस समय किस योनी में था इसका भी लेखा जोखा श्री भगवान के पास संग्रहित हैं यह परमात्मा की बहुत वृहद व्यवस्था है, जो जीव भूतकाल में हो चुके है और किस काल में क्या रहे है ? यह सबका सब परमात्मा की संज्ञानता में है। यह तो बड़ा विशद और आश्चर्यजनक तथ्य है कि लाखों वर्षो से जो सृष्टि है उसमें जो जीव है उन सबका लेखा जोखा रखना बहुत ही उलझाव पूर्ण कार्य है फिर भी परमात्मा उन सभी को जानता है तथा उसी के अनुसार अग्रिम जन्म भी होता है। यह वृहद व्यवस्था निरन्तर चलती रहती है। चल रही है और भविष्य में चलती रहेगी।

भूतकाल के समस्त जीवों के प्रति परमात्मा की संज्ञानता है तथा उन्हें वर्तमान तक लाने का कार्य भी परमात्मा ने किया है। इसके अतिरिक्त भविष्य में कौन सा जीव किस योनि में होगा यह भी परमात्मा की संज्ञानता में है। यह उपरोक्त कार्य उससे भी अधिक उलझाव पूर्ण कार्य है। भविष्य की व्यवस्था को जान पाना तथा उसको अपनी व्यवस्था के अनुसार संचालित करना है। यह अत्यंत दुष्कर कार्य है। लाखों वर्षो से असंख्य जीवों की तीनों कालों की स्थिति का संज्ञान रखना एक विशिष्ट तथ्य है। परमात्मा की आश्चर्यप्रद शक्ति का प्रतीत है। इससे परमात्मा सब कुछ ठीक ठीक प्रकार से समग्र व्यवस्था को चला रहा है और वह तीनों कालों में उपस्थित रहने वाले जीवों को जानता है।

(छब्बीस) परमात्मा कैसे सुलभ हो सकता है ?

अव्यक्त परमात्मा किस प्रकार सुलभ हो सकता है ? यह महत्वपूर्ण तथ्य है। उस उपाय को लिखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि परमात्मा अनिर्वचनीय तथा अचिंत्य स्वरूप है। अनिर्वचनीय का अर्थ होता है कि उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता है। तथा अचिंत्य स्वरूप का अर्थ होता है कि मन बुद्धि से उस पर विचार नहीं किया जा सकता है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर परमात्मा की सुलभता का वर्णन किया जा रहा है। यह वर्णन क्रियात्मक है तथा अनुभव का विषय है। यदि इसका अनुकरण कर सके तो अवश्य ही परमात्मा सुलभ हो सकेगा।

हम अपनी मन तथा बुद्धि से क्या विचार करते है इस प्रश्न पर यदि हम विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि हमारी मन बुद्धि सांसारिक विषयों के बारे में विचार करती रहती है। जागृत और स्वप्न के संसार के विषय में संसार के बारे में विचार चलता रहता है। यह विचार समाप्त करके परमात्मा के संदर्भ में विचार करना है। जैसे किसी एक वस्तु को हटाकर उस स्थान पर दूसरी वस्तु को हम स्थापित कर देते है। इसी प्रकार हमारे मन बुद्धि में जो विचार चलते है तथा जिनका विनिश्चय होता है वह हटाकर परमात्मा के सम्बंध में विचार करना पड़ता है। हमारी मन तथा बुद्धि निरन्तर ही बिना प्रयास के संसार के बारे में विचार करती रहती है। संसार के विषय मन तथा बुद्धि से हटते नहीं है। वैसी निरन्तरता परमात्मा के बारे में हमें करनी होगी। परमात्मा जब मन तथा बुद्धि से नहीं हटेगा तो वह हमें सुलभ हो जाएगा। यहां पर अनन्य तथा नित्य निरन्तर चिंतन का प्रश्न है यह कैसे होगा ? इसकी क्रियात्मक स्थिति कैसे प्राप्त होगी ? इस पर विचार करना पड़ेगा। साधक इस नित्य निरन्तर तथा अनित्य और अन्तरयुक्त स्थिति को जानता है।

साधारण रूप से संसार के विषयों का नित्य निरन्तर चिंतन होता है। इसमें अनित्यता नहीं आती है। यह सब अपने आप स्वाभाविक रूप से चलत रहता है। हमें इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। संसार के स्वतः ही मन और बुद्धि में आते रहते है। एक विचार के पश्चात् दूसरा विचार तथा दूसरे विचार के पश्चात् तीसरा विचार इस प्रकार क्रमिक रूप से असंख्य सांसारिक विचार चलते है। उन विषयों से उनके विचारण से हमें संसार की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार जब परमात्मा के बारे में अनन्य तथा अन्तररहित चिंतन होगा तब वह परमात्मा हमें सुलभ हो जाएगा। वैसे ही सुलभ हो जाएगा जैसे वायु सर्वत्र सुलभ है। यह अनन्य चिंतन की स्थिति हमें स्वतः प्राप्त करनी होगी। संसार के विषयों को निकाल कर उनके स्थान पर परमात्मा के विषयों को स्थापित करना पड़ेगा। इस क्रिया से परमात्मा सुलभ हो जाएगा। अनुभूति का विषय है तथा पूरी तरह व्यवहारिक है। इसका प्रयत्न प्रत्येक साधक को करना चाहिए।

(सत्ताइस) परमात्मा अनन्य भक्तों का योगक्षेम स्वयं वहन करता है :—

हमें अपने जीवन में जो कुछ सम्पत्ति प्राप्त होती है वह बिना कारण के प्राप्त नहीं होती है। जिस परिवार में हमारा जन्म होता है उसमें भी हमें जो कुछ सम्पत्ति प्राप्ति होने की संभावना रहती है वह अनायास नहीं रहती है। उसका संयोग उस परमात्मा के द्वारा किय जाता है। जैसे एक बालक गरीब परिवार में उत्पन्न होता है दूसरा मध्यम परिवार में जन्म लेता है तथा उच्च परिवार में अर्थात् धनाढ्य परिवार में उत्पन्न होता हैं। यह सबका सब अनायास नहीं होता है। इसका कारण हमारे पूर्व जन्म के कर्म रहते है। एक धनाढ्य परिवार में उत्पन्न बालक बहुत कुछ सम्पत्ति लेकर उत्पन्न हो जाता है। उसको अनायास ही सम्पत्ति प्राप्ति हो जाती है। यह सब परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर ही होता है। जिसमें हमारे कर्म आधारभूत तथ्य है। ऐसा अनायास नहीं होता है।

सांसारिक जीवन में हमें जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है वह बना रहे तथा वृद्धि को प्राप्त हो यह आकांक्षा प्रत्येक मनुष्य की रहती है। जैसे हमें रहने के लिए आवास प्राप्त हुआ है तो वह आवास ठीक से बना रहे यह भी आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति की रहती है। इसी प्रकार हमारे सम्पर्कित जो वस्तुएं हमारे स्वामित्व में होती है हम उनकी सुरक्षा चाहते है। इसे ही क्षेम कहा जाता है। हमे सांसारिक जीवन में अनेक वस्तुओं का आभाव प्रतीत होता है। उनकी प्राप्ति हो जाना योग कहा जाता है। यह योग तथा क्षेम परमात्मा की कृपा से हमें प्राप्ता होता है। जिस प्रकार के हमारे कर्म होते है। उस प्रकार का हमारा योग क्षेम होता है।

जो साधक परमात्मा का अनन्य चिंतन करते है उन्हें परमात्मा अप्राप्त वस्तुएं स्वतः ही प्रदान करा देता है। तथा जो वस्तुएं प्राप्त करवाता है उनकी भी वह रक्षा करता है। यह तथ्य उन्हीं के लिए है जो परमात्मा के स्वरूप के चिंतन में निरन्तर लगे रहते है। यदि हमारा परमात्मा का चिंतन अधिकाधिक रूप से होता है तो परमात्मा भी हमारे चिंतन के कारण हमारी ओर आकृष्ट होता है। यह आकर्षण हमारे चिंतन के कारण ही होता है। हम जब परमात्मा के स्वरूप के चिंतन में निरन्तर लगे रहते है। तो इसी को अनन्य चिंतन का स्वरूप समझना चाहिए। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर हमें वह नित्य प्राप्त हो जाता है और हमें किसी वस्तु का अभाव प्रतीत नहीं होता। परमात्मा अपने अनन्य चिंतन वाले साधकों को तत्काल की आवश्यकता की वस्तुएं दे देता है और उनकी रक्षा भी करता है।

(अट्ठाइस) प्रेम से अर्पित प्रत्येक वस्तु को परमात्मा प्रकृट होकर ग्रहण करता है :–

पूर्व में यह तथ्य वर्णित किया गया था कि परमात्मा प्रत्येक ओर मुख वाला है तथा सर्वत्र व्याप्त है। यदि कोई भी भक्त परमात्मा को प्रेम पूर्वक कुछ अर्पित करता है तो परमात्मा उसे प्रेम सहित ग्रहण कर लेता हैं यह हमारी भावना का तथ्य है कि हम उस परमात्मा को किस भाव से अर्पित करते हैं प्रेम पूर्वक अर्पित किये गए प्रत्येक पदार्थ को परमात्मा ग्रहण करता है ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता परन्तु हमारी अर्पित की गई प्रत्येक वस्तु को वह साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण करता है और उसे खाता है। यह प्रेम की पराकाष्ठा पर ही संभव है। यहां पर भाव की प्रधानता है।

जगत की प्रत्येक वस्तु परमात्मा की है। उसी के द्वारा उपार्जित की गई है। तथा प्रत्येक वस्तु का उद्‌भव भी उसी परमात्मा के द्वारा ही हुआ है। हमारी उत्पत्ति का वही हेतु है। हम उसके है वह हमारा है। प्रत्येक वस्तु उसकी है और उसी के द्वारा हमें प्राप्त हुई है यह भाव जब प्रगाढ़ हो जाता है तब हम अपने को तथा अपनी प्रत्येक वस्तु को उसे अर्पित कर सकते है क्योंकि वस्तुतः हमारा कुछ नहीं है। हमारे पास उसे देने के लिए भी कुछ नहीं है। जो कुछ भी है उसका ही है। फिर भी तेरा तुझको अर्पण के भाव से हम उसे जो भी अर्पित करते है वह प्रकट होकर साक्षात् ग्रहण कर लेता है। हमारी भावना जितनी बलवती होती है। अर्थात् अर्पित करने का भाव जितना प्रगाढ़ होता है उतनी ही शीघ्र वह साक्षात् प्रकट होकर हमारे द्वारा अर्पित प्रत्येक वस्तु को ग्रहण कर लेता है और प्रसन्न होता है।

(उनतीस) अतिशय दुराचारी भी यदि भगवान का भजन करता है तो वह साधु मानने योग्य है :—

परमात्मा हमारे प्रत्येक कार्य पर अपनी दृष्टि रखता है हम यदि दुराचार करते है दुष्कर्मिता अपनाते है तो भी वह देखता है और ऐसे कार्य के लिए उचित दंड की व्यवस्था भी कर देता हैं परमात्मा की कृपा से किसी घटना के कारण किसी महापुरूष से यदि कोई अतिशय दुराचारी भगवान की ओर उन्मुख हो जाता है तो वह भगवान के प्रेम में डूबता है। उस कार्य से अर्थात् भगवद् भक्ति से दुराचरण का परित्याग स्वतः ही कर देता है। तब उसे साधु के रूप में समझना आवश्यक है। वस्तुतः हम सभी कुछ न कुछ अवैधानिक कर्म अवश्य करते है। और यदि हम निश्चय कर लेते है कि हमें ऐसा नहीं करना है तो हमें एक मार्ग प्राप्त होता है जो परमात्मा की ओर जाता है।

मनुष्य दुष्कर्म क्यों करता है ? जब इस प्रश्न पर हम विचार करते है तो यह पाते है कि सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु मनुष्य दुष्कर्म करता हैं चाहे वह किसी भी प्रकार का दुष्कर्म हो उसके पीछे सांसारिक भोगों की कामना आधारभूत तथ्य है। ऐसी स्थिति में वह परमात्मा से विमुख हो जाता है। परमात्मा से विमुखता का अर्थ है कि वह परमात्मा के सम्मुख नही होता है। समाज में मनमाने ढंग से दूसरों को उत्पीड़ित करने के लिए जो कर्म किये जाते है वह साधारणतः दुष्कर्म कहलाते है। जिससे समस्त प्रकार की सामाजिक मर्यादाएं टूट जाती है। इस प्रकार के आचरण से समाज में अव्यवस्था फैलती है। सामाजिक मूल्यों का हृास हो जाता है। यह दुष्कर्मो का परिणाम है।

जब कोई दुष्कर्मी मनुष्य भगवान की भक्ति करता है उसका नाम जप करता है भगवान के प्रति श्रद्धा रखता है सत्संग आदि में सम्मिलित होता है। परमात्मा का यजन पूजन करता है तो सामान्यतः इसे भगवान की भक्ति कहा जाता है। ऐसा मनुष्य भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। उस अव्यक्त सर्वोच्च सत्ता के निकट जाता है। यह स्थिति उस व्यक्ति को यह विचार करने को बाध्य करती है कि हमें उस परमात्मा से अपने दुष्कर्मो हेतु क्षमा मांगना चाहिए। भगवान की भक्ति से दुष्कर्मी व्यक्ति स्वतः ही सतकर्मी हो जाता है उसमें अपने आप ही पर्यापत परिवर्तन होता है और वह व्यक्ति साधु की श्रेणी में आ जाता है। भगवान की भक्ति से आसामाजिक कर्मो के प्रति रूचि स्वतः ही समाप्त हो जाती है। यह भगवद् भक्ति का प्रभाव है। इस कारण यह कहा जाता है कि कोई अतिशय दुराचारी मनुष्य भी भगवान का भक्त हो जाता है तो साधू ही मानने योग्य है। यह कथन भगवान की भक्ति से सम्बंधित है और उसी पर आधारित है।

(तीस) परमात्मा अपने भजन करने वालो को बुद्धि योग देते है :—

परमात्मा ने बुद्धि नामक तत्व सबको प्रदान किया है। बुद्धि अपरा प्रकृति का सातवां तत्व है। यह तत्व प्रत्येक मनुष्य में होता है जो मनु द्वारा विचार किये गए विषयों का विनिश्चय करता है। बुद्धि का प्रमुख कार्य है कि वह सांसारिक विषयों को ग्रहण करके उचित अनुचित का निर्णय करती है। यदि मनुष्य में बुद्धि न होती तो वह उचित अनुचित का निर्णय ही नहीं कर पाता और उसकी स्थिति पशु समान हो जाती। इस दृष्टि से मानव शरीर में बुद्धि की महत्वपूर्ण भूमिका है। मनुष्य संसार में किसी भी कार्य सम्पादन करता है वह सब बुद्धि के सहयोग से ही करता है। बुद्धि ही समस्त कार्यो का सम्यक रूपेण सम्पादन कराती है।

मनुष्य तीन प्रकार के कर्म करता है ईष्ट, अनिष्ट, तथा ईष्ट और अनिष्ट मिश्रित यह तीनों प्रकार के कर्मो के सम्पादन में बुद्धि का ही आधारभूत कार्य है। हम जब शुभ कर्म करते है तब भी बुद्धि कार्य करती हैं अशुभ कर्म करते है तब भी बुद्धि कार्य करती है और शुभाशुभ कर्म करते है तो भी बुद्धि कार्य करती है। शुभ अशुभ तथा शुभाशुभ कार्य सभी सांसारिक कार्य है। जिनमें जीवन पर्यन्त बुद्धि लगी रहती है। ऐसी बुद्धि जीवन के उद्देश्य को नहीं जानती है और न ही जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के उपाय को जानती है जो बुद्धि जीवन के उद्देश्य को तथा उसकी प्राप्ति के उपाय को जान लेती है वह उत्कृष्ट बुद्धि कहलाती है। जीवन के उद्देश्य को जानना, उद्देश्य प्राप्ति हेतु उपाय पर दृढ़ता से आरूढ हो जाना। इस प्रकार की बुद्धि परमात्मा के निरन्तर भजन से प्राप्त होती है। ऐसे अनायास नहीं प्राप्त होती। जब कोई साधक परमात्मा के नाम रूपी जप में मन से अपने को लगा लेता है और नाम जप के द्वारा ही उसे पुकारता है तो परमात्मा उस भक्त पर ध्यान देते है और उसे वह बुद्धि प्रदान करते है जिससे जीवन का उद्देश्य जाना जाता है। और प्राप्त किया जाता है। उसी को बुद्धि योग कहा जाता है। बुद्धि योग होने पर कर्तव्य अकर्तव्य, नैतिक, अनैतिक धर्म, अधर्म के तत्व को सम्यक् रूपेण आप जान सकते है और उसके आचरण को उद्वत हो सकते है। बुद्धि योग की ही विशेषता है।

(इकतीस) सगुण उपासक निर्गुण उपासको से श्रेष्ठ है :—

परमात्मा अव्यक्त है तथा निराकार है। इस कारण उसके आकार का निर्धारण नहीं हो सकता है। वह समग्र ब्रम्हांड का रचयिता है। तथा समस्त ब्रम्हांड के रूप में ही अवतरित होता हैं इस कारण वह ब्रम्हांड के आकार में ही है। प्रत्येक वस्तु उसी के आकार में हैं अव्यक्त तथा निराकार होने के कारण उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है। निरकार

परमात्मा की उपासना भी होती है और साकार परमात्मा की उपासना भी होती है। यह श्रद्धा के अनुसार परमात्मा की उपासना का क्रम है। किसी की श्रद्धा निराकार परमात्मा की उपासना की है और किसी की साकार परमात्मा में उपासना की श्रद्धा है दोनों प्रकार के उपासक अपनी अपनी श्रद्धा से उपासना करते है यह श्रद्धा जैसी होती है वैसे ही भक्त उपासना करते है।

परमात्मा इस पृथ्वी पर अवतरित होता है यह भगवद्गीता का सिद्धान्त है। और इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवद् गीता का उद्देश्य है कि जब परमात्मा पृथ्वी पर अवतरित होता है तो वह साकार ब्रम्ह के रूप में हो जाता है। निराकार ब्रम्ह की उपासना तो चिरकाल से होती रही हैं पर साकार ब्रम्ह की उपासना तो उसके अवतरण काल से आरम्भ हुई है। साकार ब्रम्ह का अभिप्राय कि हम उस परमात्मा को अपने सामने ही मनुष्य रूप में जाने और उसे परमात्मा के स्वरूप में पूजे यह उपासना सहज भी है और शीघ्र फलदायी है। इसकी श्रेष्ठता इस कारण है कि हम उसे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त रूप में देखते है। भगवान ने साकार ब्रम्ह की उपासना को प्रत्यक्ष तथा सरलता के आधार पर श्रेष्ठ माना है। कोई वस्तु जब प्रत्यक्ष प्रतीत होती है तो वह श्रेष्ठ हो जाती है और जब अप्राप्त रहती है तो वह निकृष्ट हो जाती है। उसकी श्रेष्ठता प्रत्यक्षता के आधार पर ही है। हमारे सम्मुख भगवान प्रकट हो अप्रकृट हो तो प्रकट श्रेष्ठ होगा। इस कारण परमात्मा की सगुण उपासना श्रेष्ठ है।

(बत्तीस) देहाभिमानियों द्वारा निराकार ब्रम्ह की प्राप्ति कठिन हैः—

अहंकार बड़ा ही सूक्ष्म तत्व है जो उत्कृष्ट साधना से ही शीघ्र निवृत्त नहीं होता हैं। सामान्य मनुष्यों में यह अधिक से अधिक रहता है। साधक ज्यों ज्यों साधना करता है वैसे वैसे अहंकार रूपी तत्व की शरीर में कमी होती जाती है। अर्थात् वह शान्त होता जाता है। अहंकार की गति, प्रभाव तथा उसके प्रभाव से होने वाली चेष्टाओं का अध्ययन साधक करता है और उसके प्रभाव से शरीर को परखता है। जैसे क्रोध शरीर में अचानक प्रकट होता हैं वैसे ही अहंकार भी शरीर में अचानक प्रकट होता है। क्रोध के प्रकटीकरण एवं उसके प्रभाव को हम बाद में जान पाते है। वैसे ही अहंकार के प्रकटीकरण तथा उसके प्रभाव को बाद में ही जाना सकता है। जो साधक क्रोध के प्रकटीकरण के पूर्व ही उसे वश में कर लेते है। वे क्रोधजयी हो जाते है। वैसे ही अहंकार के प्रकटीकरण के पूर्व उसे जान जाना तथा उसे जान कर शान्त कर देना ही उत्कृष्ट साधक का प्रमुख लक्षण है। एक तथ्य स्पष्ट समझ ले कि अहंकार से इतनी शीघ्र निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अहंकार बुद्धि से भी सूक्ष्म होता है।

निराकार ब्रम्ह की उपासना में प्रमुख बाधा अहंकार की होती हैं सगुण उपासना में भगवान के सामने होने पर यह अहंकार रूपी बाधक तत्व पिघल जाता है। क्योंकि हम उस परमात्मा को अपना स्वामी समझ लेते है। जहां पर स्वामी होता है वहां सेवक अपने को निकृष्ट मान लेता है। छोटा समझता है। इस भाव से अहंकार स्वतः ही दबा रहता है। अहंकार का उर्पाजन बहुत तीव्रता से होता है। जब हम किसी भी प्रकार से अपने को उत्कृष्ट समझते है तथा श्रेष्ठ मान लेते है तो अहंकार की स्वतः ही प्रवृत्ति हो जाती है। यह सिद्धान्त है। अपने को किसी प्रकार से किसी भाव से उत्कृष्ट समझना ही देहाभिमान है। देहाभिमानी पुरूष के लिए निराकार ब्रम्ह की उपासना कठिन होती है। शीघ्र सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

जब तक अहंकार रूपी दोष का जरा भी प्रभाव शरीर पर रहता है। तब तक मुक्ति की आशा करना व्यर्थ है। यह शास्त्र सम्यक तथ्य है। सगुण ब्रम्ह के शरीर रूप में सामने रहने पर अहंकार रूपी तत्व स्वतः ही समाप्त हो जाता है। जिससे सगुण ब्रह्म की उपासना सरल हो जाती है। जो साधक अहंकार रूपी तत्व को समाप्त करने में समर्थ हो जाते है वे साधक निराकार ब्रह्म को भी प्राप्त कर लेते है। परन्तु यह प्रक्रिया अत्यंत कठिन है जिस पर साधक चलता है तो अनेक कठिनाइयां उसके समक्ष आती है। साधना में कठिनता आने पर साधक विचलित होता है और साधना का प्रयास शिथिल हो जाता है। यह स्थिति सिद्धि के प्रतिकूल स्थिति है। इस प्रकार निराकार ब्रह्म के साधकों को देहाभिमान के कारण ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती है।

(तैतीस) परमात्मा में मन लगाये और बुद्धि को निवेशित करें :–

पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि मन की वृत्ति संकल्प है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि हमारा आपका सभी का मन निरन्तर कुछ न कुछ विचार अवश्य ही किया करता है। मन के द्वारा विचार किये जाने की क्रिया कभी समाप्त नहीं होती। केवल निद्राकाल में ही समाप्त होती है। मन संसार के बारे में विचार करता रहता है। इस तथ्य को इस प्रकार कहे कि मन संसार में लगा रहता है। उसकी सम्पूर्ण गतिविधि और चेष्टा संसार में रहती है। इस गतिविधि और चेष्टा को परमात्मा के स्मरण में समाहित करें। जो मन से विचार होता है वह विषय समाप्त करें। वह विषय मन से हटाये वह विषय किसी भी प्रकार का हो उसे मन के चिंतन से अलग करें। अथवा मन जो कुछ भी विचार कर रहा है वह विषय मन से हटाने का प्रयास करें। अधिकांश मन अपने से सम्पर्कित विषयों का विचारण करता है। मन विषयों से हटेंगे तो उसके स्थान पर परमात्मा के विषयों को समाहित कर सकेंगे। यह मन को परमात्मा में लगाना है।

मन जो कुछ भी विचार करता है उस पर बुद्धि अपनी दृष्टि रखती है। मन जिस विषय को विचारता है वह बुद्धि की समझ में आता रहता है। इस कारण मन जो कुछ भी विचारता है उसकों बुद्धि देखती रहती है और अधिकांश शान्त भाव से उस विचार पर अपनी सहमति एवं स्वीकृति भी प्रकट करती है। कभी–कभी कतिपय मामलों में बुद्धि अपनी अस्वीकृत मन द्वारा विचारित किये गए विषयों पर देती है। यह सामान्यता कभी कभी ही होता है। अधिकांश नहीं होता है। इस प्रकार बुद्धि भी सांसारिक प्रपंचों में लगी रहती है तथा मन की अनुगामी होती है। मन संसार में रहता है तो बुद्धि संसार में रहती है। उससे पृथक नहीं हो पाती है। यह बुद्धि को भी परमात्मा में निवेशित करना है। मन के परमात्मा में लगने से बुद्धि भी परमात्मा की ओर आकर्षित होती हैं बुद्धि को निवेशित करने का अर्थ है कि मन को सांसारिक विषयों में भागने से रोकना। मन यदि भागता है तो बुद्धि उसे पकड़ कर परमात्मा के स्वरूप में पुनः लगा देती है। मन को चंचल बालक समझे और बुद्धि को आचार्य समझ लें। मन को परमात्मा में लगा लें तो बुद्धि को परमात्मा में निवेशित करने से तत्व दर्शन भी शीघ्र हो जाता है। यही तत्व दर्शन की व्यवहारिक क्रिया है।

(चौतीस) परमात्मा पिता है प्रकृति माता है :–

इस ब्रह्मांड में जो सृष्टि है उसमें लाखों योनियां है योनियों का अर्थ पृथक–पृथक् प्रकार के जीवों–प्राणियों से है। मात्र पृथ्वी पर ही हम लाखों हजारो योनियों अर्थात् प्राणियों का दर्शन करते है। पृथक्–पृथक् प्रकार के पशु पक्षी, जलचर–थलचर आदि आदि पृथ्वी पर उपलब्ध है जो हम देख पाते है उसके अतिरिक्त वनों, जंगलों, पहाड़ों पर भी अनेक प्रकार के जीव निवाश करते है। समुद्र में नाना प्रकार के जलचर रहते है। यह पृथ्वी पर विचरण करके पृथ्वी से भोजन पाने वाले जीव जन्तुओं का विषय है। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोक भी है जिनमें सृष्टि है। देवगण, असुर, राक्षस, नाग, सिद्ध, पितर, गंधर्व, आदि अन्य योनियां भी है और उनका अस्तित्व भी है। वह परमात्मा इन सभी जीवों का पिता है। अर्थात् जनक के स्वरूप में है। और प्रकृति माता के स्वरूप में है। जितने भी जीव है उन सभी में माता पिता का अस्तित्व है। उसी भाव से एक परमात्मा ही पिता है और उसकी रचनात्मक शक्ति प्रकृति ही माता है।

(पैतीस) त्रिगुण से अतीत साधक के गुण :–

त्रिगुण अर्थात् सत्व,रज, तम से सम्पूर्ण सृष्टि प्रभावित है। मनुष्यों पर भी इसका प्रभाव है। प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणों के प्रभाव से नाना प्रकार की चेष्टाएं करता है। सात्विक, राजस, तामस प्रकृति के लोग पृथक–पृथक प्रकार के कार्य करते है और कार्य करने को

बाध्य है। सात्विक गुण शुभ कर्म में लगाता हैं राजसी गुण सांसारिक कर्मो की ओर प्रेरित करता है तथा तामसी गुण दुष्कर्मो का क्रियान्वयन कराता है। यह गुणों का प्रभाव ही ही है। जिसके अधीन मनुष्य कार्य करता है। जब तक मनुष्य त्रिगुणों के अधीन कार्य करता है तब तक वह तत्व दर्शन से विमुख रहता है। तत्व दर्शन हेतु मनुष्य को त्रिगुणों से अतीत होना पड़ता है। अर्थात् गुणों के प्रभाव से परे जाना पड़ता है। तत्वदर्शी पुरूष गुणों के परे हो जाते है। अतीत हो जाते है। इसलिए उन्हें गुणों से अतीत कहा जाता है। गुणातीत मनुष्यों में कुछ विशिष्ट गुणों का स्वतः ही प्रादुर्भाव हो जाता है। हम गुणों से तत्व दर्शी पुरूष की परख कर सकते है। तथा यह गुण त्रिगुणों से अतीत होने में भी सहायक होते है। त्रिगुण से अतीत पुरूष के गुणों का अवलोकन करें।

(क) उदासीनवत व्यवहार : जगत में जो कुछ चल रहा है जो कुछ व्यवहार हो रहा है जो भी चेष्टा हो रही है उस सबको निरपेक्ष भाव से बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये हुए देखना और उससे प्रभावित न होना ही उदासीनत व्यवहार है। त्रिगुण से अतीत मनुष्य में यह गुण स्वतः ही आ जाता है जिसके कारण वह संसार को शान्त एवं निरपेक्ष भाव से देखता रहता है।

(ख) त्रिगुणों से विचलित न होना : सत्व रज तम यह तीन गुण ही मनुष्य को नचाते है और उसे नाना प्रकार के कर्म करने को बाध्य करते है। सत्व शुभ कर्मो की लालसा से मनुष्य को नचाता है। रजो गुण सांसारिक वस्तुओं की लालसा से मनुष्य को घुमाया करता है और तमो गुण दुष्कर्मो के सम्पादन से मिलने वाले सुख के मिथ्याभास से मनुष्य को अनेक प्रकार से घुमाया करता है। त्रिगुण से अतीत मनुष्य इन गुणों से प्रभावित नहीं होता है, विचलित नहीं होता है। यह त्रिगुणातीत पुरूष की विशेषता है।

(ग) गुण ही गुणों में बरत रहे है : इस जगत में जो कुछ भी हो रहा है वह सबका सब त्रिगुणों के प्रभाव से ही हो रहा है। गुण ही कार्य को क्रियान्वित कर रहे है। मनुष्य कुछ नहीं कर रहा है। जिस किसी गुण का प्रभाव मनुष्य पर प्रबलता से होता है वह उसी गुण के अधीन कार्य करता है इस कारण गुणातीत यह तथ्य जान कर यह मानता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे है।

(घ) चेष्टाविहीन रहता है : प्रत्येक मनुष्य संसार में कुछ न कुछ पाने की चेष्टा करता रहता है। ऐसा कोई पुरूष नहीं है जो कुछ न कुछ पाने की चेष्टा न करता हो। धन, सम्पति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, ज्ञान आदि आदि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की चेष्टाएं ही संसार में होती रहती है। परन्तु त्रिगुणों से अतीत पुरूष चेष्टाविहीन हो जाता है और

कुछ न पाने के सहज व्यवहार को अपना लेता है। चेष्टा विहीन रहने का मुख्य कारण यह है कि त्रिगुणों से अतीत पुरूष सब कुछ प्राप्त कर चुका होता है। जगत की सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु तत्व की उसे अनुभूति हो जाती है।

(ङ) धैर्यता रखता है : सामान्य मनुष्य सांसारिक झंझावातों में फंसकर कभी दुःखी होता है कभी सुखी होता है। उसमे यह परिवर्तन नित्य हुआ करता है। यह सब सहयोग उपार्जित करने में परमात्मा की व्यवस्था ही आधार है। त्रिगुण से अतीत मनुष्य धैर्यवान रहता है। सांसारिक झंझावातों से उसमें किसी प्रकार की कोई उद्विग्नता नहीं प्रकट होती है। उसका धैर्य सदैव एक समान रहता है। यह त्रिगुणों से अतीत मनुष्य का विशेष गुण है।

(च) सुख दुःख में समान रहता है : सुख दुःख क्रम से आते रहते है और कर्म व्यवस्था के अनुसार यह परिवर्तन हुआ करता है। त्रिगुण से अतीत पुरूष सुख में सुखी नहीं होता है। और दुख में दुखी नहीं होता है। वह सुख और दुःख को क संयोग की भांति मानता है जिसका परिवर्तन स्वतः ही हुआ करता है। सुख दुःख को एक समान समझना ही त्रिगुणों से अतीत पुरूष का विशेष लक्षण है।

(छ) स्वरूप में स्थिति : त्रिगुणातीत पुरूष का यह विशिष्ट लक्षण है कि वह निरन्तर ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है। हम सभी प्रकृति में स्थित रहते है। इस कारण हमें प्रकृतिस्थ कहा जाता है। त्रिगुणातीत पुरूष अपने स्वस्वरूप में स्थिति रहता है। इस कारण वह स्वस्थ रहता है। सामान्य तथा त्रिगुणातीत मनुष्य में यह अन्तर रहता है। यह स्थिति व्यवहारिक है। जिसका आभास सामान्य मनुष्य कभी नहीं करता। हम सभी अपने स्वरूप से विमुख हो चुके है। इसलिए स्वस्थ नही रहते।

(ज) समलोष्टाश्मकांचना : त्रिगुण से अतीत मनुष्य के लिए संसार की बहुमूल्य वस्तुएं हीरा, पन्ना, आदि मिट्टी के समान मूल्यहीन रहती है। उसे मूल्य से कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता है। इस कारण वह मिट्टी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े तथा सोने के टुकड़े को एक समान भाव से देखता है और उसमें कदापि प्रभावित नहीं होता है। यह त्रिगुण से अतीत मनुष्य का लक्षण है।

(झ) निन्दा स्तुति में सम रहता है : सामान्य मनुष्य जब अपनी निन्दा सुनता है तो उसे आन्तरिक रूप से बहुत अप्रसन्नता होती है और जब वह अपनी प्रसन्नता सुनता है तो उसे बहुत सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार त्रिगुणों से अतीत मनुष्य सामान्य मनुष्य की तरह

व्यवहार नहीं करता है। उसकी चाहे निन्दा हो अथवा प्रशंसा हो वह निन्दा और प्रशंसा दोनों स्थितियों में सम भाव से स्थित रहता है।

(ञ) शत्रु एवं मित्र में समभाव से रहना : शत्रु के प्रति शत्रु भाव का परित्याग करना तथा मित्र के प्रति किसी भी प्रकार का पक्षपात न करना ही त्रिगुणातीत मनुष्य का लक्षण है। त्रिगुणातीत मनुष्य शत्रु का अहित नहीं चाहता है और मित्र का हित भी नहीं चाहता है। वह अपने शत्रु और मित्र के प्रति एक समान भाव रखता है।

(ट) सर्वारम परित्यागी : सामान्य मनुष्य संसार में अनेक प्रकार के नवीन कर्मो को आरम्भ करने के बारे में विचार करते रहते है। नवीन कर्मो के आरम्भ करने का एक मात्र उद्देश्य जगत में धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि को प्राप्त करना होता है। त्रिगुण से अतीत मनुष्य किसी भी प्रकार के कर्मो का आरम्भ नहीं करता है। क्योंकि उसे प्राप्त करने योग्य कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं होती है। नवीन कर्मो का आरम्भ करना इसी उद्देश्य से होता है कि हम अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कर लें।

(छत्तीस) जीव मन तथा इन्द्रियों को साथ लेकर जाता है :–

जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसकी जीवात्मा मृत शरीर का परित्याग कर देती है। मृत शरीर का जब परित्याग करती है तब वह मन सहित पांचों इन्द्रियों को लेकर अन्य शरीर में जाती है। जीव जब मन तथा इन्द्रियों के साथ वर्तमान शरीर को त्यागता है तो उसे अपने पूर्व शरीर की जैसी स्मृति रहती है। नरकादिक लोकों में जाने पर यह आभास रहता है कि मैं अमुक हूँ। नरक में जब जीव को प्रताड़ित किया जाता है अथवा स्वर्ग में उसे जब सुख प्राप्त होता है तो उसे इसी शरीर की तरह सुख और दुःख की प्रतीती होती है। उसका एक ही कारण है कि ज्ञानेन्द्रिया तथा मन उसके साथ रहते है। यह जीवात्मा मन तथा इन्द्रियों सहित नवीन शरीर को धारण कर लेता है तो उस शरीर में जीव समाहित हो जाता है। और पूर्व की स्मृति विस्मृत हो जाती है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को धारण करती है और पूर्व शरीरों की स्मृति नवीन के धारण करने के उपरान्त नष्ट हो जाती है। इसीक्रम में हमारे आपके हजारों लाखों जन्म बीत चुके है। आगे भी इसीक्रम में चलते रहेंगे।

(सैतीस) परमात्मा के कुछ विशिष्ट गुण :–

सूर्य में विशिष्ट प्रकार का तेज है। जिससे यह सम्पूर्ण जगत प्रकाशित होता है। जगत के प्रकाश की व्यवस्था सूर्य से होती है तथा ताप भी सूर्य से ही प्राप्त होता है। सूर्य

को प्रकाश और ताप देने की शक्ति परमात्मा से प्राप्त होती है। वही स्थिति चन्द्रमा की है। चन्द्रमा में जो तेज है जिससे यह समग्र विश्व प्रकाशित होता है। तथा उसमें जो शीतलता है जिससे समस्त वनस्पतियां पुष्ट होती है। यह जो तेज और वनस्पतियों को पुष्ट करने का गुण है वह परमात्मा के द्वारा ही चन्द्रमा को प्रदान किया गया है। अग्नि में जो तेज है तथा उसमें जो ताप है वो भी परमात्मा के द्वारा अग्नि को प्रदान किया जाता है। पृथ्वी में जो गंध का गुण है तथा जो धारण शक्ति है वह भी परमात्मा के द्वारा प्रदान की गई है। शरीर प्राण अथवा प्रपान वायु है जिससे यह जीवन चलता है। वह भी परमात्मा प्रदत्त है। हमारे शरीर में जो भोजन पकाने की क्षमता है वह भी परमात्मा के द्वारा प्रदान की जाती है। इस प्रकार परमात्मा प्रदत्त विशिष्ट गुण है। जो विभिन्न प्रकार से प्रदान किये जाते है।

परमात्मा समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करता है। इस कारण समस्त प्राणियों की गतिविधि चेष्टा उससे छिपी नहीं रहती है। मनुष्यों के हृदय में भी परमात्मा का वास है। इस कारण उसकी मन और बुद्धि में जो स्मृति रहती है। वह परमात्मा के कारण रहती है। पूर्व कृत कर्मो का ज्ञान तथा वर्तमान घटनाओं का संयम रूपी स्मृति भी परमात्मा के कारण होती है। सम्यक वस्तु स्थिति पदार्थ आदि की संज्ञानता भी परमात्मा के द्वारा ही प्रदान की जाती है। साधकों में अथवा सामान्य लोगों में जो संशय अर्थात् भ्रम उत्पन्न हो जाता है वह भी परमात्मा के कारण होता है। संशय की निवृत्ति का कारण ही परमात्मा है। समस्त वेदों में जो कुछ जानने योग्य है वह भी परमात्मा है। वेदों के तत्व को जानने तथा सम्यक निर्णय करने वाले वाला भी परमात्मा ही है। इस प्रकार जगत में सर्वत्र परमात्मा की सत्ता है तथा उसका ही साम्राज्य प्रतीत होता हैं उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

(अड़तीस) परमात्मा की अनुभूति की पात्रता :–

जब साधक साधना पथ पर चलता है तो उसमें विशेष गुणों का उर्पाजन हो जाता है। यह गुण साधना से साधक में स्वतः ही आ जाते है। इनकी परख भी सामान्य रूप से हो जाती है। प्रत्येक साधक अपने में इन गुणों की परख करके ब्रह्म प्राप्ति की प्रात्रता को देख सकता है। यह गुण निम्न प्रकार है।

(क) विशुद्ध बुद्धि : बुद्धि में सांसारिक प्रपंचों का विनिश्चय जब समाप्त हो जाता है तो वह बुद्धि शुद्ध हो जाती है जब तक नाना प्रकार के सांसारिक प्रपंच रहते है और उनका विनिश्चिय होता रहता है तब तक बुद्धि अशुद्धि रहती है। मन से सांसारिक विषयों का जो चिंतन होता है उसका विनिश्चय ही बुद्धि के द्वारा होता है। बुद्धि के द्वारा जब तक विनिश्चय नहीं होता है तब तक कार्य को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सकता

है। इस कारण जब बुद्धि सांसारिक प्रपंचों का विनिश्चय छोड़कर परमात्मा का ही विनिश्चय करती है तो बुद्धि शुद्ध हो जाती है। यह परमात्मा की अनुभूति की पात्रता है।

(ख) वैराग्य का आश्रय : सांसारिक भोगों के प्रति रूचि का समाप्त हो जाना और घृणा का उपार्जित हो जाना ही वैराग्य कहलाता है जो साधक सांसारिक भोगों की प्रियता को समाप्त कर देता है वह वैराग्य के आश्रित हो जाता है। जब सांसारिक भोगों की ओर संज्ञानता रहती है। तब परमात्मा की ओर साधना की उन्मुखता नहीं हो पाती है। इस कारण ब्रह्म प्राप्ति की पात्रता में वैराग्य का आश्रय भी प्रमुख है।

(ग) विविक्त सेवी : साधना में शान्त स्थान का बड़ा महत्व है। साधारणतः मनुष्य अधिकांश मनुष्यों के साथ रहना चाहता है। जहां चहल पहल रहती है उस स्थान का सेवन करने तथा रहने की प्रवृत्ति सामान्य मनुष्यों में होती है। उत्कृष्ट साधक अधिक मनुष्यों के मध्य नहीं रहना चाहता है। उसकी प्रवृत्ति एकान्त वास में रहने की होती है। जब संसार के कोलाहल से दूर एकान्त में रहने की प्रवृत्ति आ जाती है तो मनुष्य परमात्मा के अनुभूत की पात्रता को प्राप्त कर लेता है।

(घ) लघवाशी : मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसी उसकी प्रकृति हो जाती है। साधक मनुष्य सात्विक भोजन करने का आकांक्षी होता है। क्योंकि उससे सात्विक विचारों का अनायास ही उदय होता है। सात्विक भोजन हो और सीमित मात्रा में हो तो इसे ही लघु वासी कहते है। आर्युर्वेद में भोजन की मात्रा का वर्णन हुआ है। भोजन आधा पेट करना चाहिए और चौथाई भाग जल तथा चौथाई भाग वायु के लिए छोड़ देना चाहिए जिससे भोजन का ठीक ठीक पाचन होता है। जब साधक परिमित मात्रा में सात्विक भोजन ग्रहण करता है तो वह परमात्मा की अनुभूति का पात्र हो जाता है।

(ङ) शरीर वाणी तथा मन को संयमित करने वाला : मन जब संयमित हो जाता है तो वह व्यर्थ चेष्टाओं और अनावश्यक चिंतन को नहीं करता है। ऐसे मन को संयमित मन मानना चाहिए। मन के संयमित हो जाने पर वाणी स्वतः ही संयमित हो जाती है। मन व वाणी के संयमित होते ही मनुष्य के शरीर का संयमन स्वतः हो जाता है। इस कारण मन का संयमन आधारभूत है प्राथमिक है। परमात्मा प्राप्ति की अनुभूति की पात्रता शरीर, वाणी तथा मन के संयमन से होती है।

(च)राग तथा द्वेष का त्याग : सांसारिक विषयों में जो अधिक सुखानुभूति होती है उससे उन्हीं कृत्यों को करने की चेष्टा होती है। सांसारिक भोगों में जो अच्छापन है सुखद

अनुभूति है वह राग नाम से कही जाती है। जब राग में कोई व्यवधान आता है तो द्वेषभाव की उत्पत्ति सहजता से हो जाती है। जब साधक का राग द्वेष से सम्बंध समाप्त हो जाता हे तो वह परमात्मा की अनुभूति का पात्र हो जाता है।

(छ) इन्द्रियों को संयमित करने से : इन्द्रियां सांसारिक विषयों की ओर भागती हैं। यह इन्द्रियों का स्वभाव है। पांच इन्द्रियां और उनके विषय बहुत ही दुष्तर है। कर्मेन्द्रियों का स्वभाव भी भोगों की ओर उन्मुख रहने का है। जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित कर लेता है तब वह परमात्मा की प्राप्ति का पात्र हो जाता है।

(ज) इन्द्रिय विषयों का त्याग कर देता है : शब्द रूप, रस, स्पर्श, गंध ये ज्ञानेन्द्रियों के विषय है। जिनका त्याग करना सहज कार्य नहीं है। इन विषयों से कर्मेन्द्रियों के विषयों का सम्बंध रहता है। इस कारण इन्द्रिय विषयों का त्याग साधक को करना ही पड़ता है। जो साधक इन्द्रिय विषयों का त्याग कर देता है। वह परमात्मा प्राप्ति की योग्यता को विकसित कर देता है।

(झ) अहंकार, बल तथा दर्प से रहित होना : जिससे मनुष्य को अपने सांसारिक अस्तित्व का बोध रहता है उसे अहंकार कहते है जिससे मनुष्य को अपनी शक्ति का आभास रहता है उसे बल कहा जाता है तथा जिससे अपने से सम्पर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों का मिथ्याभिमान रहता है उसे दर्प कहते है। जब साधक अहंकार, बल तथा दर्प से शून्य हो जाता है तो परमात्मा प्राप्ति का पात्र हो जाता है।

(ञ) कामना तथा क्रोध का त्याग : मनुष्य में साधारणतः सांसारिक कामनाएं रहती है। जिससे वह नाना प्रकार के सांसारिक कार्यो में लगा रहता है। कामनाओं में बाधा पड़ने पर क्रोध की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से हो जाती है। कामनाओं का त्याग करना सहज नहीं है। इसी कारण क्रोध का त्याग भी सहजता से नहीं होता है। जब साधक कामना तथा क्रोध से रहित हो जाता है तो वह अपने में परमात्मा प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

(ट) ममता रहित हो जाना : सांसारिक सम्बंध विनाशशील हैं वस्तुओं तथा व्यक्तियों से जब तक सम्बंध रहता है तब तक मनुष्य उनसे सुख लेने का प्रयत्न करता है। यह सुख लेने का प्रयत्न स्नेह के भाव का उपार्जन कर देता है। साधक जब ममता रहित हो जाता है अर्थात् उसकी सांसारिक व्यक्तियों एवं वस्तुओं से आसक्ति नहीं रहती हैं तब ऐसा ममता रहित साधक परमात्मा की अनुभूति का पात्र हो जाता है।

यदि साधक में उपरोक्त गुणों का समावेश हो जाता है तो उसमें परमात्मा प्राप्ति की योग्यता आ जाती है। प्रत्येक साधक को उपरोक्त गुणों को अपने में विकसित करने का प्रयास करना चाहिए तथा इन गुणों की परिपक्वता में साधक को स्वतः ही परमात्मा की अनुभूति होने लगती है।

(उनतालिस) परमात्मा की शरणागति से परम पद की प्राप्ति :–

परम पद की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा की अनुभूति के अनेक उपायों का श्री गीता जी में उल्लेख है। उन सब साधनों से विशिष्ट साधन है एक मात्र परमात्मा की शरण में हो जाना। और परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेना। यह विशेष साधन है जिससे साधक को समझना चाहिए। यह साधन सबसे सहज साधन है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के विचार आते रहते है। अनेक भाव उत्पन्न होते है। कभी वह संसार को जानना चाहता है। कभी संसार को पाना चाहता है। कभी संसार को भोगना चाहता है और कभी उससे निवृत्त होना चाहता है। यह सब पृथक–पृथक प्रकार के भाव है जो मनुष्य संसार को जानना चाहता है वह अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों का अध्ययन करता है। परमात्मा ने संसार में अनेक विषय रचे है। जिन्हें मनुष्य कई जन्मों तक पढ़कर भी सम्पूर्णता से नहीं जान सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य संसार पाना चाहता है उसके लिए संसार में इतनी वस्तुएं है कि वह अनेक जन्मों तक प्रयास करते रहने पर भी सम्पूर्णता से प्राप्त की जा पानी असंभव है। इसके लिए हमें अनेक जन्म लेने पड़ेंगे। इसी प्रकार परमात्मा ने संसार में इतनी भोग वस्तुएं एकत्र कर दी है कि वह सैकड़ों जन्मों तक भोग कर भी सम्पूर्णतः से नहीं भोगी जा सकती है। इस प्रकार संसार को जानने, पाने और भोगने की सीमा नहीं है।

संसार को जानने, पाने, तथा भोगने के भाव पृथक–पृथक है। यह समस्त भाव जब साधक परमात्मा में समाहित कर देता है तो वह संसार से निवृत्त होकर परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। हमें यह भाव उत्पन्न करना पड़ता है कि हमें संसार को नहीं भगवान को जानना है। हमें संसार को नहीं पाना है। वरन् परमात्मा को पाना है और हमें अपने भोग की समस्त इच्छाओं को परमात्मा में समाहित कर देना है। साधक में जो भी भाव आते है वे सब परमात्मा में समाहित कर देने से परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। जब हम अपने भावों को संसार में समर्पित करते है तो हमें संसार की अनुभूति होती है। इस प्रक्रिया में मात्र भावों का समर्पण ही करना है। भावों के समर्पण से क्रिया का परिवर्तन स्वतः ही परमात्मा की ओर हो जाता है। परमात्मा को जानने के भाव और उसे पाने के भाव को ही परमात्मा की शरणागति कहा जाता है जिससे परम पद की प्राप्ति हो जाती हैं।

(चालीस) परमात्मा की निश्चित प्राप्ति के पांच सूत्र :–

हम सभी की उत्पत्ति परमात्मा से ही है, परन्तु उससे उत्पत्ति के बावजूद हम उससे विमुख है। इसका कारण है कि हम संसार के भक्त है। हमने संसार में मन लगा रखा है और हम संसार की प्राप्ति का प्रयास कर रहे है तथा सांसारिक सत्ता को प्रणाम करते है। अपने समस्त कर्मो का हमने संसार में अर्पण कर रखा है। इसी को त्याग कर हम यदि भगवान के प्रति अपने को समर्पित कर दे, उनमें मन लगा दे तो निश्चित ही श्री भगवान की उपलब्धि हमें हो जायेगी। गीता जी के अन्त में श्री भगवान की प्राप्ति के पांच सूत्र वर्णित किये गए है। उनका अवलोकन कीजिए।

(क) भगवान के भक्त हो जाओ :–

हमारा स्नेह भगवान के प्रति हो जाए तथा संसार के स्नेह से निवृत्ति हो जाए तो इसे भगवान की भक्ति कहते है। जैसे हम संसार के व्यक्तियों से स्नेह करते है और इनके स्नेह में ही आवृद्ध होकर नाना प्रकार की क्रियाएं करते है। वैसे ही भगवान से स्नेह करें और क्रियाएं भी उसके लिए करें। हम जिससे स्नेह करते है उससे दूर नहीं जाना चाहते। यदि उसका वियोग होता है तो हम उसके संयोग को व्याकुल हो जाते है। यह सांसारिक स्थिति है। इसी प्रकार जब हम भगवान से स्नेह करते है तो उसके वियोग से व्याकुल रहते है। हम उससे पृथक नहीं होना चाहते है। यही भगवान के प्रति प्रगाढ़ स्नेह भक्ति का स्वरूप है। यह परमात्मा की प्राप्ति का एक निश्चित सूत्र है।

(ख) भगवान में मन को लगा दो :–

पूर्व में भी यह कहा गया है कि हमारा मन संसार में लगा रहता है। संसार में रहकर संसार के बारे में विचार करता है। संसार के विचार को निकाल कर, पूरी तरह से त्याग कर उसी मन से भगवान के बारे में विचार करें। यह हम सरलता पूर्वक कर सकते है। इस तहर हमारा मन संसार में अनायास ही जा रहा है, चल रहा है उसी प्रकार भगवान में मन जाए। क्या संसार में हमें मन लगाना पड़ता है ? नहीं लगाना पडता है। वह स्वतः ही संसार की ओर दौड़ता है। जैसे जब जल का तेज बहाव ढाल की ओर नीचे की ओर तेजी से दौड़ता है। वैसे मन भी संसार में तेजी से दौड़ता है। बिना प्रयास भगता है। हमें मन को ससांर में नहीं भगाना पड़ता। इसी प्रकार मन भगवान में चले। मन की गति भगवान में समाहित हो जाए तो इसे भगवान में मन लगाना कहेंगे। यह भगवान की निश्चित प्राप्ति का दूसरा सूत्र है।

(ग) भगवान को प्रणाम करों :–

सम्मान के भाव के कई प्रकार है। हम संसार में अपने से पूज्य, सामर्थ्यवान, बलवान, ऐश्वर्यवान, ज्ञानवान लोगों को सम्मान देते है। उन्हें प्रणाम करते है। हमारे वैदिक धर्म में प्रणाम करने की परम्परा रही है। संसार में जिस प्रकार हम अपने से पूज्य, सामर्थ्यवान, ऐश्वर्यवान, लोगों को प्रणाम करते है वैसे ही परम पूज्य, सर्वशक्तिमान, परम ऐश्वर्यवान तथा ज्ञानस्वरूप भगवान को प्रणाम करें। उत्कृष्ट साधक जब प्रभु का स्मरण करता है तो उन्हें एक आश्रय के रूप में ही प्रणाम करता है। भगवान को यह प्रणाम करने की क्रिया से भगवान की निश्चित प्राप्ति हो जाती है। यह भी भगवान प्राप्ति का एक साधन है।

(घ) भगवान की उपासना करें :–

भगवान ही उपासना के योग्य है इस कारण उनकी उपासना होनीचाहिए। माता पिता गुरू आचार्य तत्वदर्शी महापुरूष तथा अन्य ज्ञानी पुरूषों की उपासना होती है परन्तु परम पूज्य श्री भगवान की उपासना भी यदि हम करें तो यह उपासना सबसे श्रेष्ठ है। साधक पूज्य जनों की उपासना तथा भगवान की उपासना के अन्तर को जानता है। माता पिता गुरू आचार्य तत्वदर्शी महापुरूषों की उपासना एक समय तक परिस्थिति के अनुसार होती है। परन्तु भगवान की उपासना के लिए समय तथा परिस्थिति की बाध्यता नहीं है वह प्रत्येक काल में होती है। क्योंकि भगवान सर्वकालिक है। वह एक कालिक नहीं है। इस प्रकार जब हम श्री भगवान की उपासना अंतर रहित भाव से सर्वकालिक करते है तो यह भगवान की प्राप्ति का एक मंत्र हो जाता है।

(ङ) समस्त धर्मो को त्याग कर एक मात्र भगवान की शरण ग्रहण कर लेने सेः–

प्रत्येक मनुष्य के अपने क्रियाकलाप होते है। अर्थात् व्यक्ति के क्रियाकलापों में अन्तर रहता है। सात्विक पुरूष के क्रियाकलाप तथा तामसी पुरूष के क्रियाकलाप भिन्न भिन्न प्रकार के होते है। सात्विक, राजसी, तामसी पुरूषों के कार्यो का समर्पण संसार के प्रति होता है। वे संसार में जीते है और सांसारिक क्रियाकलापों में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। प्रमुख तथ्य कार्यो के सर्म्पण का है। इन त्रिगुणों से परे मनुष्यों की क्रियाओं का समर्पण श्री भगवान में होता है। वह जो भी करता है उसकी दृष्टि श्री भगवान में रहती है। वह भगवान में ही चेष्टा करता है, गति करता है, जीता है और अंततः भगवान के प्रति समर्पित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता हैं उसके समग्र धर्म अर्थात् कर्म भगवान को

समर्पित होने से वह पूर्ण रूपेण भगवान की ही एक मात्र शरण ग्रहण कर लेता है। जैसे मछली जल में चेष्टाएं करके प्रसन्न रहती है। वैसे ही समस्त कर्मो को परमात्मा में समर्पित करने से भक्त प्रसन्न रहता है और स्वयं में प्रसन्नता का आनन्द का अनुभव करता है। यह भक्त की विशेष शरणा गति है तथा भगवान की प्राप्ति का पांचवा सूत्र है।

(इकातालिस) गीता ज्ञान के श्रवण से मोह विनाश एवं स्मृति की लब्धता :–

भगवत गीता के श्रवण,ध्ययन से मनुष्य के सांसारिक मोह का विनाश हो जाता है। संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर हम वास्तविक रूप से क्या है ? इसकी स्मृति हो जाती है। संसार के पदार्थ और मनुष्यों के प्रति मोह में हमारा जीवन बीतता है। परन्तु यह सब क्षणिक है। इसका ज्ञान मनुष्य को नहीं होता। यदि होता तो विमोहता की स्थिति रहती। इसी प्रकार मनुष्य जो कुछ है वह ही मानकर चलता है कि हम यह है परन्तु वास्तविकता में वह जो है उसका ज्ञान उसे नहीं होता है। भगवत गीता उसे यह ज्ञान करवा देती है कि जो तुम अपने को समझ रहे हो वह वास्तव में नहीं हो। तुम शुद्ध आत्मा हो इस ज्ञान की स्मृति विस्मृत हो चुकी है। वह सर्वत्र हमें होनी है। जैसे खोई हुई वस्तु हमें मिल जाती है दिख जाती है तो उस वस्तु की पुरानी स्मृति पुनः नवीन हो जाती है। कोई व्यक्ति कभी हमारे सम्पर्क में था वह कई वर्षो के उपरान्त हमें मिल जाता है तो उसे देखते ही उसके सम्बंध की स्मृति हो जाती है। वैसे ही स्वरूप की स्मृति विस्मृत हो गई है और हमें गीता ज्ञान से पुनः प्राप्त हो जाती है। जब हम अपने स्वरूप में स्थित हो जाते है तो मोह का विनाश स्वतः ही हो जाता है। जिसे हम अपना समझते थे वे वस्तुतः अपने नहीं है। मात्र भगवान ही अपने है। उनसे हमारा चिरकाल का सम्बंध है। यह ज्ञान भगवद्गीता के श्रवण तथा अध्ययन से हमें हो जाता है। भगवद् गीता के श्रवण, अध्ययन से मोह विनाश एवं स्मृति स्वतः उपलब्ध होती हैं परन्तु चिंतन मनन से दूसरों के मोह विनाश करने की शक्ति मनुष्य को प्राप्त हो जाती है। ऐसा सिद्ध पुरूष भगवद्गीता ज्ञान के प्रचार प्रसार से असंख्य लोगों को मुक्त कर देता है।

- **आरम्भ 28/04/2012 समापन 05/06/2012**